प्राकृत-भाषा की सूक्तियों के संकलन का क्षेत्र कुछ प्रारम्भिक सामान्य प्रयासों को छोड़कर अभी तक अछूता ही रहा। प्रस्तुत ग्रन्थ उसी अभाव की महत्त्वपूर्ण पूर्ति है। यह उच्चस्तरीय प्रयास है— अपने आप में सर्वप्रथम और आशातीत।

प्राकृत-साहित्य सूक्त-रत्नाकर है। इसमें ऐसे अनेकानेक सूक्त-रत्न विकीर्ण हैं, जिनकी प्रभा प्रस्तुत कोश में सहज दृष्टिगत है। इसमें प्राकृत-निबद्ध प्रसिद्ध कृतियों की आचार-विचार विषयक मार्मिक सूक्तियों का विषय-वर्ण क्रमानुसार प्रस्तुतिकरण हुआ है। इसमें मूल प्राकृत, हिन्दी अनुवाद, मूल ग्रन्थ का नाम एवं ग्रन्थ की गाथा-संख्या देते हुए क्रमबद्ध संग्रह-कोश तैयार किया गया है। अतः प्रस्तुत ग्रन्थ न केवल सूक्ति-कोश है, अपितु सन्दर्भ-कोश भी बन गया है। सूक्ति-कोश के रूप में यह ग्रन्थ जनसाधारण के लिए लाभदायक है और सन्दर्भ-कोश के रूप में शोधकर्त्ताओं/लेखकों के लिए।

प्राकृत-सूक्ति-कोश

[PRAKRIT-SUKTI-KOSHA]

प्राकृत-सूक्ति-कोश

मुनि चन्द्रप्रभसागर

जयश्री प्रकाशन, कलकत्ता

प्रेरणा :
शासन-प्रभावक मुनिराज
श्री महिमाप्रभसागरजी म०

संयोजन-सहयोग :
मुनि श्री ललितप्रभसागर

मुद्रण-शोधन-सहयोग :
श्री भँवरलाल नाहटा

प्रकाशन :
जयश्री प्रकाशन
२२ए, बुध ओस्तागर लेन,
कलकत्ता-६

वितरण :
भारतीय विद्या प्रकाशन,
जवाहर नगर, बंगलो रोड,
दिल्ली-७

प्रकाश,
६सी, एस्प्लानेड रो (ईस्ट)
कलकत्ता-६९

मुद्रण :
भागचन्द सुराना
सुराना प्रिन्टिंग वर्क्स
फूलकटरा, कलकत्ता-७

प्रकाशन-वर्ष : दिसम्बर, १९८५

मूल्य : २५ रुपये

प्राकृत-सूक्ति-कोश

मुनि चन्द्रप्रभसागर

प्रकाशन-प्रस्तुति

महोपाध्याय मुनि श्री चन्द्रप्रभसागरजी सम्पादित 'प्राकृत-सूक्ति-कोश' नामक मानक ग्रन्थ प्रकाशित करते हुए हमें अतीव प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

वस्तुतः मुनि श्री चन्द्रप्रभसागरजी न केवल एक सन्त हैं, अपितु वे एक प्रतिष्ठित कवि, विचारक, साहित्यकार, लेखक और व्याख्याता भी हैं। आयु से वे युवा हैं, परन्तु कार्य में प्रौढ़। उनका साहित्य उनकी गहन श्रुत-साधना तथा तपःसाधना का मधुर फल है। भाव, विचार, भाषा-शैली एवं अभिव्यंजना सब कुछ श्रेष्ठ है उनका।

प्रस्तुत ग्रन्थ भी मुनिश्री के व्यक्तित्व पर अच्छा प्रकाश डालता है। उनका यह ग्रन्थ उनकी कठोर श्रुत-साधना का यथार्थ परिचय है। मुनिश्री ने प्रस्तुत ग्रन्थ अथक् श्रम एवं आत्मनिष्ठा के साथ संकलित/सम्पादित किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में उन छोटी-छोटी प्राकृत-सूक्तियों का संकलन किया गया है, जिनमें भारतीय तत्त्व-चिन्तन एवं नैतिक जीवन-दर्शन की अनन्त ज्ञान-ज्योति समाहित है। यह ठीक वैसे ही है जैसे नन्हें-नन्हें गुलाब-पुष्पों में उद्यान-कानन का सौरभमय वैभव निहित रहता है।

प्राकृत-भाषा की सूक्तियों के संकलन का क्षेत्र कुछ प्रारम्भिक सामान्य प्रयासों को छोड़कर अभी तक अछूता ही रहा। प्रस्तुत ग्रन्थ उस अभाव की महत्त्वपूर्ण पूर्ति है। यह उच्च-स्तरीय प्रयास है—अपने आप में सर्वप्रथम और आशातीत।

हम श्रद्धेय मुनिश्री के प्रति कृतज्ञ हैं, जिनके अमूल्य संग्रह/संदर्भ कोश को प्रकाशित करने का हमें अवसर संप्राप्त हुआ। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन-काल में हमें अन्य अनेक सज्जनों का सहयोग प्राप्त हुआ है, जिनका सहयोग साभार उल्लेखनीय है।

सर्वप्रथम हम महान् प्रतिभा के धनी एवं साहित्य-रसिक आदरणीय सन्त मुनिराज श्री महिमाप्रभसागर जी महाराज के प्रति श्रद्धावनत हैं, जिनकी महती प्रेरणा से हमें यथाशक्य आर्थिक सौजन्य प्राप्त हुआ अथवा यों समझिये कि प्रस्तुत ग्रन्थ की शताधिक प्रतियाँ अग्रिम रूप से क्रय की गईं। ग्रन्थ के संयोजन में सिद्धान्त-प्रभाकर मुनि श्रीललितप्रभसागरजी महाराज का एवं प्रूफ-संशोधन में विद्वद्वर्य श्रीमान् भँवरलालजी नाहटा का विशेष सहयोग एवं सहकार मिला है, एतदर्थ ये सभी हमारे धन्यवाद के पात्र हैं। सभी सहयोगी महानुभावों को हम हार्दिक प्रसन्नता भेंट करते हैं।

प्रस्तुत है शिक्षा-सम्बन्धी राष्ट्रीय नीति-संकल्प के अनुपालन के रूप में आपके कर-कमलों में 'प्राकृत-सूक्ति-कोश', जिसकी आपको सुदीर्घ काल से प्रतीक्षा थी।

सौहार्द्र, सौजन्य एवं आदर्श

की

प्रतिमूर्ति

परम सारस्वत

आचार्य श्री जिनकान्तिसागरसूरि

को

सादर सविनय



प० पू० शासन - प्रभावक मुनिराज

श्री महिमाप्रभसागर जी म० सा०

स्वकथ्य

'सूक्तं शोभनोक्ति विशिष्टम्' अर्थात् विशिष्ट रूप में सुशोभन कथन ही सूक्ति है, जिसमें किसी सामान्य सत्य की सारगर्भित अभिव्यक्ति होती है। सूक्तियों का महत्त्व सार्वकालिक एवं सार्वभौमिक रहा है। सूक्तियों के श्रवण या पठन से मात्र मन ही आलोकित नहीं होता, अपितु मस्तिष्क भी आलोकित होता है। अतः इसका सम्बन्ध मन और बुद्धि दोनों से है।

सूक्तियाँ काव्य का महत्त्वपूर्ण अंग है। कभी-कभी तो अर्थ-गौरव-पूर्ण एक सूक्ति सम्पूर्ण काव्य को मूल्यवान् बना देती है और कभी-कभी वह स्वयं सैकड़ों ग्रन्थों की अपेक्षाकृत अधिक मूल्यवान् हो जाती है। प्रस्तुत ग्रन्थ प्राकृत-सूक्तियों का कोश है।

आज प्राकृत-साहित्य के पुनरुद्धार की अपरिहार्यता है। एक युग था जब प्राकृतभाषा लोकभाषा थी, सम्प्रति वही भाषा विद्वानों की भाषा हो गई है। इस भाषा के अध्येता एवं अध्यापक दोनों ही दुर्लभ होते जा रहे हैं। प्राकृत-साहित्य अति समृद्ध है। इसे समृद्ध करने का श्रेय मुख्यतः जैन-परम्परा को है। भगवान् महावीर का धर्म इसी भाषा के माध्यम से जनसाधारण का धर्म बना था। इसीलिए प्राकृत-साहित्य में अधिकांशतः जिनवाणी ही मुखरित है।

प्राकृत-साहित्य सूक्त-रत्नाकर है। इसमें ऐसे अनेकानेक सूक्त-रत्न विकीर्ण हैं, जिनकी प्रभा प्रस्तुत कोश में सहज दृष्टिगत है। इसमें प्राकृत-निबद्ध प्रसिद्ध कृतियों की आचार-विचार विषयक मार्मिक

सूक्तियों का विषय-वर्ण क्रमानुसार प्रस्तुतिकरण हुआ है। इसमें मूल प्राकृत, हिन्दी-अनुवाद, मूल ग्रन्थ का नाम एवं ग्रन्थ की गाथा-संख्या देते हुए क्रमबद्ध संग्रह-कोश तैयार किया गया है। अतः प्रस्तुत ग्रन्थ न केवल सूक्ति-कोश है, अपितु सन्दर्भ-कोश भी बन गया है। सूक्ति-कोश के रूप में यह ग्रन्थ जनसाधारण के लिए लाभदायक है और सन्दर्भ-कोश के रूप में शोधकर्त्ताओं, लेखकों आदि के लिए। संक्षेप में, यह कोश जो मैं आज जनसाधारण के सम्मुख प्रस्तुत कर रहा हूँ, सबकी चिर-प्रतीक्षित आवश्यकता को पूरा करेगा, ऐसा विश्वास है।

अन्त में—

यदत्र सौष्ठवं किञ्चित्तद्गुर्वोरेव मे न हि।
यदत्रासौष्ठवं किञ्चित्तन्ममैव तयोर्न हि॥

—इन शब्दों के साथ यह कोश सुधी पाठकों के हाथों में समर्पित है।

१ दिसम्बर' १९८५
९ सी, एस्प्लानेड रो (ईस्ट)
कलकत्ता-६९

—चन्द्रप्रभसागर

विषयानुक्रम

प्राकृत-सूक्ति-कोश

पाइयकव्वस्स नमो पाइयकव्वं च निम्मियं जेण।
ताहं चिय पणमामो पढिऊण य जे वि याणंति॥

प्राकृत-काव्य को नमस्कार है, जिन्होंने प्राकृत-काव्य की रचना की है, उन्हें नमस्कार है। जो पढ़कर उन्हें जान लेते हैं, उन्हें भी हम प्रणाम करते हैं।

—वज्जालग्ग (३/१२)

अ

अचौर्य

दंत सोहणमाइस्स, अदत्तस्स विवज्जणं ।

अस्तेय-व्रत का साधक किसी की आज्ञा के बिना, और तो क्या, अपने दांत की स्वच्छता हेतु एक तिनका भी नहीं लेता ।

—उत्तराध्ययन (१६/२८)

लोभाविले आययई अदत्तं ।

जब आत्मा लोभ से कलुषित होता है, तब चोरी करने के लिए उद्यत होता है ।

—उत्तराध्ययन (३२/२६)

अदत्तादाणं···अकित्तिकरणं, अणज्जं···सया साहुगरहणिज्जं ।

चौर्य-कर्म अपयश करनेवाला अनार्य-कर्म है । यह सभी भले व्यक्तियों द्वारा सदा निंदनीय है ।

—प्रश्नव्याकरणसूत्र (१/३)

परदव्वादो दुग्गई सद्दव्वादो हु सुग्गई हवइ ।
इय णाऊणसदव्वे कुणहरई विरइ इयरम्मि ॥

परद्रव्य से दुर्गति होती है और स्वद्रव्य से सुगति होती है, ऐसा जान कर तू स्वद्रव्य में रति कर और परद्रव्य से विरक्ति ।

—मोक्ष-पाहुड़ (१६)

परदव्वहरणमेदं आसवदारं खु वेंति पावस्स ।
सोगरियवाहपरदारयेहिं चोरो हु पापदरो ॥

परद्रव्य हरण करना पाप-आगमन का द्वार है । सूअर का घात करनेवाले, मृगादिकों को पकड़नेवालें तथा परस्त्री गमन करनेवाले से भी चोर अधिक पापी गिना जाता है ।

—भगवती आराधना (८६५/६८४)

चित्तमंतमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहुं।
दंतसोहणमित्तं पि, उग्गहं सि अजाइया॥
तं अप्पणा न गिण्हंति, नो वि गिण्हावए परं।
अन्नं वा गिण्हमाणं पि, नाणुजाणंति संजया॥

चेतन-सहित हो अथवा चेतन-रहित, कोई भी वस्तु, कम हो या ज्यादा, यहाँ तक कि एक सींक तक भी पूर्ण संयमी साधक उसके स्वामी गृहस्थ की अनुमति के बिना न तो स्वयं ग्रहण करते हैं, न दूसरों को ग्रहण कराने के लिए प्रयत्न करते हैं और न ही ग्रहण करनेवाले का अनुमोदन ही करते हैं।

—दशवैकालिक (६/१३,१४)

तिव्वं तसे पाणिणो थावरे य, जे हिंसति आयसुहं पडुच्च।
जे लूसए होइ अदत्तहारी, ण सिक्खई सेयवियस्स किंचि॥

जो मनुष्य व्यक्तिगत सुख के लिए त्रस अथवा स्थावर जीवों का क्रूरभाव से घात करते हैं, जो हिंसक और चोर बनते हैं, वे जिन व्रतों को आदरणीय मानते हैं, उनका पालन किंचित् भी नहीं कर सकते।

—सूत्रकृताङ्ग (१/५/१/४)

अदिन्नमन्नेसु य नो गहेज्जा।

संयमी साधक बिना दी हुई दूसरों की वस्तु को ग्रहण न करे।

—सूत्रकृताङ्ग (१/१०/२)

जो बहुमुल्लं वत्थुं अप्पयमुल्लेण णेव गिण्हेदि।
वीसरियं पि ण गिण्हदि लाहे थोवे वि तूसेदि॥
जो परदव्वं ण हरदि मायालोहेण कोहमाणेण।
दिढचित्तो सुद्धमई अणुव्वई सो हवे तिदिओ॥

जो व्यक्ति बहुमूल्य वस्तु को अल्प-मूल्य में नही लेता, दूसरे की भूली हुई वस्तु को भी नहीं उठाता और अल्पलाभ से भी सन्तुष्ट रहता है तथा कपट, लोभ, माया एवं क्रोध से पराये द्रव्य का हरण नहीं करता वह शुद्धमति दृढ़-निश्चयी अचौर्य-अणुव्रती है।

—कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा (३३५-३३६)

भक्खणे देव-दव्वस्स, परत्थी-गमणेण य।
सत्तमं नरइयं इंति, सत्तवाराओ गोयमा॥

हे गौतम! देव-द्रव्य के हड़पने से और परस्त्री के साथ मैथुन करने से सातवें नरक में सात बार जाना पड़ता है।

—कामघट-कथानक (१२४)

वज्जिज्जा तेनाहडतक्कर जोगं विरुद्धं रज्जं च।
कूडतुल-कूडमाणं, तप्पडिरूवं च ववहारं॥

चोरी का माल लेना, तस्करी करना, राज्य-आज्ञा का उल्लंघन करना, नाप-तौल की गड़बड़ तथा मिलावट—ये सब चोरी के तुल्य हैं।

—सावयपण्णत्ति (२६८)

गामे वा णयरे वा, रण्णे वा पेच्छिऊण परमत्थं।
जो मुंचदि गहणभावं, तिदियवदं होदि तस्सेव॥

ग्राम में, नगर में या वन में परायी वस्तु को दृष्टिगत कर जो मन में उसके ग्रहण करने का भाव नहीं लाता है, उसके तृतीय अस्तेय महाव्रत होता है।

—नियमसार (५८)

अजीव

सुहदुक्खजाणणा वा, हिदपरियम्मं च अहिदभीरुत्तं।
जस्स ण विज्जदि णिच्चं, तं समणा विंति अज्जीवं॥

श्रमण-जन उसे अजीव कहते हैं जिसे सुख-दुःखका ज्ञान नहीं होता, हित के प्रति उद्यम और अहित का भय नहीं होता।

—पंचास्तिकाय (१२५)

अज्ञान

एवं तक्काइ सहिता, धम्माधम्मे अकोविया।
दुक्खं ते नाइतुट्टंति, सउणी पंजर जहा॥

चित्तमंतमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहुं।
दंतसोहणमित्तं पि, उग्गहं सि अजाइया॥
तं अप्पणा न गिण्हंति, नो वि गिण्हावए परं।
अन्नं वा गिण्हमाणं पि, नाणुजाणंति संजया॥

चेतन-सहित हो अथवा चेतन-रहित, कोई भी वस्तु, कम हो या ज्यादा, यहाँ तक कि एक सीक तक भी पूर्ण संयमी साधक उसके स्वामी गृहस्थ की अनुमति के बिना न तो स्वयं ग्रहण करते हैं, न दूसरो को ग्रहण कराने के लिए प्रयत्न करते हैं और न ही ग्रहण करनेवाले का अनुमोदन ही करते हैं।

—दशवैकालिक (६/१३,१४)

तिव्वं तसे पाणिणो थावरे य, जे हिंसति आयसुहं पडुच्च।
जे लूसए होइ अदत्तहारी, ण सिक्खई सेयवियस्स किंचि॥

जो मनुष्य व्यक्तिगत सुख के लिए त्रस अथवा स्थावर जीवो का क्रूरभाव से घात करते हैं, जो हिंसक और चोर बनते हैं, वे जिन व्रतो को आदरणीय मानते हैं, उनका पालन किंचित् भी नहीं कर सकते।

—सूत्रकृताङ्ग (१/५/१/४)

अदिन्नमन्नेसु य नो गहेज्जा।

संयमी साधक बिना दी हुई दूसरो की वस्तु को ग्रहण न करे।

—सूत्रकृताङ्ग (१/१०/२)

जो बहुमुल्लं वत्थुं अप्पयमुल्लेण णेव गिण्हेदि।
वीसरियं पि ण गिण्हदि लाहे थोवे वि तूसेदि॥
जो परदव्वं ण हरदि मायालोहेण कोहमाणेण।
दिढचित्तो सुद्धमई अणुव्वई सो हवे तिदिओ॥

जो व्यक्ति बहुमूल्य वस्तु को अल्प-मूल्य में नही लेता, दूसरे की भूली हुई वस्तु को भी नही उठाता और अल्पलाभ से भी सन्तुष्ट रहता है तथा कपट, लोभ, माया एवं क्रोध से पराये द्रव्य का हरण नही करता वह शुद्धमति दृढ़-निश्चयी अचौर्य-अणुव्रती है।

—कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा (३३५-३३६)

भक्खणे देव-दव्वस्स, परत्थी-गमणेण य।
सत्तमं नरइयं इंति, सत्तवाराओ गोयमा॥

हे गौतम! देव-द्रव्य के हड़पने से और परस्त्री के साथ मैथुन करने से सातवें नरक में सात बार जाना पड़ता है।

—कामघट-कथानक (१२४)

वज्जिज्जा तेनाहडतक्कर जोगं विरुद्धं रज्जं च।
कूडतुल-कूडमाणं, तप्पडिरूवं च ववहारं॥

चोरी का माल लेना, तस्करी करना, राज्य-आज्ञा का उल्लंघन करना, नाप-तौल की गड़बड़ तथा मिलावट—ये सब चोरी के तुल्य हैं।

—सावयपण्णत्ति (२६८)

गामे वा णयरे वा, रण्णे वा पेच्छिऊण परमत्थं।
जो मुंचदि गहणभावं, तिदियवदं होदि तस्सेव॥

ग्राम में, नगर में या वन में परायी वस्तु को दृष्टिगत कर जो मन में उसके ग्रहण करने का भाव नहीं लाता है, उसके तृतीय अस्तेय महाव्रत होता है।

—नियमसार (५८)

अजीव

सुहदुक्खजाणणा वा, हिदपरियम्मं च अहिदभीरुत्तं।
जस्स ण विज्जदि णिच्चं, तं समणा विंति अज्जीवं॥

श्रमण-जन उसे अजीव कहते हैं जिसे सुख-दुःखका ज्ञान नहीं होता, हित के प्रति उद्यम और अहित का भय नहीं होता।

—पंचास्तिकाय (१२५)

अज्ञान

एवं तक्काइ सहिता, धम्माधम्मे अकोविया।
दुक्खं ते नाइतुट्टंति, सउणी पंजरं जहा॥

जो धर्म तथा अधर्म से सर्वथा अनजान मनुष्य केवल कल्पित तर्कों के आधार पर ही अपने मन्तव्य का प्रतिपादन करते हैं, वे अपने कर्म-बंधन को तोड़ नहीं सकते, जैसे पक्षी पिंजरे को नहीं तोड़ पाता है।

—सूत्रकृताङ्ग (१/१/२/२२)

अण्णाणं परमं दुक्खं, अण्णाणा जायते भयं।
अण्णाणमूलो संसारो, विविहो सव्वदेहिणं॥

अज्ञान महादुःख है। अज्ञान से भय उत्पन्न होता है। सब जीवों के संसार-परिभ्रमण का मूल कारण अज्ञान ही है।

—इसिभासियाइं (२१/१)

भावे णाणावरणातिणि पंको।

ज्ञानावरण अर्थात् अज्ञान आभ्यन्तर-कीचड़ है।

—निशीथ-चूर्णि-भाष्य (७०)

नाणंपि हु मिच्छादिट्ठिस्स अण्णाणं।

मिथ्यादृष्टि का ज्ञान भी अज्ञान ही है।

—विशेषावश्यक-भाष्य (५२०)

अण्णाणमया भावा अण्णाणो चेव जायए भावो।

अज्ञानमय भाव से अज्ञानमय भाव ही उत्पन्न होता है।

—समयसार (१२९)

अज्ञानी

अन्नाणी किं काही, किं वा नाही सेयपावगं।

अज्ञानी आत्मा क्या करेगा? वह पुण्य और पाप को कैसे जान पायेगा?

—दशवैकालिक (४/१०)

जीवाजीवे अयाणंतो, कहं सो नाहीइ संजमं?…
जीवाजीवे वियाणंतो, सो हु नाहीइ संजमं॥

जो न जीव को जानता है और न अजीव को, वह संयम को कैसे जान

पायेगा ? जो आत्मा और अनात्मा का अच्छी तरह ज्ञान प्राप्त कर लेता है, वही संयम-पथ पर गति कर सकता है।

—दशवैकालिक (४/१२-१३)

अण्णाणमयो जीवो कम्माणं कारगो होदि।

अज्ञानी जीव ही कर्मों का कर्त्ता होता है।

—समयसार (६२)

अलं बालस्स संगेणं।

अज्ञानी जीव का संग नहीं करना चाहिये।

—आचारांग (१/२/५)

अंधो अंधं पहं णिंतो, दूरमद्धाणुगच्छइ।

जब अन्धा अन्धे का मार्गदर्शक बनता है, तो वह अभीष्ट पथ से दूर भटक जाता है।

—सूत्रकृताङ्ग (१/१/२/१९)

जहा अस्साविणिं णावं, जाइ अंधो दुरुहिया।
इच्छइ पारमागंतुं, अंतरा य विसीयई॥

अज्ञानी साधक उस जन्मांध मानव के समान है, जो छिद्रवाली नौका पर आरूढ़ होकर नदी के तट पर पहुँचना चाहता है; किन्तु किनारा आने से पूर्व ही मध्य-प्रवाह में डूब जाता है।

—सूत्रकृताङ्ग (१/१/२/३१)

बाले पापेहिं मिज्जती।

अज्ञानी पाप करके भी उस पर अभिमान करता है।

—सूत्रकृताङ्ग (१/२/२/२१)

जे केइ बाला इह जीवियट्ठी, पावाइं कम्माइं करेन्ति रुद्दा।
ते घोररूवे तमसिन्धयारे, तिव्वाभितावे नरगे पडन्ति॥

जो अज्ञानी मनुष्य अपने सामान्य जीवन के लिए निर्दय होकर पाप-कर्म करते हैं, वे महाभयंकर, प्रगाढ़ अन्धकार से आवृत्त एवं तीव्र तापवाले तमिस्र-नरक में जन्म लेते हैं।

—सूत्रकृताङ्ग (१/५/१/३)

न कम्मुणा कम्म खवेन्ति बाला।

अज्ञानी कितना ही प्रयत्न करे, किन्तु पाप-कर्मों से पाप-कर्मों को कभी भी नष्ट नहीं किया जा सकता।

—सूत्रकृताङ्ग (१/१२/१५)

तवेण वाऽहं सहिउ त्ति मत्ता। अण्णं जणं पस्सति बिंबभूयं॥

जो भिक्षु यह गर्व करता है कि 'मैं ही अकेला तपस्वी हूँ, अन्य सभी लोग खेत में खड़ी घास के ढाँचे मात्र हैं,' वह मूर्ख है, मूढ़ है।

—सूत्रकृताङ्ग (१/१३/११)

अगीअत्थस्स वयणेणं अमयंपि न घुंटए।

अगीतार्थ के कथन पर पीयूष का भी पान नहीं करना चाहिए।

—गच्छाचार (४६)

कण कुंडगं चइत्ताणं, विट्ठं भुंजइ सूयरे।
एवं सीलं चइत्ताणं दुस्सीले रमई मिए॥

जैसे चावलों का स्वादिष्ट आहार छोड़कर सूअर विष्ठा खाता है, वैसे ही पशुवत् जीवन व्यतीत करनेवाला अज्ञानी शील को परित्यागकर दुःशील को पसन्द करता है।

—उत्तराध्ययन (१/५)

बालं सम्मइ सासंतो, गलियस्सं व वाहए॥

जड़मूढ़ शिष्यों को शिक्षा देता हुआ ज्ञानी गुरु उसी प्रकार खिन्न होता है, जिस प्रकार अड़ियल या मरियल घोड़े पर चढ़ा हुआ घुड़सवार।

—उत्तराध्ययन (१/३७)

लुप्पन्ति बहुसो मूढ़ा, संसारम्मि अणंतए।

मूढ़ प्राणी अनन्त संसार में अनन्त बार जन्म और मृत्यु का ग्रास बनते हैं।

—उत्तराध्ययन (६/१)

आसुरीयं दिसं बाला, गच्छंति अवसा तमं।

अज्ञानी व्यक्ति विवश हुए अंधकाराच्छन्न आसुरी गति को प्राप्त होते हैं।

—उत्तराध्ययन (७/१६)

तुलियाण वालभावं अवालं चेव पंडिए।
चइऊण वालभावं, अवालं सेवई मुणी॥

विवेकी मुनि को, वालभाव अर्थात् अज्ञान एवं अवालभाव अर्थात् ज्ञान दोनों का तुलनात्मक चिन्तन कर वाल-भाव को सम्पूर्ण त्याग देना चाहिए और अबालभाव को स्वीकार करना चाहिये।

—उत्तराध्ययन (७/३०)

भोगामिसदोसविसन्ने, हियनिस्सेयसवुद्धि वोच्चत्थे।
बाले य मन्दिए मूढे, वज्झइ मच्छिया व खेलम्मि॥

काम-भोगो में आसक्त एवं अपने हित तथा निःश्रेयस् की बुद्धि का त्याग करनेवाले अज्ञानी मानव विषय-भोग में वैसे ही चिपके रहते हैं, जैसे श्लेष्म (कफ) में मक्खी।

—उत्तराध्ययन (८/५)

जया य चयइ धम्मं, अणज्जो भोगकारणा।
से तत्थ मुच्छिए वाले, आयइं नावबुज्झई॥

जो अज्ञानी भोगों में मूर्च्छित हो उन के लिए धर्म को त्याग देता है, वह बोध को प्राप्त नहीं होता है।

—दशवैकालिक-चूलिका (१/१)

अण्णाणी पुणरत्तो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दममज्झे जहा लोहं॥

जो अज्ञानी सभी द्रव्यों में आसक्त है, वह कर्मों के मध्य रहा हुआ कर्म-रज से वैसे ही लिप्त होता है, जैसे कीचड़ में पड़ा हुआ लोहा जंग से लिप्त हो जाता है।

—समयसार (२१९)

हा! जह मोहियमइणा, सुग्गइमग्गं अजाणमाणेणं।
भीमे भवकंतारे, सुचिरं भमियं भयकरम्मि॥

हा! खेद है कि सुगति का मार्ग न जानने के कारण मैं मूढ़गति भयानक और घोर संसार रूपी अटवी में चिरकाल तक भ्रमण करता रहा।

—मरण समाधि (५९०)

तओ दुस्सन्नप्पा-दुट्ठे, मूढ़े वुग्गाहिते।

दुष्ट, मूर्ख और भ्रमित व्यक्ति को प्रतिबोध देना दुष्कर है।

—स्थानांग (३/४)

जावन्तऽविज्जापुरिसा, सव्वे ते दुक्ख संभवा।
लुप्पन्ति वहुसो मूढ़ा, संसारम्मि अणंतए॥

सभी अविद्यावान् दुःखी होते हैं—वे मूढ़ अनंत संसार में वार-वार लुप्त होते हैं अर्थात् जन्म-मरण करते रहते हैं।

—उत्तराध्ययन (६/१)

अद्वेष

वैराइं कुव्वइ वेरी, तओ वेरेहिं रज्जइ।
पावोवगा य आरंभा, दुक्खफासा य अन्तसो॥

वैर रखनेवाला द्वेषी मनुष्य सदैव वैर ही किया करता है और वह वैर में ही आनन्दित होता है। परन्तु यह प्रवृत्ति पापकारक एवं अहितकर है और अन्त में दुःख प्रदान करनेवाली है।

—सूत्रकृताङ्ग (१/८/७)

न विरुज्झेज्ज केण वि।

किसी के भी साथ वैर-विरोध नहीं करना चाहिये।

—सूत्रकृताङ्ग (१/११/१२)

भूएहिं न विरुज्झेज्जा।

किसी भी जीव के साथ वैर-विरोध न बढ़ाएँ।

—सूत्रकृताङ्ग (१/१५/४)

वेराणुवद्धा नरयं उवेंति।

वैर में आवद्ध जीव नरक को प्राप्त करते हैं।

—उत्तराध्ययन (४/२)

एमेव रूवम्मि गओ पओसं, उवेइ दुक्खोपरंपराओ।

जो रूपों के प्रति द्वेष रखता है, वह भविष्य में दुःख-परम्परा का भागी होता है।

—उत्तराध्ययन (३२/३३)

अधर्म

जा जा वच्चई रयणी, न सा पडिनियत्तई।
अहम्मं कुणमाणस्स, अफला जन्ति राइओ॥

जो-जो रात बीत रही है, वह लौटकर नहीं आती। अधर्म करनेवालों की रात्रियाँ निष्फल चली जाती हैं।

—उत्तराध्ययन (१४/२४)

छणवंचणेण वरिसो, नासइ दिवसो कुभोयणे भुत्ते।
कुकलत्तेण य जम्मो, नासइ धम्मो अहम्मेण॥

उत्सव न करने से वर्ष नष्ट हो जाता है और कुभोजन से दिन तथा दुष्ट स्त्री से जन्म नष्ट हो जाता है और अधर्म से धर्म।

—वज्जालग्ग (८/६)

बालस्स पस्स बालत्तं, अहम्मं पडिवज्जिया।
चिच्चा धम्मं अहम्मिट्ठे, नरए उववज्जई॥

जो मूर्ख मनुष्य अधर्म को ग्रहण कर, धर्म को छोड़, अधर्मिष्ठ बनता है, वह नरक में उत्पन्न होता है।

—उत्तराध्ययन (७/२८)

जे संखया तुच्छ परप्पवाई,
ते पिज्ज दोसाणुगया परज्झा।
एए अहम्मे त्ति दुगुंछमाणे॥

जो व्यक्ति संस्कारहीन हैं, तुच्छ हैं, परप्रवादी हैं, राग और द्वेष में फँसे हुए हैं, वासनाओं के दास हैं, वे धर्मरहित हैं, अधर्मी हैं। उनसे हमेशा दूर रहना चाहिये।

—उत्तराध्ययन (४/१३)

अध्यात्म

जहा कुम्मे सअंगाई, सए देहे समाहरे।
एवं पावाइं मेहावी, अज्झप्पेण समाहरे॥

जैसे कछुआ अपने अंगों को अपने शरीर में समेट लेता है, वैसे ही मेधावी पुरुष पापों को अध्यात्म के द्वारा समेट लेता है।

—सूत्रकृताङ्ग (१/८/१/१६)

अनाग्रह

सयं सयं पसंसंता, गरहतां परं वयं।
जे उ तत्थ विउस्सन्ति, संसारं ते विउस्सिया॥

जो अपने मत की प्रशंसा और दूसरों के मत की निन्दा करने में ही अपना पाण्डित्य दिखाते हैं तथा तथ्य का अर्थात् सत्य का विलोपन करते हैं, वे एकान्तवादी स्वयं ही विश्व-चक्र में भटकते रहते हैं।

—सूत्रकृताङ्ग (१/१/२/२३)

णोच्छायए णो वि य लूसएज्जा, माणं ण सेवेज्ज पगासणंच।
ण यावि पन्ने परिहास कुज्जा, ण यासियावाय वियागरेज्जा॥

अनाग्रही पुरुष न तो सूत्र के अर्थ को छिपाता है, और न स्व-पक्ष पोषणार्थ उसका अन्यथा कथन करता है। वह अन्य के गुणों को न तो छिपाता है और न ही अपने गुणों का गर्व करके अपनी महत्ता का बखान करता है। स्वयं को प्रज्ञावन्त जानकर वह अन्य का उपहास नहीं करता और न ही अपना गौरव जताने के लिए किसी को आशीर्वाद देता है।

— सूत्रकृताङ्ग (१४/१६)

सव्वेवि होंति सुद्धा,
नत्थि असुद्धो नयो उ सट्ठाणे।

सभी नय अपने-अपने स्थान पर शुद्ध हैं, कोई भी नय अपने स्थान पर अशुद्ध नहीं है।

—व्यवहारभाष्यपीठिका (४७)

अनासक्ति

वंतं इच्छसि आवेउं, सेयं ते मरणं भवे।

वमित अर्थात् परित्यक्त विषयों की पुनः भोगेच्छा से तो मरना श्रेयस्कर है।

—दशवैकालिक (२/७)

असंसत्तं पलोइज्जा।

ललचाई हुई दृष्टि से किसी भी चीज को न देखें।

—दशवैकालिक (५/१/२३)

अवि अप्पणो वि देहम्मि, नाऽऽयरन्ति ममाइयं।

जो साधक शरीर तक में ममत्व नहीं रखते, वे अन्य क्षुद्र साधन-सामग्री में क्या ममत्व रख सकते हैं?

—दशवैकालिक (६/२१)

कन्न सोक्खेहिं सद्देहिं, पेमं नाभिवेसए।

तथ्यहीन शब्दों में अनुरक्ति नहीं रखनी चाहिये, चाहे वे कानों के लिए सुखकर हों।

—दशवैकालिक (८/२६)

वोच्छिन्द सिणेहमप्पणो,
कुमुयं सारइयं व पाणियं
से सव्व सिणेह वज्जिए।

जैसे कमल शरत्-काल के निर्मल जल को स्पर्श नहीं करता, अलिप्त रहता है वैसे ही साधक को भी जगत् से अपनी समस्त आसक्तियाँ मिटाकर, सर्व प्रकार के स्नेहासक्त-बंधनों से दूर हो जाना चाहिये।

—उत्तराध्ययन (१०/२८)

चिच्चाण धणं च भारियं,
पव्वइओ हि सि अणगारियं,

अध्यात्म

जहा कुम्मे सअंगाई, सए देहे समाहरे।
एवं पावाइं मेहावी, अज्झप्पेण समाहरे॥

जैसे कछुआ अपने अंगो को अपने शरीर में समेट लेता है, वैसे ही मेधावी पुरुष पापों को अध्यात्म के द्वारा समेट लेता है।

—सूत्रकृताङ्ग (१/८/१/१६)

अनाग्रह

सयं सयं पसंसंता, गरहतां परं वयं।
जे उ तत्थ विउस्सन्ति, संसारं ते विउस्सिया॥

जो अपने मत की प्रशंसा और दूसरो के मत की निन्दा करने में ही अपना पाण्डित्य दिखाते हैं तथा तथ्य का अर्थात् सत्य का विलोपन करते हैं, वे एकान्तवादी स्वयं ही विश्व-चक्र में भटकते रहते हैं।

—सूत्रकृताङ्ग (१/१/२/२३)

णोच्छायए णो वि य लूसएज्जा, माणं ण सेवेज्ज पगासणंच।
ण यावि पन्ने परिहास कुज्जा, ण यासियावाय वियागरेज्जा॥

अनाग्रही पुरुष न तो सूत्र के अर्थ को छिपाता है, और न स्व-पक्ष पोषणार्थ उसका अन्यथा कथन करता है। वह अन्य के गुणो को न तो छिपाता है और न ही अपने गुणो का गर्व करके अपनी महत्ता का बखान करता है। स्वयं को प्रज्ञावन्त जानकर वह अन्य का उपहास नहीं करता और न ही अपना गौरव जताने के लिए किसी को आशीर्वाद देता है।

— सूत्रकृताङ्ग (१४/१६)

सव्वेवि होंति सुद्धा,
नत्थि असुद्धो नयो उ सट्ठाणे।

सभी नय अपने-अपने स्थान पर शुद्ध हैं, कोई भी नय अपने स्थान पर अशुद्ध नहीं है।

—व्यवहारभाष्यपीठिका (४७)

अनासक्ति

वंतं इच्छसि आवेउं, सेयं ते मरणं भवे।

वमित अर्थात् परित्यक्त विषयों की पुनः भोगेच्छा से तो मरना श्रेयस्कर है।

—दशवैकालिक (२/७)

असंसत्तं पलोइज्जा।

ललचाई हुई दृष्टि से किसी भी चीज को न देखें।

—दशवैकालिक (५/१/२३)

अवि अप्पणो वि देहम्मि, नाऽऽयरन्ति ममाइयं।

जो साधक शरीर तक में ममत्व नहीं रखते, वे अन्य क्षुद्र साधन-सामग्री में क्या ममत्व रख सकते हैं?

—दशवैकालिक (६/२१)

कन्न सोक्खेहिं सद्देहिं, पेमं नाभिवेसए।

तथ्यहीन शब्दों में अनुरक्ति नहीं रखनी चाहिये, चाहे वे कानों के लिए सुखकर हों।

—दशवैकालिक (८/२६)

वोच्छिन्द सिणेहमप्पणो,
कुमुयं सारइयं व पाणियं
से सव्व सिणेह वज्जिए।

जैसे कमल शरत्-काल के निर्मल जल को स्पर्श नहीं करता, अलिप्त रहता है वैसे ही साधक को भी जगत् से अपनी समस्त आसक्तियाँ मिटाकर, सर्व प्रकार के स्नेहासक्त-बंधनों से दूर हो जाना चाहिये।

—उत्तराध्ययन (१०/२८)

चिच्चाण धणं च भारियं,
पव्वइओ हि सि अणगारियं,
मा वन्तं पुणो वि आइए।

धन और पत्नी का त्याग कर तूँ अनगार-वृत्ति के लिए घर से निकल चुका है। अब इन वमन की हुई, त्यक्त वस्तुओं का पान कदापि न कर।

—उत्तराध्ययन (१०/२९)

अबउज्झियं मित्तबन्धवं,
विउलं चेव धणोहसंचयं,
मा तं बिइयं गवेसए।

मित्र, बान्धव और विपुल धन-राशि को छोडकर फिर से उनकी गवेषणा नही करनी चाहिये।

—उत्तराध्ययन (१०/३०)

इह लोए निप्पिवासस्स, नत्थि किंचि वि दुक्करं।

जिस व्यक्ति की ऐहिक सुखो की प्यास बुझ चुकी है, उसके लिए कुछ भी दुष्कर नही है।

—उत्तराध्ययन (१९/४४)

कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं,
सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स,
जं काइयं माणसियं च किंचि।

सब जीवो के, और क्या देवताओं के भी जो कुछ कायिक और मानसिक दुःख है, वह काम-भोगो की सतत् आसक्ति एवं अभिलाषा से उत्पन्न होता है।

—उत्तराध्ययन (३२/१९)

रूवेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं, अकालियं पावइ से विणासं
रागाउरे से जह वा पयंगे, आलोयलोले समुवेइ मच्चुं॥

जो मनोज्ञ रूपो में तीव्र आसक्ति करता है, वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है, जैसे प्रकाश-लोलुप पतंगा रूप में आसक्त होकर मृत्यु को प्राप्त होता है।

—उत्तराध्ययन (३२/२४)

रूवाणुरत्तस्स नरस्स एवं, कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि?
तत्थोवभोगे वि किलिसदुक्खं, निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं॥

रूप में आसक्त मनुष्य को कही भी एवं कभी भी किंचित् मात्र सुख नहीं मिल सकता। खेद है कि जिसकी प्राप्ति के लिए मनुष्य महान् कष्ट उठाता है, उसके उपभोग से कुछ सुख न पाकर क्लेश-दुःख या अतृप्ति-दुःख ही प्राप्त करता है।

—उत्तराध्ययन (३२/३२)

रूवे विरत्तो मणुओ विसोगो, एएण दुक्खोपरंपरेण।
न लिप्पए भवमज्झे वि सन्तो, जलेण वा पोक्खरिणीपलासं॥

रूप से विरक्त मनुष्य शोक-मुक्त बन जाता है। जैसे कमलिनी का पत्र जल से लिप्त नहीं होता, वैसे ही वह संसार मे रहकर अनेक दुःखो की परम्परा से लिप्त नहीं होता।

—उत्तराध्ययन (३२/३४)

णहि णिरवेक्खो चागो, णहवदिभुक्खुस्स आसयविसुद्धी।
अविसुद्धस्स हि चित्ते, कहंणु कम्मक्खओ होदि॥

जब तक निरपेक्ष रूप से त्याग नहीं किया जाता है, तब तक साधक के मन की विशुद्धि नहीं होती, और जब तक मन की शुद्धि नही होती है, तब तक कर्मक्षय किस प्रकार सम्भव हो सकता है?

—प्रवचनसार (३/२०)

तण कट्ठेहि व अग्गी, लवणजलो वा नई सहस्सेहिं।
न इमो जीवो सक्को, तिप्पेउं काम भोगेउं॥

जिस तरह तिनका, काष्ठ, अग्नि और हजारो नदियो से भी विराट् सिन्धु तृप्त नहीं होता, उसी तरह राग में आसक्त प्राणी काम-भोगो में तृप्ति नहीं पाता है।

— आतुरप्रत्याख्यान (५०)

गुरु से कामा, तओ से मारस्स अंतो,
जओ से मारस्स अंतो, तओ से दूरे,
नेव से अंतो, नेव से दूरे।

जिसकी कामनाएँ अति तीव्र होती हैं, वह मृत्यु से ग्रस्त होता है और जो

मृत्यु से ग्रस्त होता है, वह शाश्वत सुख से वंचित ही रहता है किन्तु जो निष्काम होता है, वह न मृत्यु से ग्रस्त होता है और न शाश्वत सुख से दूर।

—आचारांग (१/५/१)

जे ममाइअमइं जहाइ, से जहाइ ममाइअं।

जो मनुष्य ममत्व-बुद्धि का परित्याग करता है, वही वास्तव में ममत्व का परित्याग करता है।

—आचारांग (१/२/६/९९)

से हु दिट्ठ भए मुणी, जस्स नत्थि ममाइअं।

सच्चा मुनि पाप भीरु होता है, उसमें किसी भी तरह का ममत्व-भाव नहीं होता।

—आचारांग (१/२/६/९९)

जस्स नत्थि पुरा पच्छा, मज्झे तस्स कुओ सिया?

जिसे न कुछ पीछे है और न कुछ पूर्व है, उसे मध्य में कहाँ से होगा?

—आचारांग (१/४/४)

अहिलससि चित्तसुद्धिं, रज्जसि महिलासु अहह मूढत्तं।
नीलामिलिए वत्थम्मि, धवलिमा किं चिरं ठाइ॥

मनशुद्धि की अभिलाषा रखते हो और स्त्रियों के प्रति आसक्त बन रहे हो, अहा! क्या तेरी मूर्खता! गली में मिले हुए वस्त्र में सफेदाई कितने समय तक स्थिर रहेगी?

—आत्मावबोधकुलकम् (२१)

न वेरग्गं ममत्तेणं।

ममत्व रखनेवाला वैराग्यवान् नहीं हो सकता।

—बृहत्कल्पभाष्य (३३८५)

अनित्यता

माणुस्सया काया अणितिया।

यह मनुष्य-शरीर और ये कामभोग अस्थिर हैं।

—अन्तकृद्दशांग (३/८/१६)

जहा जाएणं अवस्स मरियव्वं।

जो जन्मा है, उसे अवश्य मरना होगा।

—अन्तकृद्दशांग (६/१५/१८)

दुमपत्तए पण्डुयए जहा,
निवडइ राइगणाण अच्चए।
एवं मणुयाण जीवियं।

रात्रियाँ बीतने पर वृक्ष का पका हुआ पत्ता जिस प्रकार अपने आप गिर जाता है, उसी प्रकार मनुष्य का जीवन एक दिन समाप्त हो जाता है।

—उत्तराध्ययन (१०/१)

कुसग्गे जह ओसबिन्दुए,
थोवं चिट्ठइ लम्बमाणए।
एवं मणुयाण जीवियं॥

कुश की नोक पर स्थित ओसबिन्दु की अवधि जैसे थोड़ी होती है, वैसे ही मनुष्य-जीवन की गति है।

—उत्तराध्ययन (१०/२)

अणिच्चे जीवलोगम्मि।

जीव-लोक अनित्य है।

—उत्तराध्ययन (१८/११)

जीवियं चेव रूवं च, विज्जुसंपाय चंचलं।

यह जीवन और सौन्दर्य बिजली की चमक के समान चंचल है।

—उत्तराध्ययन (१८/१३)

मृत्यु से ग्रस्त होता है, वह शाश्वत सुख से वंचित ही रहता है किन्तु जो निष्काम होता है, वह न मृत्यु से ग्रस्त होता है और न शाश्वत सुख से दूर।

—आचारांग (१/५/१)

जे ममाइअमइं जहाइ, से जहाइ ममाइअं।

जो मनुष्य ममत्व-बुद्धि का परित्याग करता है, वही वास्तव में ममत्व का परित्याग करता है।

—आचारांग (१/२/६/६६)

से हु दिट्ठ भए मुणी, जस्स नत्थि ममाइअं।

सच्चा मुनि पाप भीरु होता है, उसमें किसी भी तरह का ममत्व-भाव नहीं होता।

—आचारांग (१/२/६/६६)

जस्स नत्थि पुरा पच्छा, मज्झे तस्स कुओ सिया?

जिसे न कुछ पीछे है और न कुछ पूर्व है, उसे मध्य में कहाँ से होगा?

—आचारांग (१/४/४)

अहिलससि चित्तसुद्धिं, रज्जसि महिलासु अहह मूढ़त्तं।
नीलामिलिए वत्थम्मि, धवलिमा किं चिरं ठाइ॥

मनशुद्धि की अभिलाषा रखते हो और स्त्रियों के प्रति आसक्त वन रहे हो, अहा! क्या तेरी मूर्खता! गली में मिले हुए वस्त्र में सफेदाई कितने समय तक स्थिर रहेगी?

—आत्मावबोधकुलकम् (२१)

न वेरग्गं ममत्तेणं।

ममत्व रखनेवाला वैराग्यवान् नहीं हो सकता।

—बृहत्कल्पभाष्य (३३८५)

अनित्यता

माणुस्सया काया अणितिया।

यह मनुष्य-शरीर और ये कामभोग अस्थिर हैं।

—अन्तकृद्दशांग (३/८/१६)

जहा जायणं अवस्स मरियव्वं।

जो जन्मा है, उसे अवश्य मरना होगा।

—अन्तकृद्दशांग (६/१५/१८)

दुमपत्तए पण्डुयए जहा,
निवडइ राइगणाण अच्चए।
एवं मणुयाण जीवियं।

रात्रियाँ बीतने पर वृक्ष का पका हुआ पत्ता जिस प्रकार अपने आप गिर जाता है, उसी प्रकार मनुष्य का जीवन एक दिन समाप्त हो जाता है।

—उत्तराध्ययन (१०/१)

कुसग्गे जह ओसबिन्दुए,
थोवं चिट्ठइ लम्बमाणए।
एवं मणुयाण जीवियं॥

कुश की नोक पर स्थित ओसबिन्दु की अवधि जैसे थोड़ी होती है, वैसे ही मनुष्य-जीवन की गति है।

—उत्तराध्ययन (१०/२)

अणिच्चे जीवलोगम्मि।

जीव-लोक अनित्य है।

—उत्तराध्ययन (१८/११)

जीवियं चेव रूवं च, विज्जुसंपाय चंचलं।

यह जीवन और सौन्दर्य बिजली की चमक के समान चंचल है।

—उत्तराध्ययन (१८/१३)

पच्छा पुरा व चइयव्वे, फेणबुब्बुयसन्निभे।

यह शरीर पानी के बुदबुदे के समान नश्वर है। इसे पहले या पीछे एक दिन तो अवश्य छोड़ना पड़ेगा।

—उत्तराध्ययन (१९/१३)

जम्मं मरणेण समं, संपज्जइ जुव्वणं जरासहियं।
लच्छी विणास सहिया, इय सव्वं भंगुरं मुणह॥

जन्म के साथ मृत्यु, यौवन के साथ बुढ़ापा, लक्ष्मी के साथ विनाश सतत लगा हुआ है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु नश्वर है।

— कार्तिकेयानुप्रेक्षा (५)

माणुस्सए भवे अणेगजाइ-जरा-मरण रोग सारीर माणसपकाम-दुक्खवेयण वसणसओवद्दवाभिभूए, अधुवे, अणिइए, असासए संज्झब्भरागसरिसे, जलबव्बुयसमाणे, कुसग्गजलबिंदुसण्णिभे, सुविणगदंसणोवमे, विज्जुलया चंचले, अणिच्चे॥

यह मनुष्य-जीवन जन्म, जरा, मरण, रोग, व्याधि और अनेक शारीरिक तथा मानसिक दुःखों की अत्यन्त वेदना से एवं सैकड़ों कष्टों से पीड़ित है। यह अध्रुव, अनित्य और अशाश्वत है। सन्ध्याकालीन रंगों के समान, पानी के बुलबुले के सदृश, कुशाग्र पर स्थित जल बिन्दुवत्, स्वप्न-दर्शन के समान तथा बिजली की चमक के जैसा चंचल और अनित्य है।

—अनुत्तरौपपातिक दशांग (३/१/५)

अनुकम्पा

तिसिदं बुभुक्खिदं वा दुहिदं दट्ठूण जो दु दुहिदमणो।
पडिवज्जदि तं किवया तस्सेसा होदि अणुकम्पा॥

तृषातुर, क्षुधातुर अथवा दुःखी को देखकर जो मनुष्य मन में दुःख पाता हुआ उसके प्रति करुणापूर्वक व्यवहार करता है उसका वह भाव अनुकम्पा है।

—पंचास्तिकाय (१३७/२०१)

जो उ परं कंपंतं, दट्ठूण न कंपए कढिण भावो।
एसो उ निरणुकंपो, अणु पच्छा भाव जोएणं॥

जो पाषाण-हृदय दूसरे को कष्ट से प्रकम्पमान देखकर भी प्रकम्पित नहीं होता, वह अनुकम्पा-रहित ही कहलाता है। चूंकि अनुकम्पा का अर्थ ही है—काँपते हुए को देखकर कंपित होना।

—बृहत्कल्पभाष्य (१३२०)

ववसायफलं विहवो विहवस्स य विहलजणसमुद्धरणं।
विहलुद्धरणेण जसो जसेण भण किं न पज्जत्तं॥

व्यवसाय का फल है विभव और विभव का फल है, विहलजनों का उद्धार। विह्वलजनों के उद्धार से यश प्राप्त होता है और यश से कहो क्या नहीं मिलता?

—वज्जालग्ग (१०/१०)

बाला य वुड्ढा य अजंगमा य, लोगेवि एते अणुकंपणिज्जा।

बालक, वृद्ध और अपंग व्यक्ति, विशेष अनुकम्पा के योग्य होते हैं।

—बृहत्कल्पभाष्य (४३४२)

मा होह णिरणुकंपा ण वंचया कुणह ताव संतोसं।
माणत्थद्धा मा होह णिक्किपा होह दाणयरा॥

अनुकम्पा से रहित मत होओ, कृपा से रहित मत बनो, किन्तु सन्तोष करो, घमण्ड में स्थित मत होओ अपितु दान में तत्पर बनो।

—कुवलयमाला (अनुच्छेद ८५)

अनुरक्त

दिन्नं गेण्हइ, अप्पेइ पत्थियं, असइ, भोयणं देइ।
अक्खइ गुज्झं पुच्छेइ पडिवयं जाण तं रत्तं।

जो दी हुई वस्तु को ग्रहण करता है, प्रार्थित वस्तु लाकर देता है, खाता है और खिलाता है, गुप्त भेद बताता है और प्रतिक्षण सुख-दुःख पूछता रहता है—उसे अनुरक्त समझो।

—वज्जालग्ग (४२/६)

अन्तरात्मा

जे जिण-वयणे कुसला, भेयं जाणंति जीव देहाणं।
णिज्जिय-दुट्ठमया अंतरअप्पा य ते तिविहा॥

अन्तरात्मा त्रिविध है—जो जिन-वचनो में कुशल है, जीव और देह के भेद को जानता है और आठ दुष्ट मदो—अभिमानों को जीत चुका है।

—कार्तिकेयानुप्रेक्षा (१९४)

सिविणे विण भुंजइ, विसयाइं देहाइभिण्णभावमई।
भुंजइ णियप्परूवो, सिवसुहरत्तो दु मज्झिमप्पो सो॥

शरीर आदि से स्वयं को भिन्न समझनेवाला जो मनुष्य स्वप्न में भी विषयो का भोग नहीं करता अपितु निजात्मा का ही भोग करता है तथा शिव-सुख में रत रहता है, वह अन्तरात्मा है।

—रयणसार (१४१)

जप्पेसु जो ण वट्टइ, सो उच्चइ अंतरंगप्पा।

जो अन्दर और बाहिर के किसी भी जल्प (वचन-विकल्प) में नहीं रहता, वह अन्तरात्मा कहलाता है।

—नियमसार (१५०)

अक्खाणि बहिरप्पा, अंतर अप्पा हु अप्पसंकप्पो।

इन्द्रियो में आसक्ति ही बहिरात्मा है और अन्तरंग में आत्मानुभव-रूप आत्म-संकल्प ही अन्तरात्मा है।

—मोक्ष-पाहुड़ (५)

अपरिग्रह

अतिरेगं अहिगरणं।

आवश्यकता से अधिक और अनुपयोगी वस्तु क्लेशप्रद एवं दोष रूप हो जाती है।

—ओघनिर्युक्ति (७४१)

अज्झत्थ विसोहीए, उवगरणं बाहिरं परिहरंतो।
अप्परिग्गही त्ति भणिओ, जिणेहिं तिलोकदरिसीहिं॥

जो साधक बाह्य उपकरणों को अध्यात्म-विशुद्धि के लिए धारण करता है, उसे त्रिलोकदर्शी जिनेश्वर देवों ने अपरिग्रही ही कहा है।

—ओघनिर्युक्ति (७४५)

अत्थो मूलं अणत्थाणं।

अर्थ तो अनर्थ का मूल है।

—मरणसमाधि (६०३)

गंथोऽगंथो व मओ मुच्छा मुच्छाहि निच्छयओ।

निश्चय दृष्टि से विश्व की हरेक वस्तु परिग्रह भी है और अपरिग्रह भी। यदि मूर्च्छा है तो परिग्रह है एवं यदि मूर्च्छा नहीं है तो अपरिग्रह है।

—विशेषावश्यकभाष्य (२५७३)

परिगहरहिओ निरायारो।

जो परिग्रह रहित है, वह निरागार है, निर्दोष है।

—सूत्रपाहुड़ (१९)

गाहेण अप्पगाहा, समुद्दसलिले सचेल-अत्थेण।

जिस प्रकार सागर के अथाह जल में से अपने वस्त्र धोने योग्य ही जल ग्रहण किया जाता है, उसी प्रकार ग्राह्य वस्तु में से भी आवश्यकतानुसार ही ग्रहण करना चाहिये।

—सूत्रपाहुड़ (२७

आयाणं नरयं।

परिग्रह तो नरक है।

—उत्तराध्ययन (६/७

धणधन्नपेसवग्गेसु, परिग्गहविवज्जणं।
सव्वारंभ परिच्चाओ, निम्ममत्तं सुदुक्करं॥

धन-धान्य और प्रेष्य-वर्ग के परिग्रहण का वर्जन करना, सब आरम्भ और ममत्व का त्याग करना बहुत ही कठिन कार्य है।

—उत्तराध्ययन (१९/२९

जहा दुमस्स पुप्फेसु, भमरो आवियइ रसं।
नयपुप्फं किलामेइ, सो य पीणेइ अप्पयं॥
एमेए समणा मुत्ता, जे लोए संति साहूणो।
विहंगमा व पुप्फेसु, दाणभत्ते सणे रया॥

जिस प्रकार भ्रमर द्रुम-पुष्पों से रस ग्रहण करके अपना जीवन-निर्वाह करता है, पर किसी भी पुष्प का विनाश नहीं करता और अपने को भी तृप्त कर लेता है। उसी प्रकार लोक में जो अपरिग्रही श्रेयार्थी मानव हैं, उन्हें दाता द्वारा दिये जानेवाले विविध आलंबनों से उतना ही लाभ उठाना चाहिये, जितने से अपना निर्वाह ठीक से हो जाये, उनका शोषण और विनाश न हो।

—दशवैकालिक (१/२-३)

जे सिया सन्निहिं कामे, गिही पव्वइए न से।

वह साधु नहीं, सांसारिक वृत्तियों में रचा-पचा गृहस्थ ही है जो सदैव संग्रह की इच्छा रखता है।

—दशवैकालिक (६/१९)

मुच्छा परिग्गहवुत्तो।

मूर्च्छा को ही वास्तव में परिग्रह कहा है।

—दशवैकालिक (६/२१)

जह कुंडओ ण सक्को सोधेदुं तंदुलस्स सतुसस्स।
तह जीवस्स ण सक्का, मोहमलं संगसत्तस्स॥

जिस प्रकार ऊपर का छिलका या आवरण हटाये बिना चावल का अन्तरंग-मल नष्ट नही होता, उसी प्रकार बाह्य परिग्रह-रूप मल जिसके आत्मा में उत्पन्न हुआ है, ऐसे आत्मा का कर्ममल नष्ट होना असम्भव है।

—भगवती-आराधना (११२०

रागविवागसतण्णादिगिद्धि, अवतित्ति चक्कवट्टिसुहं।
णिस्सगं णिव्वुइसुहस्स, कहं अणंतभागं पि॥

चक्रवर्ती का सुख राग-भाव को बढ़ानेवाला है तथा तृष्णा को समृद्ध करने-

वाला है। इसलिए परिग्रह का त्याग करने पर राग-द्वेष-रहित साधक को जो सुख प्राप्त होता है, चक्रवर्ती का सुख उसके अनन्त भाग की समानता नही कर सकता।

—भगवतीआराधना (११८३)

गंथच्चाओ इंदिय-णिवारणे, अंकुसो व हत्थिस्स।
णयरस्स खाइया वि य, इंदियगुत्ती असंगत्तं॥

जैसे हाथी को वश में रखने के लिए अंकुश आवश्यक होता है और नगर की रक्षा के लिए खाई अनिवार्य होती है, वैसे ही इन्द्रिय-विषय निवारण के लिए परिग्रह का त्याग आवश्यक होता है क्यो कि परिग्रह-त्याग से इन्द्रियाँ वश में होती है।

—भगवतीआराधना (११६८)

जह जह अन्नाणवसा, धणधन्न परिग्गहं बहुं कुणसि।
तह तह लहुं निमज्जसि, भवे भवे भारिअतारि व्व॥

जैसे-जैसे मनुष्य अज्ञानदशा से धन-धान्यादि का परिग्रह अधिक करता है, वैसे-वैसे वह प्रमाण से अधिक भार से भरी हुई नौका के समान शीघ्र ही भवोभव में डूबता है।

—आत्मावबोधकुलकम् (१९)

जो संचिऊण लच्छि धरणियले संठवेदि अइदूरे।
सो पुरिसो तं लच्छि पाहाण सामाणियं कुणदि॥

जो मनुष्य लक्ष्मी का संचय करके पृथ्वी के तल में उसे गाड़ देता है, वह मनुष्य उस लक्ष्मी को पत्थर के तुल्य कर देता है।

—कार्तिकेयानुप्रेक्षा (१४)

चित्तमंतमचित्तं वा, परिगिज्झ किसामवि।
अन्नं वा अणुजाणाइ, एवं दुक्खा ण मुच्चई॥

जो मनुष्य सजीव अथवा निर्जीव किसी भी वस्तु का स्वयं भी परिग्रह करता है, और दूसरो को भी उन वस्तुओ पर स्वामित्व स्थापित करने की सलाह देता है, वह कभी दुःखों से मुक्त नही हो सकता।

—सूत्रकृताङ्ग (१/१/१/२)

परिग्गहनिविट्ठाणं वेरं तेसिं पवड्ढ़ई ।

जो संग्रहवृत्ति में व्यस्त हैं, वे संसार में अपने प्रति वैर-भाव ही बढ़ाते हैं ।

सूत्रकृताङ्ग (१/६/३)

जे ममाइयमइं जहाइ, से जहाइ ममाइयं ।

जो ममत्वबुद्धि का परित्याग करता है, वही वस्तुतः ममत्व या परिग्रह का त्याग करता है ।

—आचाराङ्ग (१/२/६)

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो ।

इच्छामुक्ति को ही अपरिग्रह कहा है ।

—समयसार (२१२)

सव्वेसिं गंथाणं तागो णिरवेक्ख भावणापुव्वं ।

निरपेक्ष भावना पूर्वक सर्व परिग्रहों का त्याग करना चाहिए ।

—नियमसार (६०)

लोभ-कलि-कसाय-महक्खंधो, चिंतासयनिचिय विपुलसालो ।

लोभ, क्लेश और कषाय परिग्रह-वृक्ष के स्कन्ध हैं । जिसकी चिन्ता रूपी सैकड़ों ही सघन और विपुल शाखाएँ हैं ।

—प्रश्नव्याकरणसूत्र (१/५)

विरया परिग्गहाओ, अपरिमिआओ अणंत तण्हाओ ।
बहुदोस संकुलाओ, नरयगइगमण पंथाओ ॥

अपरिमित परिग्रह अनन्त तृष्णा का कारण है, बहुत दोषयुक्त तथा नरक-गति का मार्ग है ।

—उपदेशमाला (२४४)

संगनिमित्तं मारइ, भणइ अलीअं करेइ चोरिक्कं ।
सेवइ मेहुण मुच्छं, अप्परिमाणं कुणइ जीवो ॥

मनुष्य परिग्रह के निमित्त हिंसा करता है, असत्य बोलता है, चोरी करता है, मैथुन का सेवन करता है और अत्यधिक मूर्च्छा करता है ।

—भक्तपरिज्ञा (१३२)

होऊण य णिस्संगो, णियभावं णिग्गहित्तु सुहदुहदं।
णिद्दंदेण दु वट्टदि, अणयारो तस्साऽकिंचण्णं॥

जो साधक सभी प्रकार के परिग्रह का त्याग कर निःसंग हो जाता है, अपने सुखद व दुःखद भावों का निग्रह करके निर्द्वन्द्व विचरता है, उसे आकिंचन्य धर्म होता है अर्थात् नितान्त अपरिग्रह-वृत्तिवाला होता है।

—बारह अणुवेक्खा (७६)

मिच्छत्तवेदरागा, तहेव हासादिया य छद्दोसा।
चत्तारि तह कसाया, चउदस अब्भंतरा गंथा॥
बाहिरसंगा खेत्तं, वत्थु धणधन्नकुप्पभांडाणि।
दुपयचउप्पय जाणाणि, केव सयणासणे य तहा॥

परिग्रह दो प्रकार का है—१. आभ्यन्तर और २. बाह्य। आभ्यन्तर परिग्रह चौदह प्रकार का है—(१) मिथ्यात्व, (२) स्त्रीवेद, (३) पुरुषवेद, (४) नपुंशकवेद, (५) हास्य, (६) रति, (७) अरति, (८) शोक, (९) भय, (१०) जुगुप्सा, (११) क्रोध, (१२) मान, (१३) माया, (१४) लोभ। बाह्य परिग्रह के दस प्रकार हैं—(१) खेत, (२) मकान, (३) धनधान्य, (४) वस्त्र, (५) भाण्ड, (६) दास-दासी, (७) पशु, (८) यान, (९) शय्या, (१०) आसन।

—भगवतीआराधना (१११८-१११९)

अप्रमाद

वीरेहिं एवं अभिभूय दिट्ठं संजएहिं सया अप्पमत्तेहिं।

सदैव अप्रमत्त रहनेवाले जितेन्द्रिय वीर पुरुषों ने चित्त के समग्र द्वन्द्वों को अभिभूत कर, परम सत्य का साक्षात्कार किया है।

—आचाराङ्ग (१/१/४/३४)

जे पमत्ते गुणट्ठीए से हु दंडेति पवुच्चइ।

जो व्यक्ति प्रमादी है, विषयासक्त है वह निश्चय ही जीवों को कष्ट देनेवाला होता है।

—आचाराङ्ग (१/१/४/३५)

तं परिण्णाय मेहावी इयाणि णो, जमहं पुव्वमकासी पमाएणं।

मेधावी साधक को आत्मपरिज्ञान से यह दृढ़ निश्चय करना चाहिए कि मैंने पूर्व जीवन में प्रमाद के कारण जो कुछ भूल की है, वह अब कदापि नहीं करूँगा।

—आचाराङ्ग (१/१/४/३६)

अंतरं च खलु इमं सपेहाए, धीरे मुहुत्तमवि णो पमायए।

धैर्यवान साधक को, उन्नत जीवन-प्रवाह में, मनुष्य-जीवन को मध्य का एक उत्तम अवसर समझकर मुहूर्त्त भर के लिए भी प्रमाद नहीं करना चाहिए।

—आचाराङ्ग (१/२/१/६६)

अलं कुसलस्स पमाएणं।

बुद्धिमान साधक को अपनी साधना में प्रमाद से दूर रहना चाहिए।

—आचाराङ्ग (१/२/४/८५)

सएण विप्पमाएण पुढो वयं पकुव्वइ, जंसिमे पाणा पव्वहिया।

मानव स्वकीय भूलों से ही प्रमादवश पृथक्-पृथक् व्रतों का भेदन करता है और फिर विभिन्न दुःखों से संतप्त एवं पीड़ित होते हुए जगत् की विचित्र स्थितियों में फँस जाता है।

—आचाराङ्ग (१/२/६/६८)

सव्वओ पमत्तस्स भयं, सव्वओ अपमत्तस्स नत्थि भयं।

प्रमत्त को सब तरह से भय रहता है और अप्रमत्त को सब तरह से कोई भय नहीं है।

—आचाराङ्ग (१/३/४/१२४)

उट्ठिए नो पमायए।

कर्त्तव्य-पथ पर चलने को उद्यत हुए व्यक्ति को फिर प्रमाद नहीं करना चाहिये।

—आचाराङ्ग (१/५/२)

अप्पमत्तस्स णत्थि भयं, गच्छतो चिट्ठतो भुंजमाणस्स वा।

अप्रमत्त को चलते, खड़े होते, खाते कहीं भी कोई भय नहीं है।

—आचाराङ्ग-चूर्णि (१/३/४)

जे ते अप्पमत्त संजया ते णं।

नो आयारंभा, नो परारंभा, जाव—अणारंभा।

आत्म-साधना में अप्रमत्त रहनेवाले साधक, न अपनी हिंसा करते हैं, न दूसरों की—वे सर्वथा अनारम्भ-अहिंसक रहते हैं।

—भगवतीसूत्र (१/१)

सति पाणातिवाए अप्पमत्तो अवहगो भवति।

एवं असति पाणातिवाए पमत्तताए वहगो भवति॥

प्राणातिपात (हिंसा) होने पर भी अप्रमत्त साधक अहिंसक है, और प्राणातिपात न होने पर भी प्रमत्त व्यक्ति हिंसक है।

—निशीथचूर्णि (९२)

पमायमूलो बंधो भवति।

कर्मबन्ध का मूल, प्रमाद है।

—निशीथचूर्णि (६६८९)

घोरा मुहुत्ता अबलं सरीरं, भारंडपक्खी व चरेऽप्पमत्ते।

वक्त बड़ा ही भयंकर है और इधर प्रतिपल जीर्ण-शीर्ण होती हुई काया है। इसलिए साधक को सदैव अप्रमत्त होकर भारण्ड पक्षी के समान अप्रतिबद्ध होकर विचरण करना चाहिये।

—उत्तराध्ययन (४/६)

असंखयं जीविय मा पमायए, जरोवणीयस्स हु नत्थि ताणं।

एवं विजाणाहि जणे पमत्ते, कं नु विहिंसा अजया गहिन्ति॥

टूटने के छोर पर आया जीवन पुनः सांधा नहीं जा सकता, इसलिए प्रमाद मत करो। बुढ़ापा आने पर कोई शरण नहीं होता। प्रमादी, हिंसक और अविरत मनुष्य किसकी शरण लेंगे—यह विचार तुम्हे अच्छी तरह से कर लेना चाहिए।

—उत्तराध्ययन (४/१)

सुत्तेसु यावी पडिबुद्ध-जीवी।

प्रबुद्ध साधक सोए हुए व्यक्तियों के बीच भी जागृत—अप्रमत्त रहे।

—उत्तराध्ययन (४/६)

एवं भवसंसारे, संसरइ सुहासुहेहिं कम्मेहिं,
जीवो पमायबहुलो।

प्रमाद-बहुल जीव शुभ-अशुभ कर्मों द्वारा जन्म-मृत्युमय संसार में परिभ्रमण करता है।

—उत्तराध्ययन (४/१५)

मज्जं विसय कसाया निद्दा विगहा य पंचमी भणिया।
इअ पंचविहो एसो होई पमाओ य अप्पमाओ॥

मदिरा, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा—यह पाँच प्रकार का प्रमाद है। इनसे विरक्ति ही अप्रमाद है।

—उत्तराध्ययन-निर्युक्ति (१८०)

पमायं कम्ममाहंसु, अप्पमायं तहऽवरं।

प्रमाद को कर्म-आश्रव और अप्रमाद को अकर्म संवर कहा गया है। अर्थात् आसक्ति को प्रमाद कहा गया है तथा अनासक्ति को अप्रमाद।

—सूत्रकृताङ्ग (१/८/३)

जेद्देय से विप्पमायं न कुज्जा।

जो कभी प्रमाद नहीं करता है, वही वस्तुतः चतुर है।

—सूत्रकृताङ्ग (१/१४/१)

सिग्घं आरुह कज्जं पारद्धं मा कहं पि सिढ़िलेसु।
पारद्ध सिढ़िलियाइं कज्जाइ पुणो न सिज्झंति॥

कार्य का प्रारम्भ शीघ्र करो, प्रारम्भ किये हुए कार्य में किसी भी प्रकार की शिथिलता मत करो। प्रारम्भ किये हुए कार्यों में शिथिलता आ जाने पर वे पुनः पूर्ण नहीं होते हैं।

—वज्जालग्ग (६/२)

पमत्तजोगे, पाणव्ववरोवओ णिच्चं।

प्रमाद का योग नित्य प्राणघातक है।

—भगवतीआराधना (८०१)

इमं च मे अत्थि इमं च नत्थि, इमं च मे किच्चं इमं अकिच्चं
तं एवमेव लालप्पमाणं, हरा हरंति त्ति कहं पमाए?

यह मेरे पास है और यह नहीं है, यह मुझे करना है और नहीं करना है—इस प्रकार वृथा बकवास करते हुए पुरुष को उठानेवाला (काल) उठा लेता है। इस स्थिति में प्रमाद कैसे किया जाय?

—उत्तराध्ययन (१४/१५)

सीतंति सुवंताणं अत्था पुरिसाण लोगसारत्था।
तम्हा जागरमाणा, विधुणध पोराणयं कम्मं॥

जो पुरुष सोते हैं उनके जगत् में सारभूत अर्थ नष्ट हो जाते हैं। अतः सतत जागते रहकर पूर्वार्जित कर्मों को नष्ट करो।

—बृहत्कल्पभाष्य (३३८३)

जागरिया धम्मीणं, अहम्मीणं च सुत्तया सेयर।

धार्मिकों का जागना श्रेयस्कर है और अधार्मिकों का सोना श्रेयस्कर है।

—बृहत्कल्पभाष्य (३३८६)

जागरह नरा! णिच्चं, जागरमाणस्सवड्ढते बुद्धी।
सो सुवति ण सो धन्नो, जो जग्गति सो सया धन्नो॥

पुरुषो! नित्य जागृत रहो। जागृत व्यक्ति की बुद्धि बढ़ती है। जो सोता है वह धन्य नहीं है। धन्य वह है, जो सदैव जागता है।

—बृहत्कल्पभाष्य (३३८२)

आदाणे णिक्खेवे, वोसिरणे ठाणगमणसयणेसु।
सव्वत्थ अप्पमत्तो, दयावरो होदु हु अहिंसओ॥

वस्तुओं को उठाने-धरने में, मल-मूत्र का विसर्जन करने में, बैठने और चलने-फिरने में और शयन करने में जो दयालु पुरुष सदा अप्रमादी रहता है, वह निश्चय ही अहिंसक है।

—भगवतीआराधना (८१८)

भीतो अवितिज्जओ मणूसो, भीतो भूतेहिं घिप्पइ,
भीतो अन्नंपि हु भेसेज्जा ।

भयभीत मनुष्य पर अनेकों भय आकर झटपट हमला कर देते हैं। डरपोक आदमी सदा अकेला और असहाय होता है। भयाकुल मनुष्य ही भूतों का शिकार होता है। स्वयं भयभीत हुआ व्यक्ति दूसरों को भी भयभीत कर देता है।

—प्रश्नव्याकरण (२/२)

भीतो तवसंजमंपि हु मुएज्जा, भीतो य भरं न नित्थरेज्जा,
सप्पुरिसनिसेवियं च मग्गं भीतो न समत्थो अणुचरिउं ॥

भयभीत साधक तप और संयम को भी तिलांजलि दे देता है। वह किसी महत्वपूर्ण कार्य के दायित्व को निभा नहीं पाता और न ही सत्पुरुषों द्वारा आचरित मार्ग पर ही चलने में समर्थ होता है।

—प्रश्नव्याकरण (२/२)

न भाइयव्वं भयस्स वा वाहिस्स वा ।
रोगस्स वा, जराए वा मच्चुस्स वा ॥

आकस्मिक भय से, व्याधि से, रोग से, बुढ़ापे से और तो क्या मृत्यु से भी किसी को कभी नहीं डरना चाहिये।

—प्रश्नव्याकरण (२/२)

जे ण कुणइ अवराहे, सो णिस्संकोदु जणवए भमदि ।

जो किसी तरह का अपराध नहीं करता, वह निडर होकर जनपद में घूम सकता है। इसी तरह निरपराध भी सर्वत्र अभय होकर विचरण करता है।

—समयसार (३०२)

जं कीरइ परिरक्खा, णिच्चं मरण भयभीरु-जीवाणं ।
तं जाण अभयदाणं, सिहामणिं सव्वदाणाणं ॥

मृत्यु-भय से भयभीत जीवों की रक्षा करना ही अभय-दान है। यह अभयदान सब दानों का शिरोमणि है।

—वसुनन्दि-श्रावकाचार (२३८)

दाणाणं चेव अभयदयाणं।

'अभयदान' सब दानों में श्रेष्ठ है।

—प्रश्नव्याकरण (२/४)

अभयं पत्थिवा ! तुब्भं अभयदाया भवाहिया।

पार्थिव ! तुझे अभय है और तू भी अभयदाता बन।

—उत्तराध्ययन (१८/११)

संवेगजदिकरणा, णिस्सल्ला मंदरो व्व णिक्कंपा।
जस्स दढ़ा जिणभत्ती, तस्स भयं णत्थि संसारे॥

जिसके हृदय में संसार के प्रति वैराग्य उत्पन्न करनेवाली, शल्य-रहित एवं मेरुवत् निष्कम्प और दृढ़ जिनभक्ति है, उसे संसार में किसी तरह का भय नही है।

—भगवती-आराधना (७४५)

सत्त भयट्ठाणा पण्णत्ता, तं जहा-इहलोगभए, परलोगभए, आदाणभए, अकम्हाभए, आजीवभए, मरणभए, असिलोगभए॥

भयस्थान के सप्तस्थान कहे गये हैं। वे हैं—१. इहलोक-भय, २. परलोक-भय, ३. आदान-भय, ४. अकस्मात् भय, ५. आजीविका-भय, ६. मरण-भय और ७. अपयश-भय।

—समवायांग (७/१)

सत्तभयविप्पमुक्का, जम्हा तम्हा दु णिस्संका।

जो सप्तभय से मुक्त होते हैं, वे सर्वदा निश्शंक होते हैं।

—समयसार (२२८)

निब्भएण गतिव्वं।

तुम निर्भय होकर विचरण करो।

—निशीथचूर्णिभाष्य (२७३)

अविनीत

पुरिसम्मि दुव्विणीए, विणयविहाणं न किंचि आइक्खे।
न वि दिज्जति आभरणं, पलियत्तिकण्ण-हत्थस्स ॥

दुर्विनीत व्यक्ति को सदाचार की शिक्षा नहीं देनी चाहिए। भला, उसे कङ्कण एवं पायल आदि आभूषण क्या दिए जायँ, जिसके हाथ-पैर ही कटे हैं।

—निशीथ-भाष्य (६२२१)

आणा-निद्देसऽकरे, गुरुणमुववायकारए।
पडिणीए असंबुद्धे, अविणीए त्ति वुच्चए ॥

जो गुरु की आज्ञा और निर्देश का पालन नहीं करता, गुरु की शुश्रूषा नहीं करता, जो गुरु के प्रतिकूल वर्तन करता है और तथ्य को नहीं जानता, वह 'अविनीत' कहलाता है।

—उत्तराध्ययन (१/३)

अविणयणरा सुविहियं तत्तो मुत्तिं ण पावंति।

विनय-रहित मनुष्य सुविहित मुक्ति को प्राप्त नहीं करते हैं।

—भाव-पाहुड़ (१०२)

थंभा व कोहा व मयप्पमाया, गुरुस्सगासे विणयं न सिक्खे।
सो चेव उ तस्स अभूइभावो, फलं व कीयस्स वहाय होइ ॥

गर्व, क्रोध, माया या प्रमादवश जो विद्यार्थी गुरु-अध्यापकों का आदर नहीं करता, शिक्षकों के समीप विनय की शिक्षा नहीं लेता है वह विनय की अशिक्षा, अविनयी आचार उसका वैसे ही नाश करनेवाला होता है, जैसे—बाँस का फल बाँस के नाश के लिए होता है।

—दशवैकालिक (६/१/१)

वुज्झइ से अविणीयप्पा, कट्ठं सोयगयं जहा।

अविनीतात्मा संसार-स्रोत में वैसे ही प्रवाहित होता रहता है जैसे नदी के स्रोत में पड़ा हुआ काष्ठ।

—दशवैकालिक (६/२/३)

तहेव अविणीयप्पा लोगंसिनरनारिओ।
दीसंति दुहमेहंता, छाया विगलितेंदिया ॥
दंडसत्थपरिजुण्णा, असब्भवयणेहि य।
कलुणा विवन्नछंदा, खुप्पिवासाए परिगया ॥

लोक में जो पुरुष और स्त्री अविनीत होते हैं, वे क्षत-विक्षत या दुर्बल, इन्द्रिय-विकल, दण्ड और शस्त्र से जर्जर, असभ्य वचनों के द्वारा तिरस्कृत, करुण, परवश, भूख और प्यास से पीड़ित होकर दुःख का अनुभव करते हुए देखे जाते हैं।

—दशवैकालिक (९/२/७)

थद्धो णिरोवयारी, अविणीयो गव्विओ णिरवणामो।
साहूजणस्स गरहिओ, जणे वि वयणिज्जयं लहइ ॥

गुरुओं के आगे नतमस्तक न होनेवाले अविनीत, अभिमानी एवं निरुपकारी मनुष्य की साधुओं से लेकर समाज तक में बड़ी निन्दा होती है।

—सार्थपोसहसज्झायसूत्र (२६)

अशरण

वित्त पसवो य नाइओ, तं बाले सरणं त्ति मन्नई।
एते मम तेसु वि अहं, नो ताणं सरणं न विज्जई ॥

अज्ञानी मनुष्य, धन, पशु एवं नाते-रिश्तेदारों को अपनी शरण मानता है और समझता है कि 'ये मेरे है और मैं इनका हूँ', परन्तु इनमें से कोई भी आपत्ति-काल में उसे त्राण अथवा शरण नहीं दे सकता।

—सूत्रकृताङ्ग (१/२/३/१६)

वरभत्तपाणण्हाणय-सिंगार विलेवणेहिं पुट्ठो वि।
निअपहुणो विडहंतो, सुणएण वि न सरिसो देहो ॥

उत्तम भोजन, पान, स्नान, श्रृङ्गार, लेपन आदि से पोषण-पुष्टि करने के पश्चात् भी स्वयं के स्वामी को छोड़कर चले जानेवाले श्वान के जैसा गुण भी इस देह में नहीं है।

—आत्मावबोधकुलक (१७)

जहेह सीहो व मियं गहाय, मच्चू नरं नेइ हु अन्तकाले
न तस्स 'माया व पिया व भाया', कालम्मि तम्मिसहरा भवंति

जिस प्रकार सिंह हरिण को पकड़कर ले जाता है, उसी प्रकार अन्तकाल मृत्यु मनुष्य को ले जाती है। उस समय उसके माता-पिता या भाई अंश नहीं होते। वे अपनी आयु देकर मृत्यु से नहीं बचा सकते।

—उत्तराध्ययन (१३/२२

न तस्स दुक्खं विभयन्ति नाइओ,
न मित्तवग्गा न सुया न बन्धवा।
एक्को सयं पच्चणुहोइ दुक्खं,
कत्तारमेवं अणुजाइ कम्मं॥

ज्ञाति, मित्र-वर्ग, पुण्य और बान्धव मनुष्य का दुःख नहीं बंटा सकते। व स्वयं अकेला दुःख का अनुभव करता है, क्योंकि कर्म कर्त्ता का अनुगम करता है।

—उत्तराध्ययन (१३/२३

चेच्चा दुपयं च चउप्पयं च, खेत्तं गिहं धणधन्नं च सव्वं।
कम्मप्पबीओ अवसो पयाइ, परं भवं सुन्दरं पावगं वा॥

यह पराधीन आत्मा द्विपद, चतुष्पद, खेत, घर, धन, धान्य, वस्त्र आदि सब यहीं छोड़ जाता है। कोई उसे शरण नहीं दे पाता। वह केवल सुखद य दुखद किये कर्मों को साथ लेकर परभव में जाता है।

—उत्तराध्ययन (१३/२४

चिई गयं डहिय उ पावगेणं।
भज्जा य पुत्ता वि य नायओ य,
दायारमन्नं अणुसंकमन्ति।

जिसे हम अपना मानते हैं, वे ही हमारे मृत होने पर शरीर को अग्नि से चिता में जलाकर स्त्री, पुत्र और ज्ञाति किसी दूसरे दाता, जीविका देनेवाले के पीछे चले जाते हैं।

— उत्तराध्ययन (१३/२५)

वेया अहीया न भवन्ति ताणं।

वेद पढ़ने पर भी वे त्राण नहीं होते।

—उत्तराध्ययन (१४/१२)

दाराणि य सुया चेव, मित्ता य तह बन्धवा।
जीवन्तमणुजीवन्ति, मयं नाणुव्वयन्ति य॥

स्त्री, पुत्र, मित्र और बन्धुजन जीवित व्यक्ति के साथ जीते हैं, किन्तु वे मृत के पीछे नहीं जाते।

—उत्तराध्ययन (१८/१४)

माणुसत्ते असारम्मि, वाहीरोगाण आलए।
जरामरणघत्थम्मि, खणं पि न रमामऽहं॥

साधक सदा यह विचार करता रहे, 'यह मानव-शरीर असार है, व्याधि और रोगों का घर है, जरा और मरण से ग्रस्त है। अतः मैं इसमें रहकर एक क्षण भी मौज-शौक में रमण नहीं करूँगा।' आत्म-अभ्युदय ही मेरा ध्येय है।

—उत्तराध्ययन (१९/१४)

असंयम

ण हु होतिसोयिव्वो, जो कालगतो दढ़ो चरित्तम्मि।
सो होइ सोयियव्वो, जो संजम-दुब्बलो विहरे॥

यह सोचनीय नहीं है, जो अपनी साधना में दृढ़ रहता हुआ मृत्यु को प्राप्त कर गया है। सोचनीय तो वह है, जो संयम से भ्रष्ट होकर जीवित घूमता-फिरता है।

—निशीथ-भाष्य (१७/१७)

भावे असंजमो सत्थं।

भाव-दृष्टि से असंयम ही शस्त्र है।

—आचारांगनिर्युक्ति (९६)

अस्पृश्यता

जं इच्छसि अप्पणत्तो, तं इच्छस्सपरस्सवि।

जो स्वयं के लिए चाहते हो, उसे दूसरों के लिए भी चाहो।

—बृहत्कल्पभाष्य (४५८४)

जे माहणे जातिए खत्तिए वा, तह उग्गपुत्ते तह लेच्छतीवा।
जे पव्वइते परदत्तभोई, गोत्ते ण जे थब्भति माणबद्धे॥

जो कोई मनुष्य भिक्षु होने से पूर्व चाहे ब्राह्मणवंशी हो, क्षत्रियवंशी हो, उग्रवंशी हो या लिच्छवीवंशी हो, लेकिन भिक्षु हो जाने पर जाति आदि की ऊँच-नीचता के मद में वह बंधा न रहे।

—सूत्रकृताङ्ग (१/१३/१०)

सव्वगोत्तावगता महेसी, उच्चं अगोत्तं च गतिं वयंति।

महर्षिगण तो सब प्रकार के गोत्रों से रहित होते हैं। वे ही गोत्रादि से रहित सर्वोच्च मोक्ष-गति को प्राप्त करते हैं।

—सूत्रकृताङ्ग (१/१३/१६)

से असइं उच्चागोए असइं नीआगोए, नो हीणे नो अइरित्ते।

यह आत्मा अनेक बार उच्च गोत्र में जन्म ले चुका है और अनेक बार नीच गोत्र में। इसमें किसी प्रकार की विशेषता या हीनता नहीं है। अतः न कोई हीन है और न कोई अतिरिक्त।

—आचाराङ्ग (१/२/३/१)

एक्कु करे मं विण्णिकरि, मं करि वण्ण विसेसु।
इक्कइँ देवइं जे वसइ, तिहुयणु एहु असेसु॥

हे जीव! तूँ जाति की अपेक्षा सभी जीवों को एक समान समझ। उनसे राग और द्वेष मत कर। त्रिलोकवर्ती सकल जीव-राशि शुद्धात्मस्वरूप होने के कारण समान है।

—परमात्मप्रकाश (२/१०७)

अहंकार

सेल थंभ समाणं माणं अणपविट्ठे जीवे।
कालं करेइ णेरपइएसु उववज्जति॥

पत्थर के स्तम्भ की तरह जीवन में कभी भी नहीं झुकनेवाला गर्व आत्मा को नरक गति की ओर ले जाता है।

—स्थानाङ्ग (४/२)

सयणस्स जणस्स पिओ, णरो अमाणी सदा हवदि लोए।
णाणं जसं च अत्थं, लभदि सकज्जं च साहेदि॥

निरभिमानी मनुष्य जन और स्वजन सभी को सदैव प्रिय लगता है। वह ज्ञान, यश और धन प्राप्त करता है, एवं अपना प्रत्येक कार्य सिद्ध कर सकता है।

—भगवतीआराधना (१३७६)

माणविजए णं मद्दवं जणयई।

अहंकार पर विजय प्राप्त कर लेने से नम्रता जाग्रत होती है।

—उत्तराध्ययन (२६/६८)

अन्नं जणं खिंसइ बालपन्ने।

जो अपनी प्रज्ञा के अभिमान में दूसरों की अवज्ञा करता है, वह बालप्रज्ञ है।

—सूत्रकृताङ्ग (१/१३/१४)

पन्नामयं चेव तवोमयं च, णिन्नामए गोयमयं च भिक्खू।
आजीवगं चेव चउत्थमाहु, से पंडिए उत्तम पोग्गले से॥

जो संयम-परायण भिक्षु प्रज्ञामद, तपोमद, गोत्रमद, और आजीविका-मद को पराजित कर देता है, वही पंडित और उत्तम देहधारी है।

—सूत्रकृताङ्ग (१/१३/१५)

अन्नं जणं पस्सति बिंबभूयं।

अभिमानी अपने अहंकार में दूसरों को सदैव परछाँईवत् तुच्छ मानता है।

—सूत्रकृताङ्ग (१/१३/१८)

रे गव्वं मा वहसु पुण्णिमायंद।
दीसिहिसि तुमं कइया जह भग्गो वलयखंडो व्व॥

अरे पूर्णचन्द्र! गर्व मत करो। तुम कभी टूटे कंकण के टुकड़े के समान दिखाई दोगे।

—वज्जालग्ग (५०/१८)

जो अवमाणकरणं, दोसं परिहरइ णिच्चमाउत्तो।
सो णाम होदि माणी, ण दु गुणचत्तेण माणेण॥

जो दूसरे को अपमानित करने के दोष का सदा सावधानीपूर्वक परिहार करता है, वही यथार्थ में मानी है। गुणशून्य अभिमान करने से कोई मानी नहीं होता।

—भगवती-आराधना (१४२६)

माणी विस्सो सव्वस्स होदि कलह-भय-वेर-दुक्खाणि।
पावदि माणी णियदं इह-परलोए य अवमाणं॥

घमण्डी व्यक्ति सबका वैरी हो जाता है। अभिमानी व्यक्ति इस लोक और परलोक में कलह, भय, वैर, दुःख, और अपमान को अवश्य ही प्राप्त करता है।

—अर्हत्प्रवचन (७/३६)

अहिंसा

धम्ममहिंसासमं नत्थि।

अहिंसा के समान अन्य कोई धर्म नहीं है।

—भक्तपरिज्ञा (९१)

जीव वहो अप्पवहो, जीवदया अप्पणो दया होइ।

किसी भी दूसरे जीव की हत्या वास्तव में अपनी ही हत्या है और दूसरे जीव की दया अपनी ही दया है।

—भक्तपरिज्ञा (९३)

इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण माणण्ण,
पूयणाए जाइमरण मोयणाए दुक्खपडिघायहेउं ।

अनेक संसारी प्राणी जीवन को चिरकाल तक बनाए रखने के लिए, यश-ख्याति पाने की इच्छा से, सत्कार और पूजा-प्रतिष्ठा पाने की अभिलाषा से, जन्म-मरण तथा दुःखों से छुटकारा पाने की आकांक्षा से हिंसा आदि दुष्कृत्यों में प्रवृत्त होते हैं ।

—आचाराङ्ग (१/१/१/११)

अप्पेगे हिंसिसु मेत्ति वा वहंति,
अप्पेगे हिंसति मेत्ति वा वहंति,
अप्पेगे हिंसिस्संति मेत्ति वा वहंति ।

'इसने मुझे मारा'—कुछ इस विचार से हिंसा करते हैं । 'यह मुझे मारता है'—कुछ इस विचार से हिंसा करते हैं । 'यह मुझे मारेगा'—कुछ इस विचार से हिंसा करते हैं ।

—आचाराङ्ग (१/१/६/६)

सव्वे पाणा पियाउया, सुहसाया दुक्खपडिकूला
अप्पियवहा पियजीविणो जीविउकामा, सव्वेसिं
जीवियं पियं, नाइवाएज्ज कंचणं ।

प्राणीमात्र को अपनी जिन्दगी प्यारी है । सुख सबको प्रिय है और दुःख अप्रिय । वध सबको अप्रिय है और जीवन प्रिय । सब प्राणी जीना चाहते हैं । कुछ भी हो, एक बात तो निश्चित है कि सब प्राणियों को अपना जीवन प्रिय है । इसलिए कोई किसी भी प्राणी की हिंसा न करे ।

—आचाराङ्ग (१/२/३/४)

आरम्भजं दुक्खमिणं ।

ये सब दुःख हिंसा में से उत्पन्न होते हैं, आरम्भज हैं ।

—आचाराङ्ग (१/३/१/५)

तुमंसि नाम सच्चेव जं हंतव्वंति मन्नसि ।

जिसको तू मारना चाहता है, वह तू ही है ।

—आचाराङ्ग (१/५/५/५)

से हु पन्नाणमंते बुद्धे आरंभोवरए।

वही प्रज्ञावान् बुद्ध है, जो हिंसा से उपरत है।

—आचाराङ्ग (१/४/४/३)

रागादीणमणुप्पा अहिंसगतं।

रागादिक का उत्पन्न न होना वस्तुतः अहिंसा है।

—सर्वार्थसिद्धि (७/२२/३६३/१०)

सायं गवेसमाणा, परस्स दुक्खं उदीरंति।

कुछेक मनुष्य स्वयं के सुख की शोध में दूसरों को दुःख पहुँचा देते हैं।

—आचाराङ्गनिर्युक्ति (९४)

सतं तिवायए पाणे अदुवा अण्णेहिं घायए।
हणंतं वाऽणुजाणाइ वेरं वड्ढेति अप्पणो॥

जो व्यक्ति स्वयं किसी प्रकार से प्राणियों का वध करता है अथवा दूसरों से वध कराता है या प्राणियों का वध करते हुए अन्य व्यक्तियों का अनुमोदन करता है, वह संसार में अपने लिए वैर बढ़ाता है।

—सूत्रकृताङ्ग (१/१/१/३)

तमाओ ते तमं जंति, मंदा आरंभनिस्सिया।

पर-पीड़ा में लगे हुए जीव अंधकार से अंधकार की ओर गमन करते हैं।

—सूत्रकृताङ्ग (१/१/१/१४)

एतं खु नाणिणो सारं जं न हिंसति किंचणं।

ज्ञानियों के ज्ञान का निष्कर्ष यही है कि वह किसी भी प्राणी की हिंसा न करे।

— सूत्रकृताङ्ग (१/१/४/१०)

वेराइं कुव्वती वेरी, ततो वेरेहिं रज्जती।
पावोवगा य आरंभा, दुक्खफासा य अंतसो॥

प्राणीघातक, वैरी-शत्रु बनकर जब देखो तब वैर ही करता रहता है। वह अनेक जीवों से वैर बांधता है और नित्य नये वैर में संलग्न ही रहता है।

यथार्थतः जीव-हिंसा पाप-परम्परा को चलाती है, क्योंकि हिंसादिजनित पापकार्य अन्त में अनेक दुःखों का स्पर्श कराते हैं।

—सूत्रकृताङ्ग (१/८/७)

हिंसप्पसूताइं दुहाइ संता, वेराणुबंधीणि महब्भयाणि।

हिंसा से उत्पन्न अशुभ कर्म अत्यन्त दुःखोत्पादक हैं, वैर-परम्परा बांधने-वाले और महान् भयजनक हैं।

—सूत्रकृताङ्ग (१/१०/२१)

सव्वाहिं अणुजुत्तीहिं, मतिमं पडिलेहिया।
सव्वे अकंतदुक्खा य, अतो सव्वे न हिंसया॥

बुद्धिमान् पुरुष सभी अनुकूल संगत युक्तियों से सम्यग्ज्ञान प्राप्त कर जाने, देखें कि सभी जीव दुःख से घबराते हैं, सभी सुखलिप्सु हैं, अतः किसी भी प्राणी की हिंसा न करें।

—सूत्रकृताङ्ग (१/११/६)

भूतेहिं न विरुज्झेज्जा।

किसी भी जीव के साथ वैर-विरोध न करे।

—सूत्रकृताङ्ग (१/१५/४)

मरदु व जियदु व जीवो, अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो, हिंसामेत्तेण समिदस्स॥

बाहर में जीव मरे अथवा जिए, अयताचारी-प्रमादी को भीतर में हिंसा निश्चित है, किन्तु जो अहिंसा की साधना के लिए प्रयत्नशील है, समितिवाला है, उसे प्राणी की हिंसा होने मात्र से कर्मबंध नहीं है।

—प्रवचनसार (३/१७)

काउं च नाणुतप्पइ, एरिसओ निक्किवो होइ।

अपने द्वारा किसी जीव को पीड़ा पहुँचाने पर भी जिसके मन में पछतावा नहीं होता, उसे निर्दय कहा जाता है।

—बृहत्कल्पभाष्य (१३१६)

आहच्चहसा समितस्स जा तू, सा दव्वतो होति ण भावतो उ।
भावेण हिंसा तु असंजतस्सा, जे वा वि सत्ते ण सदा वधेति॥

संयमी पुरुष के द्वारा कदाचित् हिंसा हो भी जाए, तो वह द्रव्यहिंसा होती है, भावहिंसा नहीं। परन्तु जो असंयमी है, वह जीवन में कदाचित् किसी का वध न करने पर भी, भाव-रूप से निरन्तर हिंसा में लीन रहता है।

—बृहत्कल्पभाष्य (३९३३)

जाणं करेति एक्को, हिंसमजाणमपरो अविरतो य।
तत्थ वि बंधविसेसो, महंतरं देसितो समए॥

एक असंयमी, जानकर हिंसा करता है और दूसरा अनजाने में, शास्त्र में इन दोनों के हिंसाजन्य कर्मबन्ध में महान् अन्तर बताया है।

—बृहत्कल्पभाष्य (३९३८)

जं इच्छसि अप्पणतो, जं च न इच्छसि अप्पणतो।
तं इच्छ परस्स वि, एत्तियगं जिणसासणं॥

जो तुम अपने लिए चाहते हो, वही दूसरो के लिए भी चाहना चाहिए जो तुम अपने लिए नहीं चाहते हो, वह दूसरों के लिए भी नहीं चाहना चाहिए—बस, यही जिनशासन है, तीर्थंकरों का उपदेश है।

—बृहत्कल्पभाष्य (४५८४)

सव्वेसिमासमाणं हिदयं गब्भो व सव्वसत्थाणं।
सव्वेसिं वदगुणाणं पिंडो, सारो अहिंसा हु॥

अहिंसा विश्व के सर्व आश्रमों का हृदय है, सभी शास्त्रों का उद्‌गम स्थान है तथा सर्वव्रतों-सिद्धान्तों का नवनीत रूप सार है।

—भगवती-आराधना (७९०)

भूतहितं ति अहिंसा।

प्राणियों का हित अहिंसा है।

— नन्दीसूत्रचूर्णि (५/३८)

न य वित्तासए परं।

दूसरों को त्रास नहीं देना चाहिये।

—उत्तराध्ययन (२/२०)

वेराणुबद्धा नरयं उवेंति।

जो वैर की परम्परा को तूल देते रहते हैं, वे नरकगामी होते हैं।

—उत्तराध्ययन (४/२)

अज्झत्थं सव्वओ सव्वं, दिस्स पाणे पियायए।
न हणे पाणिणो पाणे, भयवेराओ उवरए॥

सब दिशाओं से होनेवाला सब प्रकार का अध्यात्म-सुख जैसे मुझे इष्ट है, वैसे ही दूसरों को इष्ट है और सब प्राणियों को अपना जीवन प्यारा है—यह देखकर भय और वैर से उपरत पुरुष प्राणियों के प्राणों का घात न करे।

—उत्तराध्ययन (६/६)

जगनिस्सिएहिं भूएहिं, तसनामेहिं थावरेहिं च।
नो तेसिमारभे दंडं, मणसा वयसा कायसा चेव॥

जगत् के आश्रित जो त्रस और स्थावर प्राणी हैं, उनके प्रति मन, वचन और काया—किसी भी प्रकार से दण्ड का प्रयोग न करें।

—उत्तराध्ययन (८/१०)

जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ॥

जो पुरुष दुर्जेय संग्राम में दस लाख योद्धाओं को जीतता है, उसकी अपेक्षा वह एक अपने आपको जीतता है, तो यह उसकी परम विजय है।

—उत्तराध्ययन (९/३४)

समया सव्वभूएसु, सत्तुमित्तेसु वा जगे।
पाणाइवायविरई, जावज्जीवाए दुक्करा॥

विश्व के शत्रु और मित्र सभी जीवों के प्रति समभाव रखना और यावज्जीवन प्राणातिपात की विरति करना बहुत ही कठिन कार्य है।

—उत्तराध्ययन (१९/२५)

सव्वाओवि नईओ, कमेण जह सायरंमि निवडंति।
तह भगवई अहिंसा, सव्वे धम्मा समिल्लंति॥

जिस तरह सभी नदियाँ अनुक्रम से समुद्र में आकर मिलती हैं, उसी तरह महाभगवती अहिंसा में सभी धर्मों का समावेश होता है।

—संबोधसत्तरी (६)

अत्था हणंति, धम्मा हणंति कामा हणंति,
अत्था धम्मा कामा हणंति।

कई व्यक्ति अर्थ के निमित्त से जीवों को मारते हैं, कई धर्म के नाम पर मारते हैं, कई कामभोग के लिए मारते हैं तो कई अर्थ, धर्म और काम तीनों के निमित्त से मारते हैं।

प्रश्नव्याकरणसूत्र (१/१/३)

पाणवहस्स फलविवागो इहलोइओ परलोइओ
अप्पसुहो बहुदुक्खो न य अवेदयित्ता अत्थि हु मोक्खो।

प्राणीवध-हिंसा का फल इस लोकसम्बन्धी और परलोकसम्बन्धी अल्पसुख एवं बहुत दुःख देनेवाला है। हिंसा के कड़ुवे फल को भोगे या क्षय किये बिना मुक्ति नहीं है।

—प्रश्नव्याकरणसूत्र (१/१)

भगवती अहिंसा, भीयाणं विव सरणं।

जिस प्रकार भयाक्रान्त के लिए शरण की प्राप्ति हितकर है, जीवों के लिए उसी प्रकार, अपितु इससे भी बढ़कर भगवती अहिंसा हितकर है।

—प्रश्नव्याकरणसूत्र (२/१)

अहिंसा तस-थावर-सव्वभूयखेमंकरी।

अहिंसा गतिशील और स्थित—सभी प्राणियों का कुशलक्षेम करनेवाली है।

—प्रश्नव्याकरणसूत्र (२/१)

हिंसाए पडिवक्खो होइ अहिंसा।

हिंसा का प्रतिपक्ष 'अहिंसा' है।

—दशवैकालिकनिर्युक्ति (४५)

रागादीण मणुप्पाओ, अहिंसकत्तं।

राग आदि की अनुत्पत्ति अहिंसा है और उत्पत्ति हिंसा है।

—जयधवला (१/४२/९४)

अहिंसा निउणं दिट्ठा, सव्वभूएसु संजमो ।

अहिंसा का पूर्ण दर्शन यही है कि स्वयं का सब प्राणियों के प्रति संयम रखना ।

—दशवैकालिक (६/८)

जावंति लोए पाणा, तसा अदुव थावरा ।
ते जाणमजाणं वा, न हणे णो वि घायए ॥

विश्व में जितने भी त्रस और स्थावर प्राणी हैं, उनका जानते हुए या अनजान में, न स्वयं हनन करे और न कराए ।

—दशवैकालिक (६/६)

सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं ।

सारे जीव जीना चाहते हैं । मरने की किसी की भी इच्छा नहीं है ।

—दशवैकालिक (६/१०)

उच्चालियंमि पाए, ईरियासमियस्स संकमट्ठाए ।
वावज्जेज्ज कुलिंगी मरिज्ज तं जोगमासज्ज ॥
न य तस्स तन्निमित्तो, बंधो सुहुमोवि देसिओसमए ।
अणवज्जो उ पओगेण, सव्वभावेण सो जम्हा ॥

कभी-कभी ईर्या-समित सज्जन के पैर-तले कीट-पतंग आदि क्षुद्र जीव आ जाते हैं और दबकर मर भी जाते हैं, किन्तु उक्त हिंसा के लिए उस सज्जन को सिद्धान्त ने अल्पांश भी कर्म का बंध नहीं बताया है, क्योंकि वह अन्तस् में सर्वतोभावेन उस हिंसा-व्यापार से निर्लिप्त होने के कारण निष्पाप-युक्त है ।

—ओघनिर्युक्ति (७४८-४६)

जो य पमत्तो पुरिसो, तस्स य जोगं पडुच्च जे सत्ता ।
वावज्जंते नियमा, तेसिं सो हिंसओ होइ ॥
जे विन वावज्जंती, नियमा तेसिं पि हिंसओ सोउ ।
सावज्जो उ पओगेण, सव्वभावेण सो जम्हा ॥

जो प्रमत्त पुरुष है, उसकी किसी भी चेष्टा से जो भी जीव मर जाते हैं,

वह निश्चित रूप से उन सबका हिंसक होता है। किन्तु जो प्राणी नहीं मारे गए हैं, वह प्रमत्त उनका भी हिंसक ही है, क्योंकि वह अन्तर में सर्वतोभावेन हिंसा-वृत्ति के कारण सावद्य है, पापात्मा है।

—ओधनिर्युक्ति (७५२-५३)

जो होइ अप्पमत्तो, अहिंसओ हिंसओ इयरो।

जो प्रमत्त है वह हिंसक है और जो अप्रमत्त है, वह अहिंसक है।

—ओधनिर्युक्ति (७५४)

दुक्खं खु णिरणुकंपा।

किसी के प्रति निर्दयता का भाव रखना वास्तव में कष्टदायी है।

—निशीथ-भाष्य (५६/३३)

जह मे इट्ठाणिट्ठे सुहासुहे तह सव्वजीवाणं।

जैसे इष्ट-अनिष्ट, सुख-दुःख मुझे होते हैं, वैसे ही सब जीवों को होते हैं।

—आचारांग-चूर्णि (१/१/६)

सव्वे अ चक्कजोही, सव्वे अ हया सचक्केहिं।

आज तक जितने भी चक्रयोधी हुए हैं, वे सबके सब अपने ही चक्र से मारे गये।

—आवश्यकनिर्युक्तिभाष्य (४३)

असुभो जो परिणामो सा हिंसा।

आत्मा का अशुभ परिणाम ही हिंसा है।

—विशेषावश्यकभाष्य (१७६६)

हिंसादो अविरमणं, वहपरिणामो य होइ हिंसा हु।

हिंसा से विरत न होना और हिंसा का परिणाम रखना हिंसा ही है।

—भगवती-आराधना (८०१)

णाणी कम्मस्स खयत्थ-मुट्ठिदो णोट्ठिदो य हिंसाए।
अददि असढं अहिंसत्थं, अप्पमत्तो अवधगो सो॥

ज्ञानी कर्म-क्षय के लिए उद्यत हुआ है, हिंसा के लिए नही। वह निश्छलभाव से अहिंसा के लिए प्रयत्नशील रहता है। वह अप्रमत्त मुनि अहिंसक होता है।

भगवती-आराधना (८०३)

तुंगं न मंदराओ, आगासाओ विसालयं नत्थि।
जह तह जयंमि जाणसु, धम्ममहिंसासमं नत्थि॥

जैसे जगत् में मेरुपर्वत से ऊँचा और आकाश से विशाल और कुछ नही है, वैसे ही अहिंसा के समान कोई धर्म नहीं है।

—भक्तपरिज्ञा (९१)

नारंभेण दयालुया।

हिंसक दयालु नहीं हो सकता।

—वृहत्कल्पभाष्य (३३८)

आचरण

सारो परूवणाए चरणं, तस्स वि य होइ निव्वाणं।

प्ररूपणा का सार है—'आचरण' और 'आचरण' का सार है—'निर्वाण'।

—आचारांगनिर्युक्ति (१७)

भणन्ता अकरेन्ता य, बन्धमोक्खोपइण्णिणो।
वायाविरियमेत्तेण, समासासेन्ति अप्पयं॥

जो केवल बोलते हैं, करते कुछ नहीं, वे बन्ध और मोक्ष की बातें करनेवाले दार्शनिक केवल वाणी की वीरता से अपने आपको आश्वासन देने वाले हैं।

—उत्तराध्ययन (६/९)

धीरस्स पस्स धीरत्तं, सव्वधम्माणुवत्तिणो।
चिच्चा अधम्मं धम्मिट्ठे, देवेसु उववज्जई॥

आचरण द्वारा सत्य-धर्म का अनुसरण करनेवाले धीर पुरुषो की धीरता

वह निश्चित रूप से उन सबका हिंसक होता है। किन्तु जो प्राणी नहीं मारे गए हैं, वह प्रमत्त उनका भी हिंसक ही है, क्योंकि वह अन्तर में सर्वतोभावेन हिंसा-वृत्ति के कारण सावद्य है, पापात्मा है।

—ओधनिर्युक्ति (७५२-५३)

जो होइ अप्पमत्तो, अहिंसओ हिंसओ इयरो।

जो प्रमत्त है वह हिंसक है और जो अप्रमत्त है, वह अहिंसक है।

—ओधनिर्युक्ति (७५४)

दुक्खं खु णिरणुकंपा।

किसी के प्रति निर्दयता का भाव रखना वास्तव में कष्टदायी है।

—निशीथ-भाष्य (५६/२३)

जह मे इट्ठाणिट्ठे सुहासुहे तह सव्वजीवाणं।

जैसे इष्ट-अनिष्ट, सुख-दुःख मुझे होते हैं, वैसे ही सब जीवों को होते हैं।

—आचारांग-चूर्णि (१/१/६)

सव्वे अ चक्कजोही, सव्वे अ हया सचक्केहिं।

आज तक जितने भी चक्रयोधी हुए हैं, वे सबके सब अपने ही चक्र से मारे गये।

—आवश्यकनिर्युक्तिभाष्य (४३)

असुभो जो परिणामो सा हिंसा।

आत्मा का अशुभ परिणाम ही हिंसा है।

—विशेषावश्यकभाष्य (१७६६)

हिंसादो अविरमणं, वहपरिणामो य होइ हिंसा हु।

हिंसा से विरत न होना और हिंसा का परिणाम रखना हिंसा ही है।

—भगवती-आराधना (८०१)

णाणी कम्मस्स खयत्थ-मुट्ठिदो णोट्ठिदो य हिंसाए।
अददि असढं अहिंसत्थं, अप्पमत्तो अवधगो सो॥

ज्ञानी कर्म-क्षय के लिए उद्यत हुआ है, हिंसा के लिए नहीं। वह निश्छलभाव से अहिंसा के लिए प्रयत्नशील रहता है। वह अप्रमत्त मुनि अहिंसक होता है।

भगवती-आराधना (८०३)

तुंगं न मंदराओ, आगासाओ विसालयं नत्थि।
जह तह जयंमि जाणसु, धम्ममहिंसासमं नत्थि॥

जैसे जगत् में मेरुपर्वत से ऊँचा और आकाश से विशाल और कुछ नहीं है, वैसे ही अहिंसा के समान कोई धर्म नहीं है।

—भक्तपरिज्ञा (९१)

नारंभेण दयालुया।

हिंसक दयालु नहीं हो सकता।

—बृहत्कल्पभाष्य (३३८१)

आचरण

सारो परूवणाए चरणं, तस्स वि य होइ निव्वाणं।

प्ररूपणा का सार है—'आचरण' और 'आचरण' का सार है—'निर्वाण'।

—आचारांगनिर्युक्ति (१७)

भणन्ता अकरेन्ता य, बन्धमोक्खपइण्णिणो।
वायाविरियमेत्तेण, समासासेन्ति अप्पयं॥

जो केवल बोलते हैं, करते कुछ नहीं, वे बन्ध और मोक्ष की बातें करनेवाले दार्शनिक केवल वाणी की वीरता से अपने आपको आश्वासन देनेवाले हैं।

—उत्तराध्ययन (६/६)

धीरस्स पस्स धीरत्तं, सव्वधम्माणुवत्तिणो।
चिच्चा अधम्मं धम्मिट्ठे, देवेसु उववज्जई॥

आचरण द्वारा सत्य-धर्म का अनुसरण करनेवाले धीर पुरुषों की धीरता

तो देखो कि वे अधर्म को त्यागकर धर्मिष्ठ बन जाते हैं और अन्त में दिव्य-दशा को प्राप्त करते हैं।

—उत्तराध्ययन (७/२९)

धम्मं पि हु सद्दहन्तया,
दुल्लहया काएण फासया,
इह कामगुणेहिं मुच्छिया।

उत्तम धर्म में श्रद्धा होने पर भी उसका आचरण करनेवाले दुर्लभ हैं। बहुत से धर्म-श्रद्धालु काम-गुणों में ही मूर्च्छित रहते हैं।

—उत्तराध्ययन (१०/२०)

जेण विरागो जायइ, तं तं सव्वायरेण करणिज्जं।
मुच्चइ हु ससंवेगी, अणंतवो होइ असंवेगी॥

जिससे विराग उत्पन्न होता है, उसका आदरपूर्वक आचरण करना चाहिये, क्योकि विरक्त व्यक्ति संसार-बन्धन से छूट जाता है और आसक्त व्यक्ति का संसार अनन्त होता जाता है।

—मरणसमाधि (२६६)

निच्छयमवलंवंता, निच्छयतो निच्छयं अयाणंता।
नासंति चरण करणं, बाहिरकरणालसा केइ॥

जो निश्चय दृष्टि से आलम्बन का आग्रह तो रखते हैं; परन्तु वस्तुतः उसके सम्बन्ध में कुछ जानते-बूझते नही है, वे आचरण की व्यवहार-साधना के प्रति उदासीन हो जाते हैं और इस प्रकार सदाचार को ही मूलतः नष्ट कर डालते है।

—ओघनिर्युक्ति (७६१)

वायाए जं कहणं गुणाण तं णासणं हवे तेसिं।
होदि हु चरिदेण गुणाण कहण मुब्भासणं तेसिं॥

वचन से अपने गुणों को कहना उन गुणों का नाश करना है और आचरण से गुणों का प्रकट करना उनका विकास करना है।

—अर्हत्प्रवचन (९/७)

जह दीवा दीवसयं, पइप्पए सो य दिप्पए जीवो।
दीवसमा आयरिया, दिप्पंति परं च दीवेंति ॥

आचार्य दीपक के समान होते हैं—जो स्वयं प्रकाशमान् होते हैं और दूसरों को भी प्रकाशित करते हैं।

—उत्तराध्ययननिर्युक्ति (८)

पंचमहव्वयतुंगा तक्कालिय-सपरसमय-सुदधारा
णाणागुणगणभरिया, आयरिया।

आचार्य पञ्च महाव्रत (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य) से समुन्नत, तत्कालीन स्वसमय और परसमय श्रुत के धारी-ज्ञाता तथा नाना गुण-समूह से परिपूर्ण होते हैं।

—तिलोयपण्णत्ति (१/३)

राग-द्दोस विमुक्को, सीयघरसमो य आयरिओ।

राग-द्वेष-विमुक्त आचार्य शीतगृह के समान है।

—निशीथभाष्य (२७९४)

जत्थेव धम्मायरियं पासेज्जा,
तत्थेव वंदिज्जा नमंसिज्जा।

जहाँ कहीं अपने धर्माचार्य दिखाई दे, वहीं पर उन्हें वन्दन-नमन करना चाहिये।

—राजप्रश्नीय (४/७६)

पडिरूवो तेयस्सि, जुगप्पहाणागमो महुरवक्को।
गम्भीरो धिइमंतो, उवएसपरो य आयरिओ ॥

जो तीर्थंकर गणधरों के प्रतिनिधि-स्वरूप वर्तमान काल में सबसे बड़े श्रुतज्ञाता, मधुर भाषी, तेजस्वी, युगप्रवरागम गम्भीर विचारवाले बुद्धिमान् और उपदेश देने में समर्थ होते हैं, वे ही आचार्य हैं।

—सार्धगोसहसज्झायसूत्र (६)

कइयावि जिणवरिंदा, पत्ता अयरामरं पहं दाउं।
आयरिएहिं पवयणं, धारिज्जइ संपयं सयलं॥

जिनेश्वर तो किसी समय मोक्ष-मार्ग प्ररूपित कर चले गये पर बाद आज तक उनके प्रवचन को आचार्यों ने ही सुरक्षित रखा है।

—सार्थपोसहसज्झायसूत्र (११

बालाण जो उ सीसाणं, जीहाए उवलिंपए।
न सम्ममग्गं गाहेइ, सो सूरी जाण वेरियो॥

जो आचार्य नवदीक्षित शिष्यों को लाड़-प्यार में रखता है, उन्हें सन्म पर स्थिर नहीं करता है—ऐसा आचार्य अपने शिष्यों का गुरु नहीं अपि शत्रु है।

—गच्छाचार-प्रकीर्णक (१७

स एव भव्वसत्ताणं, चक्खुभूय विआहिए।
दंसेइ जो जिणुद्दिट्ठं अणुट्ठाणं जहट्ठिअं॥

जो आचार्य भव्य प्राणियों को वीतराग भगवान् का यथार्थ अनुष्ठान-मार्ग दिखाता है, वह उनके लिए चक्षुभूत होता है।

—गच्छाचार-प्रकीर्णक (२६

तित्थयरसमो सूरी, सम्मं जो जिणमयं पयासेइ।
आणं अइक्कमंतो सो, कापुरिसो न सप्पुरिसो।

जो आचार्य वीतराग निर्दिष्ट सच्चे मार्ग का संसार में सर्वव्यापी प्रचार करता है वह तीर्थंकर के सदृश माना जाता है और जो आचार्य भगवान् की आज्ञा का न तो स्वयं सम्यक्तया पालन करता है और न ही यथार्थ रूप से वर्णन करता है, वह सत्पुरुषों की कोटि में नहीं गिना जा सकता।

—गच्छाचार-प्रकीर्णक (२७)

भट्ठायारो सूरी, भट्ठायाराणुविक्खओ सूरी।
उम्मग्गठिओ सूरी, तिन्निवि मग्गं पणासंति॥

तीन प्रकार के आचार्य, भगवान् के मार्ग को दूषित करते हैं—

१. वह आचार्य जो स्वयं आचार-भ्रष्ट है।
२. वह आचार्य जो स्वयं आचार भ्रष्ट नहीं, परन्तु अपने गच्छ के आचारभ्रष्टों की उपेक्षा करता है अर्थात् उनका सुधार नहीं करता।

३. जो आचार्य भगवान् की आज्ञा के विरुद्ध प्ररूपण तथा आचरण करता है।

—गच्छाचार-प्रकीर्णक (२८)

उम्मग्गठिए सम्मग्ग-नासए जो उ सेवए सूरी।
निअमेणं सो गोयम! अप्पं पाडेइ संसारे॥

जो आचार्य उन्मार्गगामी है और सन्मार्ग का लोप कर रहा है, ऐसे आचार्य की सेवा करनेवाला शिष्य निश्चय से संसार-समुद्र में गोते खाता है।

—गच्छाचार-प्रकीर्णक (२९)

आज्ञा

आणातवो आणाइसंजमो, तहय दाणमाणाए।
आणारहिओ धम्मो, पलालपूलव्व पडिहाई॥

आज्ञा में तप है, आज्ञा में संयम है और आज्ञा में ही दान है। आज्ञा-रहित धर्म को ज्ञानी पुरुष धान्य रहित घास के पूलेवत् छोड़ देता है।

—संबोधसत्तरी (३२)

आत्म-दर्शन

जो जाणइ अप्पाणं, अप्पाणं सो सुहाणं न हु कामी।
पत्तम्मि कप्परुक्खे, रुक्खे किं पत्थणा असणे॥

जो आत्मा को जानता है, वह सांसारिक सुखों का कामी नहीं होता। भला, जिसे कल्पवृक्ष प्राप्त हो गया है, क्या वह अन्य वृक्ष की प्रार्थना भी करेगा?

—आत्मावबोधकुलक (४)

तेसिं दूरे सिद्धि, रिद्धी रणरणयकारणं तेसिं।
तेसिमपूणा आसा, जेसिं अप्पा न विन्नाओ॥

जिसने आत्मा का दर्शन नहीं किया, उसे जाना नहीं, उसकी आशाएँ

अपूर्ण रहती हैं। उसके लिए सिद्धि उससे दूर रहती है और लक्ष्मी उसके दुःख का कारण बनती है।

—आत्मावबोधकुलक (६)

जो अप्पाणि वसेइ, सो लहु पावइ सिद्धि सुहु।

जो निज आत्मा में वास करता है, वह शीघ्र ही सिद्धि-सुख को प्राप्त करता है।

—योगसार-योगेन्दुदेव (६५)

जे अणण्णदंसी से अणण्णारामे, जे अणण्णारामे, से अण्णदंसी।

जो 'स्व' से अन्यत्र दृष्टि रखता है, वह 'स्व' से अन्यत्र रमण भी नहीं करता है और जो 'स्व' से अन्यत्र नहीं रमण करता है, वह 'स्व' से अन्यत्र दृष्टि भी नहीं रखता है।

—आचाराङ्ग (१/२/६/६)

जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ।
जे सव्वं जाणइ, से एगं जाणइ॥

जो एक को जानता है, वह सबको जानता है, सारे जगत् को जानता है और जो सबको जानता है, सारे जगत् को जानता है, वह एक को, अपने आपको जानता है।

—आचाराङ्ग (१/३/४/२)

ण याणंति अप्पणो वि, किन्नु अण्णेसि।

जो स्वयं को नहीं जानता वह दूसरो को क्या जानेगा ?

—आचाराङ्ग-चूर्णि (१/३/३)

वदणियमाणि धरंता, सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता।
परमट्ठबाहिरा जे, णिव्वाणं ते ण विंदन्ति॥

भले ही व्रत-नियम को धारण कर ले, तप और शील का आचरण कर ले ; किन्तु जो परमार्थ रूप आत्म-बोध, आत्म-दर्शन से शून्य है, वह कभी निर्वाण-पद प्राप्त नहीं कर सकता है।

—समयसार (१५३)

आत्म-प्रशंसा

अप्पपसंसं परिहरह सदा मा होह जसविणासयरा ।
अप्पाणं थोवंतो तणलहुदो होदि हु जणम्मि ॥

मनुष्य को अपनी प्रशंसा करना सदा के लिए छोड़ देना चाहिये, क्योंकि अपने मुख से अपनी प्रशंसा करने से उसका यश नष्ट हो जाएगा। अतः जो मनुष्य अपनी प्रशंसा आप करता है, वह जगत् में तृण के समान तुच्छ होता है।

—भगवती-आराधना (३५९)

पसंसिअव्वो कया चि न हु अप्पा ।

मनुष्य को अपनी स्वयं की प्रशंसा कभी नहीं करनी चाहिये।

—आत्मावबोधकुलक (४०)

उन्नयमाणे य णरे, महता मोहेण मुज्झति ।

अव्यक्त मनुष्य प्रशंसित होने पर मोह से महामूढ़ हो जाता है।

—आचारांग (१/५/४)

मा अप्पयं पसंसह जइवि जसं इच्छसे धवलं ।

यदि निर्मल यश चाहते हो तो अपनी प्रशंसा मत करो।

—कुवलयमाला

आत्म-बोध

दम-शम-समत्त-मित्ती-संवेअ-विवेअ-तिव्व-निव्वेआ ।
एए पगूढअप्पा-वबोहबीअस्स अंकुरा ॥

इन्द्रिय-दमन, मनोविकार-शमन, सम्यक्त्व, मैत्री, संवेग और तीव्र निर्वेद—ये सब आत्म-बोध-बीज के अंकुर हैं।

—आत्मावबोधकुलक (३)

ता दुत्तरो भवजलही, ता दुज्जेओ महाबलो मोहो ।
ता अइ विसमो लोहो, जा जाओ नो निओ बोहो ॥

भवसमुद्र दुस्तर तभी तक है, जब तक महाविस्तृत मोह दूर्जय है, लोभ भी तभी तक अति विषम है, जब तक आत्म-बोध नहीं हुआ है।

—आत्मावबोधकुलक (

जत्थम्मि आयनाणं, नाणं विरयाण सिद्धसुहयंतं।

जहाँ आत्मज्ञान है, वहाँ निश्चय ज्ञान है और सिद्धिसुख को देने यही ज्ञान है।

—आत्मावबोधकुलक (३

अवरो न निंदिअव्वो, पसंसिअव्वो कया वि नहु अप्पा।
समभावो कायव्वो, बोहस्स रहस्समिणमेव॥

पर की निन्दा न करना, स्वयं की प्रशंसा न करना और समभाव र —यही आत्म-बोध का रहस्य है।

—आत्मावबोधकुलक (४

आत्म-वि

अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पाहु खलु दुद्दमो।
अप्पा दन्तो सुही होइ, अस्सि लोए परत्थ य॥

प्रत्येक को स्वयं पर नियन्त्रण रखना चाहिए। अपनी आत्मा का करना चाहिए। स्वयं पर स्वयं का नियन्त्रण रखना कठिन अवश्य है दुर्लभ नहीं। स्वयं पर नियन्त्रण रखनेवाला आत्म-विजेता ही इसलोक परलोक में सुखी होता है।

—उत्तराध्ययन (१/१

वरं मे अप्पा दन्तो, संजमेण तवेण य।
माहं परेहि दम्मन्तो, बन्धणेहि वहेहि य॥

अच्छा यही है कि मैं संयम और तप के द्वारा अपनी आत्मा का करूँ। दूसरे लोग बन्धन और वध के द्वारा मेरा दमन करे—यह अ नहीं है।

—उत्तराध्ययन (१/१

जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिए।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ ॥

भयंकर युद्ध में सहस्रों-सहस्र दुर्दान्त शत्रुओं को जीतने की अपेक्षा अपने आपको जीत लेना ही सबसे बड़ी विजय है।

—उत्तराध्ययन (९/३४)

पंचिन्दियाणि कोहं, माणं मायं तहेव लोहं च।
दुज्जयं चेव अप्पाणं, सव्वं अप्पे जिए जियं ॥

पाँच इन्द्रियाँ, क्रोध, मान, माया, लोभ और मन—ये दुर्जेय हैं, लेकिन एक आत्मा पर विजय पा लेने के बाद इन सब पर विजय पा ली जाती है।

एगप्पा अजिए सत्तू।

स्वयं की असंयत आत्मा ही स्वयं का एकमात्र शत्रु है।

—उत्तराध्ययन (२३/३८)

अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण वज्झओ।
अप्पणामेव अप्पाणं, जइत्ता सुहमेहए ॥

बाहरी स्थूल शत्रुओं के साथ युद्ध करने से क्या लाभ? अपनी आत्मा के साथ ही युद्ध कर! आत्मा को आत्मा के द्वारा जीतनेवाला ही वास्तव में पूर्ण सुखी होता है।

—उत्तराध्ययन (९/३५)

अप्पणो य परं नालं, कुतो अन्नाणसासिउं।

जो अपनी आत्मा को अनुशासन में रखने में समर्थ नही है, वह दूसरों को अनुशासित करने में कैसे समर्थ हो सकता है?

—सूत्रकृताङ्ग (१/१/२/१७)

जे एगं नामे, से बहुं नामे।

जो स्वयं को नमा लेता है, वह सकल जगत् को नमा लेता है।

—आचाराङ्ग (१/३/४)

आत्म-साक्षी

किं पर जण वहुजाणा, वणाहिं वरमप्प सक्खियं सुकयं ।

दूसरे की दृष्टि में धार्मिक बनने के लिए जो धर्म किया जाता है, वह निरर्थक है । इसलिए आत्म-साक्षित्व से धर्म करना चाहिये जोकि वस्तुतः शुभ फलदायी होगा ।

—सार्थपोसहसज्झायसूत्र (१६)

अप्पा जाणाइ अप्पा, जहट्ठियो अप्पसक्खिओ धम्मो ।
अप्पा करेइ तं तह, जह अप्पसुहावहं होई ॥

आत्मा ही आत्मा के शुभ-अशुभ परिणामों को जानता है। अतएव अपनी आत्म-साक्षिता से जो धर्म किया जाता है, हे आत्मन् ! वही उस आत्मा का वास्तविक धर्म सुखदायक सिद्ध होता है ।

—सार्थपोसहसज्झाय-सूत्र (२२)

आत्म-स्वरूप

अंतरतच्चं जीवो, वाहिरतच्चं हवंति सेसाणि ।

आत्मा अन्तस्तत्त्व है, शेष सर्व द्रव्य वहिस्तत्त्व है ।

—कार्तिकेयानुप्रेक्षा (५)

एगे आया ।

स्वरूप-दृष्टि से सब आत्माएँ एक हैं ।

—समवायांग (१/१)

अन्ने खलु काम-भोगा, अन्नो अहमंसि ।

काम-भोग आदि जड़ पदार्थ और हैं, मैं आत्मा और हूँ ।

—सूत्रकृताङ्ग (२/१/१३)

आदा हुमे सरणं ।

आत्मा ही मेरा शरण है ।

—मोक्ष-पाहुड़ (६५)

पुरिसा ! तुममेव तुमं मित्तं। किं वहिया मित्तमिच्छसि ?

मानव ! तू स्वयं ही अपना मित्र है। तू बाहर में क्यों किसी सखा की खोज कर रहा है ?

—आचाराङ्ग (१/३/३)

बंधप्पमोक्खो अज्झत्थेव।

वस्तुतः अन्तर् में ही बंधन और अन्तर् में ही मोक्ष है।

—आचारांग (१/५/२)

जे आया से विन्नाया, जे विन्नाया से आया।

जो आत्मा है, वह विज्ञाता है। जो विज्ञाता है, वह आत्मा है।

—आचारांग (१/५/५)

अहमिक्को खलु सुद्धो, दंसणणाणमइओ सदाऽरूवी।

मैं एक शुद्ध, दर्शन-ज्ञानमय, नित्य और अरूपी हूँ।

—समयसार (३८)

इंदो जीवो सव्वोवलद्धि भोगपरमेसत्तणओ।

सभी उपलब्धि और भोग के उत्कृष्ट ऐश्वर्य के कारण प्रत्येक जीव इन्द्र है।

—विशेषावश्यक-भाष्य (२९९३)

जो झायइ अप्पाणं, परमसमाही हवे तस्स॥

जो अपनी आत्मा का ध्यान करता है, उसे परमसमाधि की प्राप्ति होती है।

—नियमसार (१२३)

चित्तं तिकालविसयं।

आत्मा की चेतना त्रिकाल है।

—दशवैकालिक-निर्युक्ति-भाष्य (१९)

णिच्चो अविणासि सासओ जीवो।

आत्मा नित्य, अविनाशी तथा शाश्वत है।

—दशवैकालिक-निर्युक्ति-भाष्य (४२)

अहमिक्को खलु सुद्धो, दंसणणाणमइओ सदाऽरूवी।
ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि, अण्णं परमाणुमित्तं पि॥

मैं एक, शुद्ध, दर्शन-ज्ञानमय, नित्य और अरूपी हूँ। इसके अतिरिक्त अन्य परमाणु मात्र भी वस्तु मेरी नहीं है।

—समयसार (३८)

आत्मा

अप्पणा चेव उदीरेइ,
अप्पणा चेव गरहइ,
अप्पणा चेव संवरइ॥

आत्मा स्वयं अपने द्वारा ही कर्मों की उदीरणा करता है, स्वयं अपने द्वारा ही उनकी गर्हा-आलोचना करता है और अपने द्वारा ही कर्मों के संवर-आश्रव का निरोध करता है।

—भगवतीसूत्र (१/३)

आया णे अज्जो! सामाइए,
आया णे अज्जो! सामाइयस्स अट्ठे।

हे आर्य! आत्मा ही सामायिक—समत्वभाव है और आत्मा ही सामायिक की अर्थ-विशुद्धि है।

—भगवतीसूत्र (१/६)

हत्थिस्स य कुंथुस्स य समे चेव जीवे।

आत्मा की दृष्टि से हाथी एवं कुंथुआ दोनों में आत्मा एक सदृश है।

—भगवतीसूत्र (८/७)

एगं अन्नयइं पाणं हणमाणे अणेगे जीवे हणइ।

एक जीव की हिंसा करता हुआ आत्मा, तत्सम्बन्धी अनेक जीवों की हिंसा करता है।

—भगवतीसूत्र (६/३४)

अत्थेगइयाणं जीवाणं बलियत्तं साहू।
अत्थेगइयाणं जीवाणं दुब्बलियत्तं साहू॥

धर्मनिष्ठ आत्माओं का बलवान् होना उत्तम है और धर्महीन आत्माओं का दुर्बल रहना।

—भगवती सूत्र (१२/२)

अत्थेगइयाणं जीवाणं सुत्तत्तं साहू,
अत्थेगइयाणं जीवाणं जागरियत्तं साहू।

अधार्मिक आत्माओं का सोते रहना अच्छा है तो धार्मिक आत्माओं का नित्य जागते रहना। —भगवती सूत्र (१२/१)

अत्तकडे दुक्खे नो परकडे।

आत्मा का दुःख उसका अपना किया हुआ है, किसी अन्य का किया हुआ नहीं है।

—भगवती सूत्र (१७/५)

अप्पा अप्पम्मि रओ, सम्माइट्ठी हवेइ फुडु जीवो।

जो आत्मा, आत्मा में लीन है, वही सम्यग्दृष्टि है।

—भावपाहुड़ (३१)

अप्पो वि य परमप्पो, कम्मविमुक्को य होइ फुडं।

वह आत्मा, परमात्मा बन जाता है, जब वह कर्मों से छुटकारा पा जाता है।

—भावपाहुड़ (१५१)

सुहपरिणामो पुण्णं, असुहो पावंति हवदि जीवस्स।

आत्मा का शुभ-परिणाम पुण्य है तथा अशुभ परिणाम पाप है।

—पञ्चास्तिकाय (१३२)

विणए ठविज्ज अप्पाणं, इच्छंतो हियमप्पणो।

आत्मा का हित चाहनेवाला मनुष्य स्वयं को विनय-सदाचार में स्थापित करे।

—उत्तराध्ययन (१/६)

नत्थि जीवस्स नासु त्ति।

आत्मा का कभी नाश नहीं होता, वह तो अविनाशी है।

—उत्तराध्ययन (२/२७)

जीवा सोहिमणुप्पत्ता, आययन्ति मणुस्सयं।

विश्व में आत्माएँ काल-क्रम के अनुसार शुद्ध होते-होते मनुष्यत्व को प्राप्त होती हैं।

—उत्तराध्ययन (३/७)

अप्पणा सच्चेमेसेज्जा।

स्वयं की आत्मा के द्वारा सत्य की गवेषणा करो।

—उत्तराध्ययन (६/२)

बहुकम्मलेवलित्ताणं, वोही होइ सुदुल्लहा तेसिं।

जो आत्माएँ प्रचुर कर्मों के लेप से लिप्त हैं, उन्हें वोधि प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है।

—उत्तराध्ययन (८/१५)

नो इन्द्रियग्गेज्झ अमुत्तभावा, अमुत्तभावा विय होइ निच्चं।

आत्मा आदि अमूर्त-तत्त्व इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं होते और जो अमूर्त होते हैं, वे अविनाशी-नित्य भी होते हैं।

—उत्तराध्ययन (१४/१६)

अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली।
अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा मे नंदणं वणं॥

आत्मा ही नरक की वैतरणी नदी तथा कूट-शाल्मली वृक्ष है। आत्मा ही स्वर्ग की कामदुघा-धेनु और नन्दन-वन है।

—उत्तराध्ययन (२०/३६)

अप्पा कत्ता विकत्ताय, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुप्पट्ठिओ॥

आत्मा ही सुख-दुःख का कर्त्ता और भोक्ता है। सत्प्रवृत्ति में लगी हुई आत्मा ही मित्र है और दुष्प्रवृत्ति में लगी हुई होने पर वही शत्रु है।

—उत्तराध्ययन (२०/३७)

नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
वीरियं उवओगो य, एवं जीवस्स लक्खणं॥

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग—ये सब जीव के लक्षण हैं।

—उत्तराध्ययन(२८/११)

पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं
जं से पुणो होइ दुहं विवागे।

आत्मा प्रद्वेषयुक्त चित्तवाला होकर अर्थात् राग-द्वेष से कलुषित होकर कर्मों का संचय करता है, वही परिणामकाल में उसके लिए दुःख का हेतु बनता है।

—उत्तराध्ययन (३२/४६)

न लिप्पई भवमज्झे वि संतो,
जलेण वा पोक्खरिणीपलासं।

जो आत्मा विषयों के प्रति अनासक्त है, वह विश्व में रहता हुआ भी निर्लिप्त रहता है, जैसे कि पुष्करिणी के जल में रहा हुआ पलाश-कमल।

—उत्तराध्ययन (३२/४७)

एसो मित्तमित्तं, एसो सग्गो तहेव नरओ अ।
एसो राया रंको, अप्पा तुट्ठो अतुट्ठो वा॥

आत्मा तुष्टमान होने पर मित्र है, स्वर्ग है और राजा भी है और यदि आत्मा अतुष्टमान हुआ तो वही शत्रु है, नरक है और रंक भी है।

—आत्मावबोधकुलक (१३)

अप्पा जाणइ अप्पा।

आत्मा ही आत्मा को जानता है।

—उपदेशमाला (२३)

आदा धम्मो मुणेदव्वो।

आत्मा ही धर्म है, यानी धर्म आत्मस्वरूप होता है।

—प्रवचनसार (१/८)

जीवो परिणमदि जदा, सुहेण असुहेणव सुहो असुहो।
सुद्धेण तदा सुद्धो, हवदि हि परिणाम सब्भावो॥

जब आत्मा शुभ या अशुभ-भाव में परिणत होता है, तब वह शुभ अथवा अशुभ हो जाता है और जब शुद्ध-भाव में परिणत होता है, तब वह शुद्ध हो जाता है, अर्थात् आत्मा परिणमन-स्वभाव-युक्त है।

—प्रवचनसार (१/६)

अप्पा जाणइ अप्पा।

आत्मा ही आत्मा को जानता है।

—सार्थपोसहसज्झाय (२२)

आदाणापमाणं णाणं णेयप्पमाण मुद्दिट्ठ।
णेयं लोयालोयं, तम्हा णाणं तु सव्वगयं॥

आत्मा ज्ञान प्रमाण है, ज्ञान ज्ञेय प्रमाण है और ज्ञेय लोकालोक प्रमाण है। इस दृष्टि से ज्ञान सर्वव्यापी हो जाता है।

—प्रवचनसार (१/२३)

किंभया पाणा? दुक्खभया पाणा।
दुक्खे केण कडे? जीवेणं कडे पमाएणं।

प्राणी किससे भय पाते हैं? दुःख से।
दुःख किसने किया है? स्वयं आत्मा ने, अपनी ही भूल से।

—स्थानांग (३/२)

उवनइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा।

आत्मा उत्पन्न होती है, नष्ट होती है और मूल में ज्यों की त्यों रहती है।

—स्थानांग (१०)

बाले पापेहिं मिज्जती

अज्ञानी आत्मा पाप करने पर भी उस पर अहंकार करता है।

—सूत्रकृताङ्ग (१/२/२/२१)

एगस्स गती य आगती।

आत्मा परलोक में अकेला ही गमन-आगमन करता है।

—सूत्रकृताङ्ग (१/२/३/१७)

एगो सयं पच्चणुहोइ दुक्खं।

स्वकृत दुःखों को आत्मा अकेला ही भोगता है।

—सूत्रकृताङ्ग (१/५/२/२२)

ते आत्तओ पासइ सव्वलोए।

तत्त्वदर्शी सम्पूर्ण प्राणिजगत् को अपनी आत्मा के समान ही देखता है।

—सूत्रकृताङ्ग (१/१२/१८)

अलमप्पणो होंति अलं परेसिं।

'स्व' और 'पर' के कल्याण में ज्ञानी आत्मा ही समर्थ होता है।

—सूत्रकृताङ्ग (१/१३/१९)

अन्नो जीवो, अन्नं सरीरं

आत्मा और देह और हैं अर्थात् दोनो भिन्न हैं।

—सूत्रकृताङ्ग (२/१/९)

दुक्खे णज्जइ अप्पा।

आत्मा को बड़ी कठिनाई से जाना जाता है।

—मोक्षपाहुड़ (६५)

आदा हु मे सरणं।

आत्मा ही मेरा एकमात्र शरण है।

—मोक्षपाहुड़ (१०५)

जारिसिया सिद्धप्पा, भवमल्लिय जीव तारिसा होंति।

जिस तरह की शुद्ध आत्मा सिद्धों की है, मूल स्वरूप से उसी तरह की शुद्धात्मा संसारस्थ प्राणियों की है।

—नियमसार (४७)

कत्ता भोत्ता आदा, पोग्गलकम्मस्स होदि ववहारो।

आत्मा पुद्गल कर्मों को करनेवाला और भोगनेवाला है, यह मात्र व्यवहार-दृष्टि ही है।

—नियमसार (१८)

आलंबणं च मे आदा।

मेरा आत्मा ही मेरा आलम्बन है।

—नियमसार (६६)

जो झायइ अप्पाणं, परमसमाही हवे तस्स।

जो अपनी आत्मा का एकमात्र ध्यान करता है, वह परमसमाधि का अधिकारी होता है।

—नियमसार (१२३)

अप्पा खलु सययं रक्खियव्वो, सव्विंदिएहिं सुसमाहिएहिं।
अरक्खिओ जाइपहं उवेइ, सुरक्खिओ सव्वदुहाण मुच्चइ॥

सब इन्द्रियों को सुसमाहित कर आत्मा की सतत रक्षा करनी चाहिए। अरक्षित आत्मा जाति-पथ (जन्म-मरण) को प्राप्त होता है और सुरक्षित आत्मा सब दुःखों से मुक्त हो जाता है।

—दशवैकालिक-चूलिका (२/१६)

चित्तं तिकालविसयं।

आत्मा की चेतना-शक्ति त्रिकाल है।

—दशवैकालिक-निर्युक्तिभाष्य (१६)

णिच्चो अविणासि सासओ जीवो।

आत्मा नित्य है, वह अविनाशी है तथा शाश्वत है।

—दशवैकालिक-निर्युक्तिभाष्य (४२)

अणिंदिय गुणं जीवं दुन्नेयं मंसचक्खुणा।

आत्मा के गुण अनिन्द्रिय—अमूर्त हैं। इसीलिए इसे इन चर्मचक्षुओं से देख पाना कठिन है।

—दशवैकालिक-निर्युक्तिभाष्य (३४)

हेउ प्पभवो बन्धो।

आत्मा को कर्म का बन्ध मिथ्यात्व आदि हेतुओं से होता है।

—दशवैकालिक-निर्युक्तिभाष्य (४६)

अप्पाणं हवइ सम्मत्तं

निश्चय दृष्टि से आत्मा ही सम्यक्त्व है।

—दर्शनपाहुड़ (२)

णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेवहि करोदि।
वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं॥

निश्चय दृष्टि से तो आत्मा अपने को ही करता है और अपने को ही भोगता है।

—समयसार (८३)

अण्णाण मओ जीवो कम्माणं कारणो होदि।

अज्ञानी आत्मा ही कर्मों का कर्त्ता होता है।

—समयसार (९२)

जं कुणदि सम्मदिट्ठी, तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं।

सम्यग्दृष्टि आत्मा जो कुछ भी करता है, वह उसके कर्मों की निर्जरा के लिए ही होता है।

—समयसार (१९३)

आदा खु मज्झमाणं, आदा मे दंसणं चरित्तं च।

मेरी अपनी आत्मा ही ज्ञान है, दर्शन है और चारित्र है।

—समयसार (२७७)

कह सो घिप्पई अप्पा?
पण्णाए सो उ घिप्पए अप्पा।

यह आत्मा किस तरह जाना जा सकता है? यह आत्मा भेद-विज्ञान-रूप बुद्धि से ही जाना जा सकता है।

—समयसार (२९६)

अत्थि मे आया उववाइए।

मेरा आत्मा औपपातिक है, कर्मानुसार जन्मान्तर में संक्रमण करनेवाला है।

—आचारांग (१/१/१/५)

ते आत्तओ पासइ सव्वलोए।

तत्त्वदर्शी समग्र प्राणी-जगत् को अपने जैसा ही देखता है।

—सूत्रकृताङ्ग (१/१२/१८)

सव्वायरमुवउत्तो, अत्तोवम्मेण कुणसु दयं।

पूर्ण आदर और सावधानीपूर्वक आत्मोपम की भावना से सब जीवों पर दया करो।

—भक्तपरिज्ञा (६३)

हत्थिस्स य कुंथुस्स य समे चेव जीवे।

आत्मा की दृष्टि से हाथी और कुंथुआ—दोनों में आत्मा एक सदृश है।

—भगवतीसूत्र (७/८)

आयओ बहिया पास।

अपने समान ही बाहर में दूसरों को भी देख।

—आचारांग (१/३/३)

जह मे इट्ठाणिट्ठे सुहासुहे तह सव्वजीवाणं।

जिस प्रकार इष्ट-अनिष्ट और सुख-दुःख मुझे होते हैं, उसी प्रकार ही सब जीवों को होते है।

—आचारांगचूर्णि (१/१/६)

आपत्ति

पुरिसाण आवयच्चिय वहेइ कसवट्टए सतुल्लत्तं।
एयाए निवडिओ जो, खलु कणयं व सो जच्चो॥

पुरुषों के लिए आपत्ति ही कसौटी की तुलना धारण करती है। इस आपत्ति रूपी कसौटी पर खरा उतरा हुआ व्यक्ति ही वास्तव में स्वर्ण की तरह खरा है, शुद्ध है।

—पाइअकहासंगहो (४०)

आलसी

नालस्सेण समं सुक्खं ।

आलस्य-रहित होने के समान सुख नहीं है ।

—बृहत्कल्पभाष्य (३३८५)

आश्रव

आसवदारेहिं सया, हिंसाईएहिं कम्ममासवइ ।
जह नावाइ विणासो, छिद्देहि जलं उयहिमज्झे ॥

हिंसा आदि आस्रवद्वारों से सदा कर्मों का आस्रव होता रहता है, जैसा कि समुद्र में जल के आने से सछिद्र नौका डूब जाती है ।

—मरणसमाधि (६१८)

मिच्छत्ताविरदी वि य, कसाय जोगा य आसवा होंति ।

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग—ये आस्रव के हेतु हैं ।

—जयधवला (१/६/५४)

आहार-विचार

अइनिद्धेण विसया उइज्जंति ।

अतिस्निग्ध आहार करने से विषय-कामना उद्दीप्त हो उठती है ।

—आवश्यक-निर्युक्ति (१२६३)

गिलाएज्जा, आहारस्सेव अन्तियं ।

यदि तुम रोगी हो तो, आहार का त्याग कर दो ।

—आचारांग (८/८/३)

हियाहारा मियाहारा, अप्पाहारा य जे नरा ।
न ते विज्जा तिगिच्छंति, अप्पाणं ते तिगिच्छगा ॥

जस्स खलु दुप्पणिहि आणि इंदिआइं तवं चरंतस्स।
सो हीरइ असहीणेहिं सारही व तुरंगेहिं॥

जिस साधक की इन्द्रियाँ, कुमार्गगामिनी हो गई है, वह दुष्ट घोड़ों के वश में पड़े सारथि के समान उत्पथ में भटक जाता है।

—दशवैकालिक-निर्युक्ति (२९८)

मणणवइए मरणे, मरंति सेणाइं इंदियमयाइं।

मन रूपी सेनापति के मरने पर इन्द्रिय रूपी सेनाएँ तो स्वयं ही मर जाती हैं।

—आराधना-सार (६०)

सुच्चिय सूरो सो चेव, पंडिओ तं पसंसिमो निच्चं।
इंदियचोरेहिं सया, न लुंटिअं जस्स चरणधणं॥

वही सच्चा शूरवीर है, वही सच्चा पण्डित है और उसी की हम नित्य प्रशंसा करते हैं, जिसका चारित्र रूपी धन इन्द्रियों रूपी चोरो ने लूँटा नहीं है, सदा सुरक्षित है।

—इन्द्रियपराजयशतक (१)

गुणकारिआइं धणियं, धिइरज्जुनियंतिआइं तुह जीव।
निययाइं इंदियाइं, वल्लिनिअत्ता तुरंगुव्व॥

वश किया हुआ बलिष्ठ घोड़ा जिस प्रकार बहुत लाभदायक है, उसी प्रकार धैर्यरूपी लगाम द्वारा वश की हुई स्वयं की इन्द्रियाँ तुझे बहुत ही लाभदायक होगी। अतः इन्द्रियों को वश में कर, उनका निग्रह करो।

—इन्द्रियपराजयशतक (६४)

नाणेण य झाणेण य, तवोबलेण य बला निरुभंति।
इंदियविसयकसाया, धरिया तुरग व रज्जूहिं॥

ज्ञान, ध्यान और तपोबल से इन्द्रिय-विषयों और कषायों को बलपूर्वक रोकना चाहिये, जैसे कि लगाम के द्वारा घोड़ों को बलपूर्वक रोका जाता है।

—मरण-समाधि (६२१)

एगप्पा अजिए सत्तू, कसाया इन्द्रियाणि य।

अविजित कषाय और इन्द्रियाँ ही आत्मा की शत्रु है।

—उत्तराध्ययन (२३/३८)

चक्खिदियदुद्दंतत्तणस्स, अह एत्तिओ हवइ दोसो।
जं जलणंमि जलंते, पडइ पयंगो अबुद्धीओ॥

चक्षु-इन्द्रिय की आसक्ति का इतना बुरा परिणाम होता है कि मूर्ख पतंगा जलती हुई अग्नि में गिरकर मर जाता है।

—ज्ञाताधर्मकथा (१/१७/४)

मोहं जंति नए असंवुडा।

इन्द्रियों के दास असंवृत्त मानव हिताहित निर्णय के क्षणों में मोहमुग्ध हो जाते हैं।

—सूत्रकृताङ्ग (१/२/१/२०)

सपरं बाधासहियं, विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं।
जं इन्दियेहिं लद्धं, तं सोक्खं दुक्खमेव तहा॥

जो सुख इन्द्रियों से उपलब्ध होता है, वह पराश्रित, बाधासहित, विच्छिन्न बन्ध का कारण और विषम होने से यथार्थ में सुख नहीं अपितु दुःख ही है।

—प्रवचनसार (१/७६)

इंदियचवलतुरंग, दुग्गइमग्गाणुधाविरे निच्चं।

इन्द्रिय रूपी चपल घोड़े नित्य दुर्गति-मार्ग पर दौड़नेवाले हैं।

—इन्द्रियपराजय-शतक (२)

अजिइंदिएहिं चरणं, कट्ठं व घुणेहि कीरइ असारं।

काष्ठ में जन्म लेनेवाले घुण नामक जन्तु जिस तरह काष्ठ को ही अन्दर से असार कर देता है उसी तरह इन्द्रियाराम बने मनुष्यों के चरित्र को इन्द्रियाँ असार-निष्फल कर देती है।

—इन्द्रियपराजय-शतक (४)

खुद्दुवि मग्गिज्जंतो, कत्थवि कयलीइ नत्थि जह सारो।
इंदिय विसएसु तहा, नत्थि सुहं सुट्ठुवि गविट्ठं॥

जैसे केले के वृक्ष में अच्छी तरह से देखने पर भी कोई सार दिखाई नहीं देता, वैसे ही इन्द्रियों के विषयों में भी शोध करने के पश्चात् लेश मात्र भी सुख दृष्टिगोचर नहीं होता।

—इन्द्रियपराजय-शतक (३५)

उत्तराधिकारी

महिलाणसु बहुयाणवि, अज्ञाओ इह समत्त घर सारो।
रायं पुरुसेहिं णिज्जइ, जणेवि पुरिसो जहिं णत्थि॥

स्त्रियाँ कितनी ही चतुर क्यों न हों, अगर उसके घर में पुरुष नहीं, या उत्तराधिकारी पुत्र नहीं तो राजपुरुष उनके घर से संचित धन ले जाकर राज-कोष में जमा कर लेते हैं।

—सार्थपोसहसज्झायसूत्र (१८)

उद्बोधन

बोही य से नो सुलहा पुणो पुणो।

सद्बोध प्राप्त करने का अवसर बारम्बार मिलना सुलभ नहीं है।

—दशवैकालिक (१/१४)

जरा जाव न पीलेइ, वाही जाव न वड्ढई।
जाविंदिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे॥

जब तक बुढ़ापा नहीं सताता, जब तक व्याधियाँ नहीं बढ़ती और जब तक इन्द्रियाँ क्षीण नहीं हो जाती, तब तक धर्म का आचरण कर लेना चाहिये।

—दशवैकालिक (८/३६)

नो सुलहा सुगई य पेच्चाओ।

मृत्यु के पश्चात् सद्गति सुलभ नहीं है।

—सूत्रकृताङ्ग (१/२/१/३)

मा पच्छ असाधुताभवे,
अच्चे ही अणुसास अप्पगं।

भविष्य में तुम्हें कष्ट न भोगना पड़े, इसलिए अभी से अपने को विषय-वासना से दूर रख कर अनुशासित करो।

—सूत्रकृताङ्ग (१/२/३/७)

सुवइ य अजगरभूतो, सुयंपि से णासती अमयभूयं।
होहिति गोणभूयो, णट्ठंमि सुये अमयभूये॥

जो अजगर के सदृश सोया रहता है, उसका अमृत-स्वरूप ज्ञान क्षीण हो जाता है और अमृत-स्वरूप ज्ञान के क्षीण होने पर इन्सान एक प्रकार से निरा बैल बन जाता है।

—निशीथभाष्य (५३०५)

वओ अच्चेति जोव्वणं च।

अवस्था और यौवन प्रतिक्षण बीता जा रहा है।

—आचारांग (१/२/१)

मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि तं चेव झाहि तं चेव।
तत्थेव विहर णिच्चं, मा विहरसु अन्नदव्वेसु॥

ओ भव्य! तू मोक्षमार्ग में ही आत्मा को स्थापित कर। उसी का ध्यान धर, उसी का अनुभव कर और उसी में विहार कर। अन्य द्रव्यों में विचरण मत कर।

—समयसार (४१२)

असंखयं जीविय मा पमायए।

जीवन-धागा टूट जाने पर पुनः जुड़ नहीं सकता। इसलिए प्रमाद मत करो।

— उत्तराध्ययन (४/१)

दुमपत्तए पण्डुयए जहा, निवडइ राइगणाण अच्चए।
एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम मा पमायए॥

रात्रियाँ बीतने पर वृक्ष का पका हुआ पान जिस प्रकार गिर जाता है, उसी प्रकार मनुष्य का जीवन एक दिन समाप्त हो जाता है, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

—उत्तराध्ययन (१०/१)

तिण्णोहु सि अण्णवं महं,
किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ!
अभितुर पारं गमित्तए।

तू महासागर को तैर चुका है, अब तट पर आकर क्यों बैठ गया? उस पार पहुँचने के लिए शीघ्रता कर।

—उत्तराध्ययन (१०/३४)

मा वन्तं पुणो वि आइए।

वमन किये हुए काम-भोगों को फिर से मत पी।

—उत्तराध्ययन (१०/२९)

अवसोहिय कण्टगापहं,
ओइण्णो सि पहं महालयं,
गच्छसि मग्गं विसोहिया।

काँटों से भरे संकीर्ण मार्ग को छोड़ कर तू विशाल सत्पथ पर चला आया है। दृढ़ निश्चय के साथ उसी मार्ग पर चल।

—उत्तराध्ययन (१०/३२)

कालेण कालं विहरेज्ज रट्ठे, बलाबलं जाणिय अप्पणो य।

अपने बलाबल को तौलकर समयोचित कर्त्तव्य का पालन करते हुए राष्ट्र/विश्व में विहरण करो।

—उत्तराध्ययन (२१/१४)

अप्पणा अणाहो सन्तो, कहं नाहो भविस्ससि?

जब तू स्वयं अनाथ है, तो दूसरों का नाथ कैसे हो सकता है?

—उत्तराध्ययन (२०/१२)

किं तुमंधो सि किंवा सि धत्तूरिओ।
अहव किं सन्निवाएण आऊरिओ॥
अमयसमधम्म जं विस व अवमन्नसे।
विसयविस विसम अमियं व बहु मन्नसे॥

हे मनुष्य! क्या तूँ अन्धा बन गया है? या क्या तूँ ने धतूरा-पान किया है? अथवा क्या तूँ सन्निपात रोग से पागल बन गया है? कि जिससे अमृत समान धर्म को तूँ विषवत् तिरस्कृत करता है! और भवोभव परिभ्रमण कराने वाले विषय रूपी विष को अमृत के समान पी रहा है!

—इन्द्रियपराजयशतक (७४)

तं जइ इच्छसि गंतुं, तीरं भवसायरस्स घोरस्स।
तो तव संजमभंडं, सुविहिय! गिण्हाहि तुरंतो॥

हे सुविहित! यदि तू घोर भवसमुद्र के पार तट पर जाना चाहता है, तो शीघ्र ही तप-संयम रूपी नौका को ग्रहण कर।

—मरण-समाधि (२०२)

एगमप्पाणं संपेहाए धुणे सरीरगं।

आत्मा को देह से पृथक् जानकर भोगलिप्त देह को धुन डालो।

—आचारांग (१/४/३)

से जाणमजाणं वा कट्टुं आहम्मिअं पयं।
संवरे खिप्पमप्पाणं, बीयं तं न समायरे॥

जान या अजान में कोई अधर्म कार्य हो जाय तो अपनी आत्मा को उससे तुरन्त हटा लेना चाहिए, फिर दूसरी बार वह कार्य न किया जाय।

—दशवैकालिक (८/३१)

मा मा मारेसु जोए मा परिहव सज्जणे करेसु दयं।
मा होह कोवणा भो खलेसु मित्तिं च मा कुणह॥

हे मानव! जीवों को मत मारो, उन पर दया करो, सज्जनो को अपमानित मत करो, क्रोधी मत होओ और दुष्टों से मित्रता न करो।

—कुवलयमाला (अनुच्छेद ८५)

धम्मम्मि कुणह वसणं राओ सत्थेसु णिउणभणिएसु।
पुणरुत्तं च्च कलासु ता गणणिज्जो सुयणमज्झे॥

शास्त्रों में विद्वानो के वचनों में एवं धर्म का अभ्यास करो एवं कलाओं का वार-बार पुनरावर्तन करो, तब सज्जनों के बीच में गिनने योग्य होवोगे।

—कुवलयमाला (अनुच्छेद ८५)

थेवं व थेवं धम्मं करेह जइ ता वहुं न सक्केह।
पेच्छह महानईयो विन्दुहिं समुद्दभूयाओ॥

यदि अधिक न कर सको तो थोड़ा-थोड़ा ही धर्म करो। बूंद-बूंद से समुद्र वन जानेवाली महानदियों को देखो।

—अर्हत्प्रवचन (१६/१४)

उन्मार्गी

उम्मग्गठिओ इक्कोऽवि, नासए भव्वसत्त संघाए।
तंमग्गमणुसरंते, जह कुतारो नरो होइ॥

जिसको भली प्रकार तैरना नहीं आता जैसे वह स्वयं डूबता है और साथ में अपने साथियों को भी ले डूबता है उसी प्रकार उलटे मार्ग पर चलता हुआ एक व्यक्ति भी कई को ले डूबता है।

—गच्छाचार-प्रकीर्णक (३०)

उपदेश

उवएस सहस्सेहिं, वोहिज्जंतो ण वुज्झई कोई।

किसी-किसी मनुष्य को हजारों वार उपदेश देने पर भी वोध नहीं होता है। —सार्थपोसहसज्झायसूत्र (३०)

ण वि सक्कमणज्जो, अणज्जभासं विणा उ गाहेउं।

अनार्य पुरुष को अनार्य भाषा के विना समझाना सम्भव नहीं है।

—समयसार (२)

तओ दुस्सन्नप्पा-दुट्ठे, मूढ़े, वुग्गाहिने।

दुष्ट को, मूर्ख को, और बहके हुए को प्रतिबोध देना बहुत कठिन है।

—स्थानाङ्ग (३/४)

पत्थं हिदयाणिट्ठं पि, भण्णमाणस्स सगणवासिस्स।
कडुगं व ओसहं तं, महुर विवायं हवइ तस्स॥

अपने गणवासी साथी द्वारा कही हुई हितकर बात भले ही वह मन को प्रिय न लगे ; कटुक औषध की तरह परिणाम में मधुर होती है।

—भगवती-आराधना (३५७)

उपदेशक

ससमय-परसमयविऊ, गंभीरो दित्तिमं सिवो सोमो।
गुणसयकलिओ जुत्तो, पवयणसारं परिकहेउं॥

स्वसमय व परसमय का ज्ञाता गम्भीर दीप्तिमान, कल्याणकारी और सौम्य है तथा सैकड़ों गुणों से युक्त है वही निर्ग्रन्थ-प्रवचन के सार को कहने का अधिकारी है।

—बृहत्कल्पभाष्य (२४४)

करुणा

करुणाए जीवसहावस्स।

करुणा जीव का स्वभाव है।

—धवला (१३/५)

कर्म

जं जं समयं जीवो, आविसइ जेण जेण भावेण।
सो तंमि तंमि समए, सुहासुहं बंधए कम्मं॥

जिस समय जीव जैसे-जैसे भाव करता है, वह उस समय वैसे ही शुभ-अशुभ कर्मों का बन्ध करता है।

—उपदेशमाला (२४)

कम्मायणेहिं जीवा नेरइय जाव उववज्जंति।

जीव अपने ही कर्मों के कारण नरक यावत् देवयोनि में उत्पन्न होते हैं।

—अन्तकृद्दशांग (६/१५/१८)

कम्मणिमित्तं जीवो हिंडदि संसारघोरकांतारे।

यह जीव कर्म के निमित्त से संसार रूपी विशाल वन में भटकता रहता है।

—बारहअणुवेक्खा (३७)

कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि।

किये हुए कर्मों को भोगे बिना छुटकारा नहीं होता है।

—उत्तराध्ययन (४/३)

गाढ़ा य विवाग कम्मुणो।

पूर्वसंचित कर्मों के परिणाम-विपाक अत्यन्त प्रगाढ़ और भयानक होते हैं।

—उत्तराध्ययन (१०/४)

कत्तारमेव अणुजाणइ कम्मं।

कर्म हमेशा कर्त्ता का अनुगमन करता है।

—उत्तराध्ययन (१३/२३)

पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं,
जं से पुणो होइ दुहं विवागे।

जो प्रद्वेष-युक्त चित्तवाला व्यक्ति कर्म का बन्ध करता है, वही परिणाम-काल में उसके लिए दुःख का हेतु बनता है।

—उत्तराध्ययन (३२/३३)

जमिणं जगई पुढो जगा, कम्मेहिं लुप्पन्ति पाणिणो।
सयमेव कडेहिं गाहई, नो तस्स मुच्चेज्जऽपुट्ठयं॥

इस विश्व में जितने भी प्राणी हैं, सब अपने कृत कर्मों के कारण ही दुःखी होते हैं। उन्होंने जो कर्म किये हैं, जिन संस्कारों की छाप अपने पर उन्होंने पड़ने दी है, उनका फल भोगे बिना या अनुभव किये बिना उनका छुटकारा नहीं है।

—सूत्रकृताङ्ग (१/२/१/४)

सव्वे सयकम्मकप्पिया ।

कृत कर्मों के कारण ही सभी प्राणी विविध योनियों में भटकते हैं।

—सूत्रकृताङ्ग (१/२/३/१८)

जं जारिसं पुव्वमकासि कम्मं,
तमेव आगच्छति संपराए।

भूतकाल में जैसा भी कुछ कर्म किया गया है, भविष्य में वह उसी रूप में उपस्थित होता है।

—सूत्रकृताङ्ग (१/५/२/२३)

तुट्टंति पावकम्माणि, नवं कम्ममकुव्वओ।

उसके पूर्वबद्ध पापकर्म भी विनष्ट हो जाते हैं, जो नये कर्मों का बन्धन नहीं करता।

—सूत्रकृताङ्ग (१/१५/६)

कम्मंचिणंति सवसा, तस्सुदयम्मि उ परव्वसा होंति ॥
रुक्खं दुरुहइ सवसो, विगलइ स परव्वसो तत्तो ॥

जीव कर्मों का बन्ध करने में तो स्वतन्त्र रहता है, लेकिन उनका उदय आने पर भोगने मे वह पराधीन हो जाता है। जैसे कोई स्वेच्छा से वृक्ष पर चढ़ तो जाता है किन्तु प्रमादवश नीचे उतरते समय (गिरते समय) परवश हो जाता है।

—बृहत्कल्पभाष्य (२६८६)

कम्मवसा खलु जीवा, जीववसाइं कहिंचि कम्माइं।
कत्थइ धणिओ बलवं, धारणिओ कत्थई बलवं ॥

कहीं जीव कर्म के अधीन होते हैं तो कहीं कर्म जीव के अधीन होते हैं।

जिस समय जीव जैसे-जैसे भाव करता है, वह उस समय वैसे ही शुभ-अशुभ कर्मों का वन्ध करता है।

—उपदेशमाला (२४)

कम्मायरणेहिं जीवा नेरइय जाव उववज्जंति।

जीव अपने ही कर्मों के कारण नरक यावत् देवयोनि में उत्पन्न होते हैं।

—अन्तकृद्दशांग (६/१५/१८)

कम्मणिमित्तं जीवो हिंडदि संसारघोरकांतारे।

यह जीव कर्म के निमित्त से संसार रूपी विशाल वन में भटकता रहता है।

—वारहअणुवेक्खा (३७)

कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि।

किये हुए कर्मों को भोगे विना छुटकारा नहीं होता है।

—उत्तराध्ययन (४/३)

गाढ़ा य विवाग कम्मुणो।

पूर्वसंचित कर्मों के परिणाम-विपाक अत्यन्त प्रगाढ़ और भयानक होते हैं।

—उत्तराध्ययन (१०/४)

कत्तारमेव अणुजाणइ कम्मं।

कर्म हमेशा कर्त्ता का अनुगमन करता है।

—उत्तराध्ययन (१३/२३)

पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं,
जं से पुणो होइ दुहं विवागे।

जो प्रद्वेप-युक्त चित्तवाला व्यक्ति कर्म का वन्ध करता है, वही परिणाम-काल में उसके लिए दुःख का हेतु वनता है।

—उत्तराध्ययन (३२/३३)

जमिणं जगई पुढो जगा, कम्मेहिं लुप्पन्ति पाणिणो।
सयमेव कडेहिं गाहई, नो तस्स मुच्चेज्जऽपुट्ठयं॥

इस विश्व में जितने भी प्राणी हैं, सब अपने कृत कर्मों के कारण ही दुःखी होते हैं। उन्होने जो कर्म किये हैं, जिन संस्कारो की छाप अपने पर उन्होंने पड़ने दी है, उनका फल भोगे बिना या अनुभव किये बिना उनका छुटकारा नहीं है।

—सूत्रकृताङ्ग (१/२/१/४)

सव्वे सयकम्मकप्पिया।

कृत कर्मों के कारण ही सभी प्राणी विविध योनियो में भटकते हैं।

—सूत्रकृताङ्ग (१/२/३/१८)

जं जारिसं पुव्वमकासि कम्मं,
तमेव आगच्छति संपराए।

भूतकाल में जैसा भी कुछ कर्म किया गया है, भविष्य में वह उसी रूप में उपस्थित होता है।

—सूत्रकृताङ्ग (१/५/२/२३)

तुट्टंति पावकम्माणि, नवं कम्ममकुव्वओ।

उसके पूर्वबद्ध पापकर्म भी विनष्ट हो जाते हैं, जो नये कर्मों का बन्धन नहीं करता।

—सूत्रकृताङ्ग (१/१५/६)

कम्मंचिणंति सवसा, तस्सुदयम्मि उ परव्वसा होंति॥
रुक्खं दुरुहइ सवसो, विगलइ स परव्वसो तत्तो॥

जीव कर्मों का बन्ध करने में तो स्वतन्त्र रहता है, लेकिन उनका उदय आने पर भोगने में वह पराधीन हो जाता है। जैसे कोई स्वेच्छा से वृक्ष पर चढ़ तो जाता है किन्तु प्रमादवश नीचे उतरते समय (गिरते समय) परवश हो जाता है।

—बृहत्कल्पभाष्य (२६८६)

कम्मवसा खलु जीवा, जीववसाइं कहिंचि कम्माइं।
कत्थइ धणिओ बलवं, धारणिओ कत्थई बलवं॥

कहीं जीव कर्म के अधीन होते हैं तो कहीं कर्म जीव के अधीन होते हैं।

जिस प्रकार कही ऋण देते समय तो धनी बलवान होता है तो कही ऋण लौटाते समय कर्जदार बलवान् होता है।

—बृहत्कल्पभाष्य (२६९०)

अधुवे असासयम्मि, संसारम्मि दुक्खपउराए।
किं नाम होज्ज तं कम्मयं, जेणाऽहं दुग्गइं न गच्छेज्जा॥

अध्रुव, अशाश्वत और दुःखप्रचुर संसार मे ऐसा कौन-सा कर्म है, जिससे मैं दुर्गति न जाऊँ।

—उत्तराध्ययन (८/१)

जो इंदियादिविजई, भवीय उवओगमप्पगं झादि।
कम्मेहिं सो ण रंजदि, किह तं पाणा अणुचरंति॥

जो इन्द्रिय आदि पर विजय प्राप्त कर उपयोगमय—ज्ञानदर्शनमय आत्मा का ध्यान करता है, वह कर्मों से नही बँधता। अतः पौद्गलिक प्राण उसका अनुसरण कैसे कर सकते हैं? फिर उसे नया जन्म धारण नही करना पड़ता।

—प्रवचनसार (२/५९)

कम्मं पुण्णं पावं, हेऊ तेसिं च होंति सच्छिदरा।
मंदकसाया सच्छा, तिव्वकसाया असच्छा हु॥

कर्म दो प्रकार का है। पुण्यरूप और पाप रूप। पुण्यकर्म के बन्ध का हेतु स्वच्छ या शुभभाव है और पापकर्म के बन्ध का हेतु अस्वच्छ या अशुभ भाव है। मन्दकषायी जीव स्वच्छ भाववाले होते हैं तथा तीव्र कषायी जीव अस्वच्छ भाववाले।

—कार्तिकेयानुप्रेक्षा (९०)

कम्मत्तणेण एक्कं, दव्वं भावो त्ति होदि दुविहं तु।
पोग्गलपिंडो दव्वं, तस्सत्ती भाव कम्मं तु॥

सामान्य की अपेक्षा कर्म एक है और द्रव्य तथा भाव की अपेक्षा से दो है। कर्म पुद्गलो का पिण्ड द्रव्यकर्म और उसमें रहनेवाली शक्ति या उनके निमित्त से जीव में होनेवाले राग-द्वेषरूप विकार भाव-कर्म है।

—गोम्मटसार, कर्मकाण्ड (६)

नाणस्सावरणिज्जं, दंसणावरणं तहा।
वेयणिज्जं तहामोहं, आउकम्मं तहेव य॥
नामकम्मं च गोयं च, अंतरायं तहेव य।
एवमेयाइं कम्माइं, अट्ठेव उ समासओ॥

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय—ये संक्षेप में आठ कर्म हैं।

—उत्तराध्ययन (६४-६५)

कर्मण्यता

निय वसणे होह वज्जघडिय।

अपने कार्य में वज्र के बने हुए की तरह दृढ़ होओ।

—कुवलयमाला (अनुच्छेद ८५)

सिग्घं आरूह कज्जं पारद्धं मा कहं पि सिढ़िलेसु
पारद्ध सिढिलियाइं कज्जाइं पुणो न सिज्झन्ति॥

कार्य तेजी से करो, प्रारम्भ किये गये कार्य किसी तरह भी शिथिल मत करो क्योंकि प्रारम्भ किये गए तथा फिर शिथिल किये गए कार्य सिद्ध नहीं होते हैं।

—वज्जालग्ग (६/२)

कर्मबन्ध

अज्झवसिएण बंधो, सते मारेज्ज मा थ मारेज्ज।
एसो बंधसमासो, जीवाणं णिच्छयणयस्स॥

हिंसा करने के अध्यवसाय से ही कर्म का बंध होता है, फिर कोई जीव मरे या न मरे। निश्चय दृष्टि से संक्षेप में जीवों के कर्म-बंध का यही स्वरूप है।

—जयधवला (१/४/६४)

जिस प्रकार कहीं ऋण देते समय तो धनी बलवान होता है तो कहीं ऋण लौटाते समय कर्जदार बलवान् होता है।

—बृहत्कल्पभाष्य (२६९०)

अधुवे असासयम्मि, संसारम्मि दुक्खपउराए।
किं नाम होज्ज तं कम्मयं, जेणाऽहं दुग्गइं न गच्छेज्जा॥

अध्रुव, अशाश्वत और दुःखप्रचुर संसार मे ऐसा कौन-सा कर्म है, जिससे मैं दुर्गति न जाऊँ।

—उत्तराध्ययन (८/१)

जो इंदियादिविजई, भवीय उवओगमप्पगं झादि।
कम्मेहिं सो ण रंजदि, किह तं पाणा अणुचरंति॥

जो इन्द्रिय आदि पर विजय प्राप्त कर उपयोगमय—ज्ञानदर्शनमय आत्मा का ध्यान करता है, वह कर्मों से नही बँधता। अतः पौद्गलिक प्राण उसका अनुसरण कैसे कर सकते हैं? फिर उसे नया जन्म धारण नहीं करना पड़ता।

—प्रवचनसार (२/५९)

कम्मं पुण्णं पावं, हेऊ तेसिं च होंति सच्छिदरा।
मंदकसाया सच्छा, तिव्वकसाया असच्छा हु॥

कर्म दो प्रकार का है। पुण्यरूप और पाप रूप। पुण्यकर्म के बन्ध का हेतु स्वच्छ या शुभभाव है और पापकर्म के बन्ध का हेतु अस्वच्छ या अशुभ भाव है। मन्दकषायी जीव स्वच्छ भाववाले होते हैं तथा तीव्र कषायी जीव अस्वच्छ भाववाले।

—कार्तिकेयानुप्रेक्षा (९०)

कम्मत्तणेण एक्कं, दव्वं भावो त्ति होदि दुविहं तु।
पोग्गलपिंडो दव्वं, तस्सत्ती भाव कम्मं तु॥

सामान्य की अपेक्षा कर्म एक है और द्रव्य तथा भाव की अपेक्षा से दो है। कर्म पुद्गलो का पिण्ड द्रव्यकर्म और उसमें रहनेवाली शक्ति या उनके निमित्त से जीव में होनेवाले राग-द्वेषरूप विकार भाव-कर्म है।

—गोम्मटसार, कर्मकाण्ड (६)

नाणस्सावरणिज्जं, दंसणावरणं तहा।
वेयणिज्जं तहामोहं, आउकम्मं तहेव य॥
नामकम्मं च गोयं च, अंतरायं तहेव य।
एवमेयाइं कम्माइं, अट्ठेव उ समासओ॥

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय—ये संक्षेप में आठ कर्म हैं।

—उत्तराध्ययन (६४-६५)

कर्मण्यता

नियं वसणे होह वज्जघडिय।

अपने कार्य में वज्र के बने हुए की तरह दृढ़ होओ।

—कुवलयमाला (अनुच्छेद ८५)

सिग्घं आरूह कज्जं पारद्धं मा कहं पि सिढ़िलेसु
पारद्ध सिढिलियाइं कज्जाइं पुणो न सिज्झन्ति॥

कार्य तेजी से करो, प्रारम्भ किये गये कार्य किसी तरह भी शिथिल मत करो क्योंकि प्रारम्भ किये गए तथा फिर शिथिल किये गए कार्य सिद्ध नहीं होते हैं।

—वज्जालग्ग (६/२)

कर्मबन्ध

अज्झवसिएण बंधो, सत्ते मारेज्ज मा थ मारेज्ज।
एसो बंधसमासो, जीवाणं णिच्छयणयस्स॥

हिंसा करने के अध्यवसाय से ही कर्म का बंध होता है, फिर कोई जीव मरे या न मरे। निश्चय दृष्टि से संक्षेप में जीवों के कर्म-बंध का यही स्वरूप है।

—जयधवला (१/४/६४)

कलंकी

सिंचंतो वि मियंको जोण्हासलिलेण पंकयवणाइं।
तह वि अणिट्ठयरोच्चिय, सकलंको कस्स पडिहाइ।

चन्द्रमा पंकजवनों को ज्योत्सना-जल से सींचता रहता है, फिर भी वह उन्हें अप्रिय ही है। कलंकी किसे भला लगता है?

—वज्जालग्ग (५०/१२)

कल्याणकारी

णिव्वाडंताण सिवं सअलं चिअ सिवअरं तहा ताण।
णिव्वइइ किं पि जह तेवि अप्पणा विम्हअमुवेन्ति॥

स्व-पर के कल्याण को सिद्ध करते हुए मनुष्यों के लिए समग्र लोक ही अधिक कल्याणकारी हो जाता है। उनके लिए कुछ इस प्रकार सिद्ध होता है, जिससे वे स्वयं भी आश्चर्य को प्राप्त करते हैं।

—गउडवहो (७८)

कवि

इह ते जअन्ति कइणो जअमिणभो जाण सअल-परिणामं।

इस लोक में वे कवि सफल होते हैं, जिनकी वाणियों/काव्यों में सफल अभिव्यक्ति विद्यमान है।

—गउडवहो (६२)

णिअआएच्चिअवाआए अत्तणो गारवं णिवेसन्ता।
जे एन्ति पसंसंच्चिवअ जअन्ति इह ते महा-कइणो॥

स्वकीय वाणी के द्वारा ही अपने गौरव को स्थापित करते हुए जो निश्चय ही प्रशंसा प्राप्त करते हैं, वे महाकवि इस लोक में सफल होते हैं।

—गउडवहो (६३)

दोग्गच्चाम्मि वि सोक्खाइं ताण विहवे वि होन्ति दुक्खाइं ।
कव्व-परमत्थ-रसिआइं जाण जाअन्ति हिअआइं ॥

जिनके हृदय-काव्य तत्त्व के रसिक होते हैं, उन व्यक्तियों के लिए निर्धनता में भी कई प्रकार के सुख होते हैं तथा वैभव में भी कई प्रकार के दुःख होते हैं ।

—गउडवहो (६४)

बहुओ सामण्ण-मइत्तणेण ताणं परिग्गहे लोओ ।
कामं गआ पसिद्धिं सामण्ण-कई अओच्चेअ ॥

अत्यधिक लोग सामान्य मतित्व के कारण सामान्य कवियों के सम्मान में प्रशन्नतापूर्वक तत्पर रहते हैं । इसीलिए सामान्य कवि प्रसिद्धि को प्राप्त हुए ।

—गउडवहो (७५)

कह कह वि रएइ पयं मग्गं पुलएइ छेयमारुहइ ।
चारो व्व कई अत्थं घेत्तूणं कह वि निव्वहइ ॥

जिस प्रकार चोर सावधानी से पैर रखता है, भयवश इधर-उधर मार्ग देखता है, भित्ति-छिद्र अर्थात् सेंध पर चढ़ता है और किसी भी प्रकार कठि-नाई से द्रव्य ले जाता है, वैसे ही कवि सावधानी से पद-रचना करता है, वैदर्भी आदि सुकुमार तथा कठोर शैलियों का चिन्तन करता है, छेकानुप्रास की योजना करता है एवं अर्थ को लेकर कठिनाई से उसका निर्वाह करता है ।

—वज्जालग्ग (३/४)

कषाय

तं नियमा मुत्तव्वं, जत्तो उपज्जए कसायग्गी ।
तं वत्थुं धारिज्जा, जेणोवसमो कसायाणं ॥

जिससे कषाय-रूप अग्नि प्रदीप्त होती है उस काम को निश्चित छोड़ देना चाहिये और जिनसे कषाय दमन होती है, उन्हें धारण करना चाहिये ।

—गुणानुरागकुलक (११)

सव्वत्थ वि पिय-वयणं, दुव्वयणे वि खम-करणं।
सव्वेसिं गुण-गहणं, मंद कसायाण दिट्ठंता॥

सभी से प्रिय वचन बोलना, खोटे वचन बोलने पर दुर्जन को भी क्षमा करना और सभी के गुणों को ग्रहण करना—ये मन्दकषायी जीवों के उदाहरण हैं।

—कार्तिकेयानुप्रेक्षा (९१)

अप्प-पसंसण-करणं, पुज्जेसु वि दोस गहण सीलत्तं।
वेर-धरणं च सुइरं, तिव्व कसायाण लिंगाणि॥

अपनी प्रशंसा करना, पूज्य पुरुषों में भी दोष निकालने का स्वभाव होना और बहुत काल तक वैर धारण करना—ये तीव्र कषायी जीवों के चिह्न हैं।

—कार्तिकेयानुप्रेक्षा (९२)

कोहं माणं च मायं च लोभं च पाववड्ढणं।
वमे चत्तारि दोसे उ, इच्छंतो हियमप्पणो॥

क्रोध, मान, माया और लोभ—ये पाप को बढ़ानेवाले हैं। अतः आत्मा का हित चाहनेवाला साधक इन चारों कषाय को छोड़ दे।

—दशवैकालिक (८/३६)

कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयनासणो।
माया मित्ताणि नासेइ, लोहो सव्व विणासणो॥

क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का नाश करनेवाला है, माया मैत्री का विनाश करती है और लोभ सब (प्रीति, विनय और मैत्री) का नाश करनेवाला है।

—दशवैकालिक (८/३७)

कोहो य माणो य अणिग्गहीया माया य लोभो य पवड्ढमाणा।
चत्तारि एए कसिणा कसाया, सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स॥

अनिग्रहीत क्रोध और मान, प्रवर्द्धमान माया और लोभ—ये चारों संक्लिष्ट कषाय पुनर्जन्मरूपी वृक्ष की जड़ों का सिंचन करते हैं।

—दशवैकालिक (८/३९)

उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे।
माणं चज्जवभावेण, लोभं संतोसओ जिणे॥

उपशम (शान्ति) से क्रोध का हनन करे, मृदुता से मन को जीते, ऋजुभाव से माया को और सन्तोष से लोभ को जीते।

—दशवैकालिक (८/३८)

कोहं च माणं च तहेव मायं, लोभं चउत्थं अज्झत्थदोसा।
एयाणिवन्ता अरहा महेसी, न कुव्वई पाव न कारवेई॥

क्रोध, मान, माया, एवं लोभ—ये चारों अन्तरात्मा के महान् दोष हैं। इनका पूर्णरूप से परित्याग करनेवाले अर्हन्त महर्षि न स्वयं पाप करते हैं और न दूसरों से करवाते हैं।

—सूत्रकृताङ्ग (१/६/२६)

अणथोवं वणथोवं, अग्गी थोवं कसाय थोवं च।
ण हु भेवीससियव्वं, थोवं पि हु ते बहुँ होइ॥

ऋण, घाव, अग्नि, और कषाय—इन चारों का यदि थोड़ा-सा अंश भी है तो उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। ये थोड़े भी समय पर बहुत विस्तृत हो जाते हैं।

—आवश्यक-निर्युक्ति (१२०)

संसारस्स उ मूलं कम्मं, तस्स वि हुंति य कसाया।

विश्व का मूल है, 'कर्म' और कर्म का मूल है, 'कषाय'।

—दशवैकालिक-निर्युक्ति (१८६)

सामन्नमणुचरंतस्स कसाया जस्स उक्कडा होंति।
मन्नामि उच्छुफुल्लं व निप्फलं तस्स सामन्नं॥

श्रमण-धर्म का अनुचरण करते हुए भी जिसके क्रोध आदि कषाय उत्कट हैं तो उसका श्रमणत्व वैसा ही निरर्थक है जैसा कि ईख का फूल।

—दशवैकालिक-निर्युक्ति (३०१)

जस्स वि अ दुप्पणिहिआ होंति कसाया तवं चरंतस्स।
सो वालतवस्सीवि व गयण्हाणपरिस्समं कुणइ॥

वह तपस्वी, बाल तपस्वी है जिसने कषायो को निगृहीत नहीं किया। उसके तप रूप में किये गये सब कायकष्ट गज-स्नानवत् व्यर्थ हैं।

—दशवैकालिक-निर्युक्ति (३००)

जं अज्जियं चरित्तं, देसूणाय वि पुव्वकोडीए।
तं पि कसाइयमेत्तो, नासेइ नरो मुहुत्तेणं॥

देशोनकोटिपूर्व की साधना के द्वारा जो चारित्र उपार्जन किया है वह क्षण भर के ज्वलित कषाय से भस्म हो जाता है।

—निशीथ-भाष्य (२७९३)

एगप्पा अजिए सत्तू कसाया।

अविजित आत्मा ही एक अपना शत्रु है और अविजित कषाय ही आत्मा का शत्रु है।

—उत्तराध्ययन (२३/३८)

अहे वयइ कोहेणं, माणेणं अहमा गई।
माया गइ पडिग्घाओ, लोभाओ दुहओ भयं॥

मनुष्य क्रोध से अधोगति में जाता है, मान से अधमगति होती है, माया से सुगति का विनाश होता है और लोभ से दोनों प्रकार का अर्थात् ऐहिक और पारलौकिक भय होता है।

—उत्तराध्ययन (६/५४)

कसाया अग्गिणो वुत्ता, सुयसीलतवो जलं।

कषायों को अग्नि कहा गया है। उसे बुझाने के लिए ज्ञान, शील और तप शीतल जल है।

—उत्तराध्ययन (२३/५३)

अकसायं खु चरित्तं, कसायसहिओ न संजओ होइ।

अकषाय ही चारित्र है। अतः कषाय-भाव रखनेवाला संयमी नहीं होता है।

—बृहत्कल्पभाष्य (२७१२)

उवसामं पुवणीता, गुणमहत्ता जिणचरित्तसरिसं पि।
पडिवातेति कसाया, किं पुण सेसे सरागत्थे ॥

महागुणी मुनि के द्वारा उपशान्त किये हुए कषाय जिनेश्वरदेव के समान चरित्रवाले उस उपशमक वीतराग को भी गिरा देते हैं, तब सराग मुनियों का तो कहना ही क्या ?

—विशेषावश्यक-भाष्य (१३०३)

कामना

कामा दुरतिक्कम्मा।

कामनाओं का पार पाना बहुत कठिन है।

—आचाराङ्ग (१/२/५)

कामे कमाही कमीयं खु दुक्खं।

इच्छाओं का परित्याग ही कष्टों को दूर करना है।

—दशवैकालिक (२/५)

तिविहा य होइ कंखा, इह परलोए तथा कुधम्मे य।

कामना तीन प्रकार की होती है—इहलोक-विषयक, परलोक-विषयक एवं स्वधर्म को छोड़कर कुधर्म या परधर्म-ग्रहण-विषयक।

—मूलाचार (२४९)

छंदं निरोहेण उवेइ मोक्खं
आसे जहा सिक्खिय-वम्मधारी।

शिक्षित और वर्म (कवच) धारी अश्व जैसे युद्ध से पार हो जाता है वैसे ही इच्छा या स्वच्छन्दता का निरोध करनेवाला साधक संसार से पार हो जाता है।

—उत्तराध्ययन (४/८)

सल्लं कामा विसं कामा
कामा आसीविसोवमा।

संसार के काम-भोग शल्य हैं, विष हैं और आशीविष सर्प के तुल्य हैं।

—उत्तराध्ययन (९/५३)

उविच्च भोगा पुरिसं चयन्ति
दुमं जहा खीणफलं व पक्खी।

काम-भोग क्षीण शक्तिवाले व्यक्ति को वैसे ही छोड़ देते हैं, जैसे कि क्षीण फलवाले वृक्ष को पक्षी।

—उत्तराध्ययन (१३/३१)

खणमित्तसुक्खा बहुकालदुक्खा, पगामदुक्खा अणिगामसुक्खा।
संसारमोक्खस्स विपक्खभूया, खाणी अणत्थाण उ कामभोगा॥

काम-भोग क्षणभर के लिए सुख देते हैं, तो चिरकाल तक दुःख देते हैं; अधिक दुःख और थोड़ा सुख देते हैं। संसार से मुक्त होने में बाधक और अनर्थों की खान हैं।

—उत्तराध्ययन (१४/१३)

जहा किंपाकफलाणं, परिणामो न सुंदरो।
एवं भुत्ताण भोगाणं, परिणामो न सुंदरो॥

जिस प्रकार विष रूप किम्पाक फलों का अन्तिम परिणाम सुन्दर नहीं होता, मौत ही हो जाती है, भले ही दीखने में वे सुन्दर हो। इसी प्रकार काम-भोग भोगते समय तो मीठे लगते हैं पर उनका परिणाम अच्छा नहीं होता। काम-भोग की अमर्यादा जीवन और जगत् में विषमता लाती है।

—उत्तराध्ययन (१९/१७)

कामो रसो य फासो सेसा भोगेत्ति आहीया।

रस और स्पर्श तो काम है और गन्ध, शब्द, रूप भोग है।

—आत्मानुशासन (११२८)

सुट्ठुवि मग्गिज्जंतो, कत्थ वि केलीइ नत्थि जह सारो।
इंदिअविसएसु तहा, नत्थि सुहं सुट्ठु वि गविट्ठं॥

बहुत खोजने पर भी जैसे केले के पेड़ में कोई सार दिखाई नहीं देता, वैसे ही इन्द्रिय-विषयों में भी कोई सुख दिखाई नहीं देता।

—भक्त-परिज्ञा (१४/४)

कामा चरित्तमोहो।

काम की वृत्ति ही चरित्र-मूढ़ता है।

—आचाराङ्ग (१७८)

तेलोक्ककाडविडहणो, कामग्गी विसयरुक्खपज्जलिओ।

जो कामाग्नि विषय रूपी वृक्षों का आश्रय लेकर प्रज्ज्वलित होती है, वह त्रैलोक्य रूपी वन को त्वरित जला देती है।

—भगवती-आराधना (१११५)

सक्को अग्गी निवारेउं, वारिणा जलओ विहु।
सव्वोदहिजलेणावि, कामग्गी दुन्निवारओ॥

अति जाज्वल्यमान् रूप से जलती अग्नि को पानी से बुझाया जा सकता है, परन्तु काम रूपी अग्नि तो सर्व समुद्रों के पानी से भी शांत नहीं हो सकती।

—इन्द्रियपराजयशतक (८)

सव्वगहाणं पभवो, महागहो सव्वदोसपायट्टी।
कामग्गहो दुरप्पा, जेणऽभिभूअं जगं सव्वं॥

सर्व दुष्ट ग्रहों का मूल कारण, सर्व दोषों का प्रकटकर्त्ता महाग्रह सदृश काम रूपी ग्रह ऐसा दुष्ट है कि जिसने सम्पूर्ण जगत् को पराभव कर दिया है।

—इन्द्रियपराजयशतक (२५)

पज्जलिओविसयअग्गी, चरित्तसारं डहिज्ज कसिणंपि।

प्रज्वलित कामाग्नि समस्त चारित्र रूपी धन को जला डालती है।

—इन्द्रियपराजयशतक (८२)

कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं
सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स।
जं काइयं माणसियं च किंचि।

सब जीवो का, और क्या देवताओ का भी जो कुछ शारीरिक एवं मानसिक दुःख है, वह काम-भोगो की सतत् अभिलाषा से उत्पन्न होता है।

—उत्तराध्ययन (३२/१९)

दुज्जए कामभोगे य, निच्चसो परिवज्जए।

दुर्जय काम-भोगो का सदैव त्याग करो।

—उत्तराध्ययन (१६/१४)

गिद्धोवमे उ नच्चाणं, कामे संसारवड्ढणे।
उरगो सुवण्णपासे व, संकमाणो तणुं चरे॥

संसार को बढ़ानेवाले काम-भोगो को गीध के समान जानकर उनसे वैसे ही शंकित होकर चलना चाहिये, जैसे कि गरुड़ के समीप सांप शंकित होकर चलता है।

—उत्तराध्ययन (१४/४७)

छारस्स कए नासन्ति चन्दणं मोत्तियं च दोरत्थे।
तह मणुय भोग-मूढा नरा वि नासन्ति देविड्ढि॥

जैसे मूर्ख व्यक्ति राख के लिए चन्दन और डोरे के लिए मोती को नष्ट करते हैं, वैसे ही मानवीय भोगो में मूढ़ मनुष्य जीवन की दिव्य उपलब्धियो को तुच्छ वस्तुओ के लिए नाश करते हैं।

पउमचरियं (४/५०)

कामासक्त

कामेसु गिद्धा निचयं करेंति।

काम-भोगो में आसक्त मनुष्य कर्मों का बन्धन करते हैं।

—आचाराङ्ग (१/३/२)

विसयासत्तो कज्जं अकज्जं वा ण याणति।

विषयासक्त को कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का परिज्ञान नहीं रहता है।

—आचाराङ्ग-चूर्णि (१/२/४)

विसयरसासवमत्तो, जुत्ताजुत्तं न याणई जीवो।

विषयरस रूप मदिरा से मदोन्मत्त बना मनुष्य उचित-अनुचित को नहीं जान सकता है।

— इन्द्रियपराजयशतक (१०)

न लहइ जहा लिहंतो, मुहल्लिअं अट्ठिअं जहा सुणओ।
सोसइ तालुअरसिअं, विलिहंतो मन्नए सुक्खं॥
महिलाणकायसेवी, न लहइ किंचिवि सुहं तहा पुरिसो।
सो मन्नए वराओ, सयकायपरिस्समं सुक्खं॥

जिस प्रकार कुत्ता मुख में पकड़ी हड्डी को जीभ से चाटते हुए भी कुछ उपलब्ध नहीं कर सकता, मात्र गले का शोषण करता है और हड्डी घिसते निकले हुए अपने तालु के रक्त को चाटता हुआ सुख की अनुभूति करता है, उसी प्रकार स्त्रियों के शरीर का भोग भोगनेवाला पुरुष भी उससे सुख की अनुभूति करता है, लेकिन वस्तुतः वह सुख प्राप्त नहीं होता मात्र काम के त्रास से पराजित वह स्वयं के शारीरिक परिश्रम को ही सुखरूप मानता है।

—इन्द्रियपराजयशतक (३३-३४)

नागो जहा पंकजलावसन्नो, दट्ठुं थलं नाभिसमेइ तीरं।
एवं जिआ कामगुणेसु गिद्धा, सुधम्ममग्गे न रया हवंति॥

जैसे कीचड़-युक्त जल में रहा हाथी तट की भूमि को देखते हुए भी तट पर नहीं आ सकता वैसे ही काम-विषय में आसक्त बना मनुष्य समझते हुए भी धर्ममार्ग में लीन नही हो सकता।

—इन्द्रियपराजयशतक (५६)

जह विट्ठपुंजखुत्तो, किमी सुहं मन्नए सयाकालं।
तह विसयासुइरत्तो, जीवो वि मुणइ सुहं मूढो॥

जिस तरह विष्टा-समूह में फंसा या आसक्त बना कीड़ा सदैव उसी में

ही सुख मानता है, उसी तरह विषयों की अशुचि में फंसा जीव भी विषयों में ही आनन्द मानता है।

—इन्द्रियपराजयशतक (६०)

चिट्ठंति विसयविवसा, मुत्तुं लज्जंपि के वि गयसंका।
न गणंति के वि मरणं, विसयंकुससल्लिया जीवा॥

विषयों में परवश हुए अनेक जीव तो मरने की शंका और लज्जा को भी छोड़कर विषय के वश बनकर जीते हैं तथा विषय रूपी अंकुश के घाव से जो ग्रस्त हैं, ऐसे अनेक जीव तो मृत्यु की परवाह भी नहीं करते।

—इन्द्रियपराजयशतक (६२)

जे गिद्धे कामभोगेसु एगे कूडाय गच्छई।

जो कामभोग में लोलुप बन जाते हैं वे कूट (हिंसा, मिथ्या भाषण आदि) पथ पर गमन करते हुए हिचकिचाते ही नहीं हैं।

—उत्तराध्ययन (५/५)

कामे पत्थेमाणा अकामा जन्ति दोग्गइं।

जो मनुष्य काम-भोगों को चाहते तो हैं, किन्तु परिस्थिति विशेष से उनका सेवन नहीं कर पाते हैं, वे भी दुर्गति में जाते हैं।

—उत्तराध्ययन (६/५३)

दित्तं च कामा समभिद्दवन्ति, दुमं जहा साउफलं व पक्खी।

विषयासक्त मनुष्य को काम वैसे ही उत्पीड़ित करता है, जैसे स्वादिष्ट फलवाले वृक्ष को पक्षी।

—उत्तराध्ययन (३२/१०)

न कामभोगा समयं उवेन्ति, न यावि भोगा विगइं उवेन्ति।
जे तप्पओसी य परिग्गही य, सो तेसु मोहा विगइं उवेइ॥

काम-भोग न समभाव लाते हैं और न विकृति लाते हैं। जो उनके प्रति द्वेष और ममत्व रखता है, वह उनमें मोह के कारण विकृति को प्राप्त होता है।

—उत्तराध्ययन (३२/१०१)

विषय लोभिल्ला, पुरिसा कसाय वसगा।
करेन्ति एक्केक्कमविरोहं ॥

विषयो में लोभी और कषायो के वशीभूत पुरुष विना वैर-विरोध के भी एक दूसरे का अनिष्ट करते हैं।

—पउमचरियं (४/४६)

काव्य-कविता

चिंतामंदरमंथाणमंथिए वित्थरम्मि अत्थाहे।
उप्पज्जंति कईहिययसायरे कव्वरयणाइं ॥

चिन्तन रूपी पर्वत के मन्थन से मथित कवियो के विस्तृत एवं अगाध हृदय-सागर में काव्य-रत्न उत्पन्न होते है।

—वज्जालग्ग (२/१)

पाइयकव्वम्मि रसो जो जायइ तह य छेयभणिएहिं।
उययस्स य वासियसीयलस्स तित्तिं न वच्चामो ॥

प्राकृत-काव्य, विदग्ध-भणिति तथा सुवासित शीतल जल से जो आनन्द उत्पन्न होता है, उससे हमे पूर्णतया तृप्ति नही होती है।

—वज्जालग्ग (३/३)

सद्दपलोट्टं दोसेहि वज्जियं सुललियं फुडं महुरं।
पुण्णेहि कह वि पावइ छंदे कव्वं कलत्तं च ॥

उचित शब्दो से रचित, दोष-रहित, ललित, प्रसाद और माधुर्य गुण-युक्त एवं छन्दो में प्रणीत कविता किसी प्रकार पुण्य से ही प्राप्त होती है।

—वज्जालग्ग (३/६)

दुक्खं कीरइ कव्वं कव्वम्मि कए पउंजणा दुक्खं।
संते पउंजमाणे सोयारा दुल्लहा हुंति ॥

काव्य-रचना कष्ट से होती है, काव्य-रचना हो जाने पर उसे सुनाना कष्टप्रद होता है और जब सुनाया जाता है तब सुननेवाले भी कठिनाई से मिलते है।

—वज्जालग्ग (१/१)

अबुहा बुहाण मज्झे पढंति जे छंदलक्खणविहूणा।
ते भमुहाखग्गणिवाडियं पि सीसं न लक्खंति ॥

जब विद्वान् विरस और अशुद्ध काव्य-पाठ से ऊबकर भौंहें टेढ़ी करने लगते हैं, उस समय उनके कटाक्ष से मानों उन मूर्खों के शिर ही कट जाते हैं, परन्तु वे इतना भी नहीं जान पाते।

—वज्जालग्ग (३/१२)

कुसंग

वरं अरण्णवासो अ, मा कुमित्ताण संगओ।

जंगल में वास करना श्रेष्ठ है, परन्तु कुमित्र की संगति अच्छी नहीं हैं।

—सम्बोधसत्तरी (५६)

अंबस्स य निंबस्स य, दुण्हंपि समागयाइं मूलाइं।
संसग्गेण विणट्ठो, अंबो निंबत्तणं पत्तो ॥

आम और नीम दोनों के मूल जमीन में एकत्रित होने से नीम के संसर्ग से आम भी नीमपन को प्राप्त करता है। अर्थात् दुर्जन की संगत से प्रायः सज्जन भी दुर्जन हो जाता है।

—सम्बोधसत्तरी (६२)

नहि मुसगाणं संगो, होइ सुहो सह बिडालीहिं ॥

चूहों का बिल्ली के साथ संगत करना मृत्यु की गोद में सोना है।

—इन्द्रियपराजयशतक (५४)

सरसा वि दुमा दावाणलेण, डज्झंति सुक्खसंवलिया।
दुज्जणसंगे पत्ते सुयणो सुहं न पावेइ ॥

शुष्क काष्ठों से मिलकर सरस वृक्ष भी दावानल में दग्ध हो जाते हैं। सचमुच, दुर्जन के संसर्ग में सुजन भी सुख नहीं पाता।

—वज्जालग्ग (५/१५)

दुज्जण संसग्गीए णियगं गुणं खु सजणो वि।
सीयलभावं उदयं जह पजहदि अग्गिजोएण॥

सज्जन मनुष्य भी दुर्जन के संग से अपना उज्ज्वल गुण छोड़ देता है। अग्नि के सहवास से शीतल जल भी अपनी शीतलता छोड़कर गरम हो जाता है।

—भगवती-आराधना (३४४)

सुजणो वि होइ लहुओ, दुज्जणसंमेलणाए दोसेण।
माला वि मोल्लगरुया, होदि लहूमडयसंसिट्ठा॥

जिस प्रकार बहुकीमती पुष्पमाला भी शव के संसर्ग से कौड़ी कीमत की होती है, उसी प्रकार दुर्जन के दोषों का संसर्ग करने से सज्जन भी नीच हो जाता है।

—भगवती-आराधना (३४५)

दुज्जणसंसग्गीए संकिज्जदि संसदो वि दोसेण।
पाणागारे दुद्धं पियंतओ बंभणो चेव॥

दुर्जन के संसर्ग से दोष-रहित व्यक्ति भी लोगों के द्वारा दोषयुक्त गिना जाता है। मदिरागृह में जाकर कोई ब्राह्मण दूध पीवे तो भी लोग उसे मद्यपी ही मानते हैं।

—भगवती-आराधना (३४६)

अहि संजदो वि दुज्जणकएण दोसेण पाउणइ दोसं।
जह घूगकए दोसे हंसो य हओ अयावो वि॥

महान् सज्जन भी दुर्जनों के दोष से अनर्थ में पड़ते हैं। दोष तो दुर्जन करता है परन्तु फल सज्जन को भोगना पड़ता है। जैसे उल्लू के दोष से निष्पाप हंस मारा गया।

—भगवती-आराधना (३४८)

बहुतरुवराण मज्झे चन्दणविडवो भुयंग दोसेण।
छिज्जइ निरावराहो, साहुव्व असाहु संगेण॥

जैसे बहुत बड़े वृक्षों के बीच में सर्प-दोष के कारण चन्दन की शाखा

काट दी जाती है, वैसे ही अपराध-रहित भद्र पुरुष भी दुष्ट संग के कारण कष्ट को प्राप्त होता है।

—वज्जालग्ग (८४५)

साहीण-सज्जणा वि हु णीअ-पसंगे रमन्ते काउरिसा।
सा इर लीला जं काअ-धारणं सुलह रअणाण॥

आश्चर्य! दुष्ट पुरुष नीच संगति में ही प्रसन्न होते हैं यद्यपि सज्जन उनके निकट होते हैं, यह निश्चय ही दुर्जनों की स्वेच्छाचारिता है कि रत्नों के सुलभ होने पर भी उनके द्वारा कांच ग्रहण किया जाता है।

—गउडवहो (६१७)

क्रान्त-वचन

उदगस्स फासेणसिया य सिद्धी,
सिज्झिसु पाणा बहवे दगंसि।

यदि जलस्पर्श से ही सिद्धि प्राप्त होती हो, तो जल में निवास करनेवाले अनेक जलचर जीव कभी के मोक्ष प्राप्त कर लेते।

—सूत्रकृताङ्ग (१७/१४)

अप्पाणमबोहंता परं विबोवहंति केइ ते वि जडा।
भण परियणम्मि छुहिए, सत्तागारेण किं कज्जं॥

जो लोग स्वयं को बोध कराये बिना दूसरों को बोध देने जाते हैं, वे वस्तुतः मूर्ख हैं। भला जब स्वयं का परिवार भूखा है, तब भी उन्हें दानशाला लगाने का क्या प्रयोजन?

—आत्मावबोधकुलक (३८)

धम्मु ण पढ़ियइँ होइ धम्मु ण पोत्थापिच्छियइँ।
धम्मु ण मढिय-पएसि धम्मु ण मत्था लुँचियइँ॥
राय-दोस वे परिहरिवि जो अप्पाणि वसेइ।
सो धम्मु वि जिण उत्तिमउ जो पंचम-गइ णेइ।

जइ वणवासमित्तेणं,
नाणी जाव तवस्सी भवइ,
तेण सीह वग्घाद्यो वि

यदि कोई वन में निवास करने मात्र से ज्ञानी और तपस्वी हो जाता है तो फिर सिंह, बाघ आदि भी ज्ञानी, तपस्वी हो सकते हैं।

—आचाराङ्ग-चूर्णि (१/७/१)

किं माहणा ! जोइसमारभन्ता, उदएण सोहिं बहिया विमग्गहा ?
जं मग्गहा बाहिरियं विसोहिं, न तं सुदिट्ठं कुसला वयन्ति ॥

ब्राह्मणों ! अग्नि का समारम्भ (यज्ञ) करते हुए क्या तुम बाहर से—जल से शुद्धि करना चाहते हो ? जो बाहर से शुद्धि को खोजते हैं, उन्हें कुशल पुरुष सुदृष्ट—सम्यग् द्रष्टा नहीं कहते हैं।

—उत्तराध्ययन (१२/३८)

धाम्मिय धम्मो सुव्वइ दाणेण तवेण तित्थजत्ताए।
तरुणतरुपल्लवुल्लुरणेण धम्मो कहिं दिट्ठो ॥

ओ धार्मिक ! दान, तप और तीर्थ-यात्रा से धर्म होता है, यह तो सुना जाता है, पर तरुण वृक्षों के पत्तों को तोड़ने से उत्पन्न होनेवाला धर्म तुमने कहाँ देखा ?

—वज्जालग्ग (५४/१)

क्रोध

पव्वयराइसमाणं कोहं अणुपविट्ठे जीवे।
कालं करेइ णेरइएसु, उववज्जति ॥

उग्र क्रोध, जो पर्वत की दरार के समान जीवन में कभी नहीं मिटता है, वह मरने पर आत्मा को नरकगति की ओर ले जाता है।

—स्थानांग (४/२)

पासम्मि बहिणिमायं, सिसुंपि हणेइ कोहंधो।

क्रोध में अन्धा हुआ व्यक्ति निकट में खड़ी माता, बहिन और बच्चों को भी मारने लग जाता है।

—वसुनन्दि-श्रावकाचार (६७)

अप्पाणं पि न कोवए

अपने आप पर भी कभी क्रोध न करें।

—उत्तराध्ययन (१/४०)

कोहविजए णं खंतिं जणयई।

क्रोध-विजय से क्षमाभाव उत्पन्न होता है।

—उत्तराध्ययन (२९/६७)

कोवेण रक्खसो वा, णराण भीमो णरो हवदि।

क्रुद्ध मानव राक्षस के समान भयंकर बन जाते हैं।

—भगवती-आराधना (१३६१)

जह कोहाइ विवढ्ढी, तह हाणी चरणे वि।

ज्यों-ज्यों क्रोधादि की वृद्धि होती है, त्यों-त्यों चारित्र की सतत हानि होती है।

—निशीथ-भाष्य (२७९०)

कोहो पीइं पणासेइ।

क्रोध प्रीति का विनाशक है।

—दशवैकालिक (८/३८)

सुठ्ठु वि पियो मुहुत्तेण होदि वेसो जणस्स कोधेण।
पधिदो वि जसो णस्सदि कुद्धस्स अकज्जकरणेण॥

क्रोध से मनुष्य का अत्यन्त प्यारा व्यक्ति भी क्षण भर में शत्रु हो जाता है। क्रोधी व्यक्ति के अनुचित आचरण से अत्यन्त प्रसिद्ध उसका यश भी नष्ट हो जाता है।

—अर्हत्प्रवचन (७/३५)

जइ वणवासमित्तेणं,
नाणी जाव तवस्सी भवइ,
तेण सीह वग्घादयो वि

यदि कोई वन में निवास करने मात्र से ज्ञानी और तपस्वी हो जाता है तो फिर सिंह, बाघ आदि भी ज्ञानी, तपस्वी हो सकते हैं।

—आचाराङ्ग-चूर्णि (१/७/१)

किं माहणा! जोइसमारभन्ता, उदएण सोहिं बहिया विमग्गहा?
जं मग्गहा वाहिरियं विसोहिं, न तं सुदिट्ठं कुसला वयन्ति॥

ब्राह्मणों! अग्नि का समारम्भ (यज्ञ) करते हुए क्या तुम बाहर से—जल से शुद्धि करना चाहते हो? जो वाहर से शुद्धि को खोजते हैं, उन्हें कुशल पुरुष सुदृष्ट—सम्यग् द्रष्टा नहीं कहते हैं।

—उत्तराध्ययन (१२/३८)

धाम्मिय धम्मो सुव्वइ दाणेण तवेण तित्थजत्ताए।
तरुणतरुपल्लवुल्लुरणेण धम्मो कहिं दिट्ठो॥

ओ धार्मिक! दान, तप और तीर्थ-यात्रा से धर्म होता है, यह तो सुना जाता है, पर तरुण वृक्षों के पत्तों को तोड़ने से उत्पन्न होनेवाला धर्म तुमने कहाँ देखा?

—वज्जालग्ग (५४/१)

क्रोध

पव्वयराइसमाणं कोहं अणुपविट्ठे जीवे।
कालं करेइ णेरइएसु, उववज्जति॥

उग्र क्रोध, जो पर्वत की दरार के समान जीवन में कभी नहीं मिटता है, वह मरने पर आत्मा को नरकगति की ओर ले जाता है।

—स्थानांग (४/२)

पासम्मि बहिणिमायं, सिसुंपि हणेइ कोहंधो।

क्रोध में अन्धा हुआ व्यक्ति निकट में खड़ी माता, बहिन और बच्चों को भी मारने लग जाता है।

—वसुनन्दि-श्रावकाचार (६७)

अप्पाणं पि न कोवए

अपने आप पर भी कभी क्रोध न करें।

—उत्तराध्ययन (१/४०)

कोहविजए णं खंतिं जणयई।

क्रोध-विजय से क्षमाभाव उत्पन्न होता है।

—उत्तराध्ययन (२९/६७)

कोवेण रक्खसो वा, णराण भीमो णरो हवदि।

क्रुद्ध मानव राक्षस के समान भयंकर बन जाते हैं।

—भगवती-आराधना (१३६१)

जह कोहाइ विवढ्ढी, तह हाणी चरणे वि।

ज्यों-ज्यों क्रोधादि की वृद्धि होती है, त्यो-त्यों चारित्र की सतत हानि होती है।

—निशीथ-भाष्य (२७९०)

कोहो पीइं पणासेइ।

क्रोध प्रीति का विनाशक है।

—दशवैकालिक (८/३८)

सुठ्ठु वि पियो मुहुत्तेण होदि वेसो जणस्स कोधेण।
पधिदो वि जसो णस्सदि कुद्धस्स अकज्जकरणेण॥

क्रोध से मनुष्य का अत्यन्त प्यारा व्यक्ति भी क्षण भर में शत्रु हो जाता है। क्रोधी व्यक्ति के अनुचित आचरण से अत्यन्त प्रसिद्ध उसका यश भी नष्ट हो जाता है।

—अर्हत्प्रवचन (७/३५)

लग्गो कोह दावानलो, डज्झइ गुण रयणाई।
उवसम जले जो ओलवे, न सहइ दुक्ख सहाई॥

इस दुर्लभ मानव शरीर में लगा हुआ यह क्रोध रूपी दावानल गुण रूपी रत्नों को जला डालता है, जो उपशम रूपी जल में स्नान करता है वह क्रोध-जनित सैकड़ों दुःखों को नहीं सहता है।

—कामघट-कथानक (८१)

कोह समो वेरियो नत्थि।

क्रोध के समान वैरी नहीं है।

—वज्जालग्ग (३६/६०१)

क्षमा

सीलं वरं कुलाओ दालिद्दं भव्वयं च रोगाओ।
विज्जा रज्जाउ वरं खमा वरं सुट्ठु वि तवाओ॥

कुल से शील श्रेष्ठ है, रोग से दारिद्र्य श्रेष्ठ है, विद्या राज्य से श्रेष्ठ है और क्षमा बड़े से बड़े तप से भी श्रेष्ठ है।

—वज्जालग्ग (८/५)

खन्तीए णं परीसहे जिणइ।

क्षमा से परीषहों पर विजय प्राप्त की जाती है।

—उत्तराध्ययन (२६/४६)

खमावणयाए णं पल्हायणभावं जणयइ।
पल्हायणभावमुवगए य सव्वपाण भूयजीवसत्तेसु॥
मित्तीभावमुप्पाएइ मित्तीभावमुवगए यावि।
जीवे भावविसोहिं काऊण निब्भए भवइ॥

क्षमा करने से मनुष्य मानसिक प्रसन्नता को प्राप्त होता है। मानसिक प्रसन्नता को प्राप्त हुआ व्यक्ति सब प्राणों, भूतों, जीवों और सत्त्वों के साथ

मैत्री-भाव उत्पन्न करता है। मैत्री-भाव को प्राप्त हुआ जीव भावना को विशुद्ध बनाकर निर्भय हो जाता है।

—उत्तराध्ययन (२६/१७)

खमा सव्व साहूणं।

क्षमा सभी साधुओं को होनी चाहिये।

—सार्थपोसहसज्झायसूत्र (३)

क्षमापना

जइ किंचि पमाएणं, न सुट्ठु मे वट्टियं मए पुव्विं।
तं मे खामेमि अहं, निसल्लो निक्कसाओ अ॥

अल्पतम प्रमाद के वश भी यदि मैंने आपके प्रति अच्छा व्यवहार नहीं किया हो तो मैं निःशल्य और कषाय-रहित होकर आपसे क्षमा-याचना करता हूँ।

—बृहत्कल्प-भाष्य (१३६८)

सव्वस्स जीवरासिस्स, भावओ धम्मनिहिअनिअचित्तो।
सव्वे खमावइत्ता, खमामि सव्वस्स अहयं पि॥

धर्म-प्रवृत्ति में अन्तःकरणपूर्वक स्थित हुआ मैं अपने से हुए समस्त अपराधों के लिए सर्व जीवों से क्षमा माँगता हूँ और सब जीवों द्वारा मेरे प्रति किये गये अपराधों को क्षमा करता हूँ।

—आयरियउवज्झाए सूत्र (३)

जं जं मणेणं बद्धं, जं जं वायाए भासियं पावं।
जं जं काएण कयं, मिच्छामि दुक्कडं तस्स।

जिन-जिन पाप-प्रवृत्तियों का मैंने मन में संकल्प किया हो, जो-जो पाप-प्रवृत्तियाँ मैंने वचन से कही हों और जो-जो पाप-प्रवृत्तियाँ मैंने शरीर से की हों, मेरी वे सभी पाप-प्रवृत्तियाँ निष्फल हों। मेरे दुष्कृत्य मिथ्या हों।

—आवश्यकसूत्र

खामेमि सव्वे जीवे, सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्व भूएसु, वेरं मज्झं न केणइ॥

मैं समस्त जीवों से क्षमा माँगता हूँ और सब जीव मुझे क्षमा करें। सब जीवों के प्रति मेरा मैत्री-भाव है, मेरा किसी भी जीव के साथ वैर-विरोध नहीं है।

—वंदित्तु सूत्र (४८)

आयरिय उवज्झाए, सीसे साहम्मिए कुल-गणेय।
जे मे केइ कसाया, सव्वे तिवेहेण खामेमि॥

आचार्य, उपाध्याय, शिष्यगण और सधर्मी बन्धुओं तथा कुल और गणों आदि सभी के प्रति जो क्रोधादि कषाय-युक्त व्यवहार किया हो, उसके लिए मन, वचन और काया से क्षमा मांगता हूँ।

—आयरियउवज्झाए सूत्र (१)

सव्वस्स समणसंघस्स, भगवओ अंजलिं करिअ सीसे।
सव्वस्स खमावइत्ता खमामि, सव्वस्स अहियं पि॥

हे भगवन्! मैं अञ्जलि-सहित नतमस्तक होकर श्रमण-संघ से क्षमा-याचना करता हूँ, वे मेरे अपराधों को क्षमा करें।

—आयरियउवज्झाए सूत्र (२)

क्षमाशील

कोहेण जो ण तप्पदि, सुर-णर तिरिएहि कीरमाणे वि।
उवसग्गे वि रउद्दे, तस्स खमा णिम्मला होदि॥

जो देव, मानव तथा तिर्यञ्च पशुओं के द्वारा घोर, भयानक उपसर्ग पहुँचाने पर भी क्रोध से तप्त नहीं होता, उसी के निर्मल क्षमा होती है।

—कार्तिकेयानुप्रेक्षा (३९४)

कोहुप्पत्तिस्स पुणो बहिरंगं जदि हवेदि सक्खादं।
ण कुणदि किंचि वि कोहं तस्स खमा होदि धम्मोत्ति॥

क्रोध के उत्पन्न होने के साक्षात् बाह्य कारणों के मिलने पर भी जो जरा-सा भी क्रोध नहीं करता है, वह क्षमाधर्म का आराधक होता है।

पावं खमइ असेसं, खमाय पडिमंडिओ य मुणिपवरो।

जो मुनिप्रवर क्रोध के अभावरूप क्षमा से मंडित है, वह समस्त पाप-कर्मों का अवश्य क्षय करता है।

—भावपाहुड़ (१०८)

खमियव्वं खमावियव्वं, जो उवसमई अत्थि तस्स आराहणा।

क्षमा माँगनी चाहिए, क्षमा देनी चाहिए। जो क्षमा-याचना करके कषायों का उपशमन कर लेता है, वही आराधक है।

—कल्पसूत्र (३/५६)

गच्छाधिपति

नाणंमि दंसणम्मि अ, चरणंमि य तिसुवि समयसारेसु।
चोएइ जो ठवेउं, गणमप्पाणं च सो अ गणी॥

जिनवाणी का सार ज्ञान, दर्शन और चारित्र है जो अपनी आत्मा को तथा समस्त गण को इन तीन गुणों में स्थापन करने के लिए प्रेरणा करता है, वही वास्तव में गच्छाधिपति हैं।

—गच्छाचार-प्रकीर्णक (२०)

अप्परिस्साचि सम्मं, समपासी चेव होइ कज्जेसु।
सो रक्खइ चक्खुं पिव, सबालवुड्ढाउलं गच्छं॥

जो आचार्य गच्छ के नानाविध कार्यों को समभाव-पूर्वक करता हुआ अपनी भावनाओं में तनिक भी मलिनता नहीं आने देता, वह आचार्य गच्छ के छोटे से लेकर बड़े तक सब सदस्यों की अपनी चक्षु के सदृश रक्षा करता है।

—गच्छाचार-प्रकीर्णक (२२)

गाथा

सच्छंदिया सरूवा सालंकारा य सरस उल्लावा।
वरकामिणी व्व गाहा गाहिज्जंती रसं देह॥

खामेमि सव्वे जीवे, सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्व भूएसु, वेरं मज्झं न केणइ॥

मैं समस्त जीवो से क्षमा माँगता हूँ और सब जीव मुझे क्षमा करें। सब जीवो के प्रति मेरा मैत्री-भाव है, मेरा किसी भी जीव के साथ वैर-विरोध नहीं है।

—वंदित्तु सूत्र (४८)

आयरिय उवज्झाए, सीसे साहम्मिए कुल-गणेय।
जे मे केइ कसाया, सव्वे तिविहेण खामेमि॥

आचार्य, उपाध्याय, शिष्यगण और सधर्मी बन्धुओ तथा कुल और गणो आदि सभी के प्रति जो क्रोधादि कषाय-युक्त व्यवहार किया हो, उसके लिए मन, वचन और काया से क्षमा मांगता हूँ।

—आयरियउवज्झाए सूत्र (१)

सव्वस्स समणसंघस्स, भगवओ अंजलिं करिअ सीसे।
सव्वस्स खमावइत्ता खमामि, सव्वस्स अहियं पि॥

हे भगवन्! मैं अञ्जलि-सहित नतमस्तक होकर श्रमण-संघ से क्षमा-याचना करता हूँ, वे मेरे अपराधों को क्षमा करें।

—आयरियउवज्झाए सूत्र (२)

क्षमाशील

कोहेण जो ण तप्पदि, सुर-णर तिरिएहि कीरमाणे वि।
उवसग्गे वि रउद्दे, तस्स खमा णिम्मला होदि॥

जो देव, मानव तथा तिर्यञ्च पशुओ के द्वारा घोर, भयानक उपसर्ग पहुँचाने पर भी क्रोध से तप्त नही होता, उसी के निर्मल क्षमा होती है।

—कार्तिकेयानुप्रेक्षा (३६४)

कोहुप्पत्तिस्स पुणो बहिरंगं जदि हवेदि सक्खादं।
ण कुणदि किंचि वि कोहं तस्स खमा होदि धम्मोत्ति॥

क्रोध के उत्पन्न होने के साक्षात् बाह्य कारणो के मिलने पर भी जो जरा-सा भी क्रोध नही करता है, वह क्षमाधर्म का आराधक होता है।

पावं खमइ असेसं, खमाय पडिमंडिओ य मुणिपवरो।

जो मुनिप्रवर क्रोध के अभावरूप क्षमा से मंडित है, वह समस्त पाप-कर्मों का अवश्य क्षय करता है।

—भावपाहुड़ (१०८)

खमियव्वं खमावियव्वं, जो उवसमई अत्थि तस्स आराहणा।

क्षमा माँगनी चाहिए, क्षमा देनी चाहिए। जो क्षमा-याचना करके कषायों का उपशमन कर लेता है, वही आराधक है।

—कल्पसूत्र (३/५६)

गच्छाधिपति

नाणंमि दंसणम्मि अ, चरणंमि य तिसुवि समयसारेसु।
चोएइ जो ठवेउं, गणमप्पाणं च सो अ गणी॥

जिनवाणी का सार ज्ञान, दर्शन और चारित्र है जो अपनी आत्मा को तथा समस्त गण को इन तीन गुणों में स्थापन करने के लिए प्रेरणा करता है, वही वास्तव में गच्छाधिपति हैं।

—गच्छाचार-प्रकीर्णक (२०)

अप्परिस्सावि सम्मं, समपासी चेव होइ कज्जेसु।
सो रक्खइ चक्खुं पिव, सबालवुड्ढाउलं गच्छं॥

जो आचार्य गच्छ के नानाविध कार्यों को समभाव-पूर्वक करता हुआ अपनी भावनाओं में तनिक भी मलिनता नहीं आने देता, वह आचार्य गच्छ के छोटे से लेकर बड़े तक सब सदस्यों की अपनी चक्षु के सदृश रक्षा करता है।

—गच्छाचार-प्रकीर्णक (२२)

गाथा

सच्छंदिया सरूवा सालंकारा य सरस उल्लावा।
वरकामिणी व्व गाहा गाहिज्जंती रसं देह॥

छन्दों में रचित, सुन्दर शब्दों एवं उपमादि अलंकारों से युक्त और सरस उक्तियोंवाली गाथा, पढ़ने पर वैसे ही रस प्रदान करती है जैसे कामिनी कामी को।

—वज्जालग्ग (२/४)

गाहाण रसा ... ... कइजणाण उल्लावा।
कस्स न हरंति हिययं बालाणं य मम्मणुल्लावा॥

गाथाओं के रस, कवियों की उक्तियाँ और बालकों के अव्यक्त शब्द—तोतली बोली, किसका मन नहीं मोह लेते हैं!

—वज्जालग्ग (२/५)

गाहा रुअइ वराई सिक्खिज्जंती गवारलोएहिं।
कीरइ लुंचपलुंचा जह गाई मंददोहेहिं॥

जब गँवार लोग सीखने लगते हैं, तब बेचारी गाथा रो पड़ती है। वे वैसे ही उसे नोंच-खरोंच डालते हैं, जैसे अनाड़ी दुहनेवाला गाय को।

—वज्जालग्ग (२/७)

गाहाणं...तांणं चिय सो दंडो जे ताण रस न याणंति।

जो गाथाओं का रस नहीं जानते, उनके लिए यही दण्ड है कि वे आनन्द से वंचित रह जाते हैं।

—वज्जालग्ग (२/६)

सित्थेण दोण पागं,
कविं च एक्काए गाथा।

एक कण से द्रोणभर पाक की परीक्षा हो जाती है और एक गाथा से ही कवि की कसौटी हो जाती है।

—अनुयोगद्वार सूत्र (११६)

गुण-दर्शन

मा दोसेच्चिय गेण्हह विरले वि गुणे पयासह जणस्स।
अक्ख-पउरो वि उयही, भण्णइ रयणायरो लोए॥

लोगों के दोष-मात्र को ग्रहण मत करो, उनके विरले गुणों को भी प्रकाशित करो। क्योंकि लोक में घोंघों की प्रचुरतावाला समुद्र भी रत्नों की खान/रत्नाकर कहा जाता है।

—कुवलयमाला

गुणवती

किं पुण गुणसहिदाओ, इत्थीओ अत्थि वित्थडजसाओ।
णरलोग देवदाओ, देवेहिं वि वंदणिज्जाओ।

लोक में ऐसी भी गुणसम्पन्न स्त्रियाँ हैं, जिनका यश सर्वत्र व्याप्त है। वे मनुष्य-लोक की देवता हैं और देवो के द्वारा वन्दनीय हैं।

—भगवती-आराधना (६६५)

गुणानुराग

उत्तम गुणाणुराओ-निवसइ हिययंमि जस्स पुरिसस्स।
आतित्थयरपयाओ, न दुल्लहा तस्स रिद्धीओ॥

जिस पुरुष के हृदय में उत्तम गुणवान् व्यक्तियों के प्रति अनुराग है, उसे परमपद तक की ऋद्धियाँ भी दुर्लभ नहीं है।

—गुणानुरागकुलक (२)

जइवि चरसि तवं विउलं, पढसि सुयं करिसि विविहकट्ठाइं।
न धरसि गुणाणुरायं, परेसु ता निप्फलं सयलं॥

यद्यपि तुम भारी तप करते हो, शास्त्रों का अध्ययन करते हो और अनेक कष्टों को सहन करते हो किन्तु दूसरों के गुणों के प्रति अनुराग नहीं है तो ये सब निष्फल हैं।

—गुणानुरागकुलक (५)

गुणोदय

रायंगणम्मि परिसंठियस्स जह कुंजरस्स माहप्पं।
विंझसिहरम्मि न तहा ठाणेसु गुणा विसट्टन्ति॥

जिस तरह राजा के आंगन में स्थित हाथी की महिमा होती है, किन्तु विन्ध्य पर्वत के शिखर-स्थित हाथी की महिमा नहीं होती है, उसी तरह उचित स्थानों पर गुण खिलते हैं।

—वज्जालग्ग (७५/१)

गुरु

अपरिस्सावी सोमो, संगहसीलो अभिग्गह मईअ।
अविकत्थणो अचवलो, पसंत हियओ गुरु होई॥

किसी के दोष-गुणोंको दूसरे से न कहनेवाले, देदीप्यमान् चेहरेवाले शिष्यों के लिए वस्त्र, पात्र एवं पुस्तकों का संग्रह करनेवाले, किसी विषय को समझ लेने में समर्थ बुद्धिवाले, अपनी प्रशंसा न करनेवाले या मितभाषी, स्थिर और प्रसन्न हृदयवाले गुरु होते हैं।

—सार्थपोसहसज्झायसूत्र (१०)

जह सुर गणाण इंदो, गहगण तारागणाण जह चंदो।
जहय पयाण णरिंदो, गणस्स वि गुरु तहाणंदो॥

जिस तरह इन्द्र देवताओं को, चन्द्रमा ग्रह-नक्षत्रों को, राजा प्रजाजनों को सुख प्रदान करते हैं, उसी तरह गुरु अपने गच्छ में शिष्यवर्ग को आनन्द दिया करते हैं।

—सार्थपोसहसज्झायसूत्र (७)

णियमगइ विगप्पिय, चिंतिएण सच्छंद बुद्धि चरिएण।
कत्तो पारत्तहियं, कीरइ गुरु अणुवएसेण॥

गुरु के उपदेश को ग्रहण करने में असमर्थ अथवा उच्छृंखलता से अपनी बुद्धिमानी के घमण्ड से गुरु-वचन की अवहेलना करके जो शुभानुष्ठान और क्रियाएँ परलोक में हितकर होने के ख्याल से की जाती हैं, वे वहाँ हितकारी

सिद्ध नहीं होतीं। फलतः गुरु के उपदेशों का अवलम्बन करना नितान्त जरूरी है।

—सार्थपोसहसज्झाय सूत्र (२५)

हत्था ते सुकयत्था, जे किई कम्मं कुणंति तुह चलणे।
वाणी बहुगुणखाणी, सुगुरुगुणा वण्णिआ जीए॥

वह हाथ कृतार्थ है, जिसने सद्गुरु के चरणों में वन्दन या स्पर्श किया है, वह वाणी (जिह्वा) बहुगुण सम्पन्न है, जिसने सद्गुरु के गुणों का वर्णन किया है।

—गुरुप्रदक्षिणाकुलकम् (४)

दुल्लहो जिणिंदधम्मो, दुल्लहो जीवाणं माणुसो जम्मो।
लद्धे वि मणुअजम्मे, अइदुल्लहा सुगुरुसामग्गी॥

जीवों को सर्वज्ञ द्वारा भाषित धर्म प्राप्त करना दुर्लभ है, मनुष्य जन्म प्राप्त होना दुर्लभ है, परन्तु मनुष्य जन्म मिलने पर भी सद्गुरु रूप सामग्री प्राप्त होनी अति दुर्लभ है।

—गुरुप्रदक्षिणाकुलकम् (६)

जत्थ न दीसंति गुरु, पच्चूसे उट्ठिएहिं सुपसन्ना।
तत्थ कहं जाणिज्जइ, जिणवयणं अभिअसारिच्छं॥

जहाँ प्रभात में जागते ही सुप्रशन्न गुरु के दर्शन नहीं होते, वहाँ अमृत सदृश सद्वचन-लाभ किस तरह हो सकता है?

—गुरुप्रदक्षिणाकुलकम् (१०)

गुरुकुलवासी

नाणस्स होइ भागी, थिरयरओ दंसणे चरित्ते य।
धन्ना गुरुकुलवासं, आवकहाए न मुंचंति॥

गुरुकुल-स्थित साधु ज्ञान का भागी—अधिकारी होता है, दर्शन एवं

चारित्र में विशेष रूप से स्थिर होता है। वे धन्य हैं जो जीवन-पर्यन्त गुरु-कुलवास नहीं छोड़ते।

—वृहत्कल्पभाष्य (५७१३)

जस्स गुरुम्मि न भत्ती, न य बहुमाणो न गउरवं न भयं।
न वि लज्जा न वि नेहो, गुरुकुलवासेण किं तस्स?

जिसमें गुरु के प्रति न भक्ति है, न बहुमान है, न गौरव है, न भय है—न अनुशासन है, न लज्जा है और न ही स्नेह है, उसका गुरुकुल में रहने का क्या अर्थ है?

—उपदेशमाला (७५)

गृहलक्ष्मी

परघरगमणालसिणी परपुरिसविलोयणे य जच्चंधा।
परआलावे बहिरा घरस्स लच्छी, न सा घरिणी॥

जो दूसरे के घर जाने के लिए आलस करनेवाली बन जाती है और जो परायी बात के लिए बहरी हो जाती है, वह घर की लक्ष्मी है, गृहिणी नहीं।

—वज्जालग्ग (४८/२)

चतुर्भंगी

चत्तारि पुरिसजाया—
रूवेणाम एगे जहइ णो धम्मं, धम्मेणामं एगे जहइणो रूवं।
एगे रूवे वि जहइ धम्मंपि, एगे णो रुवं जहइ णोधम्मं।

चार प्रकार के पुरुष हैं—कुछ पुरुष वेष छोड़ देते हैं, किन्तु धर्म नहीं छोड़ते। कुछ धर्म छोड़ देते हैं; किन्तु वेष नहीं छोड़ते। कुछ वेष भी छोड़ देते है और धर्म भी। कुछ ऐसे होते हैं जो न वेष छोड़ते हैं और न धर्म।

—व्यवहारसूत्र (१०)

चत्तारि सुता—
अतिजाते, अणुजाते, अवजाते, कुलिंगाले।

कुछ पुत्र गुणों की दृष्टि से अपने पिता से बढ़कर होते हैं। कुछ पिता के समान होते हैं और कुछ पिता से हीन। कुछ पुत्र वंश का सर्वनाश करने वाले—कुलांगार होते हैं।

—स्थानांग (४/१)

चत्तारि फला—
आमेणामं एगे आममहुरे, आमेणामं एगे पक्कमहुरे।
पक्केणामं एगे आम महुरे, पक्केणामं एगे पक्कमहुरे।

कुछ फल कच्चे होकर भी थोड़े मधुर होते हैं। कुछ फल कच्चे होने पर भी पके हुए के समान अति मधुर होते हैं। कुछ फल पके होकर भी थोड़े मधुर होते हैं। कुछ फल पके होने पर भी अति मधुर होते हैं। फल के समान पुरुष के भी चार प्रकार होते हैं।

—स्थानांग (४/१)

आवायभद्दएणामं एगेणो संवास भद्दए।
संवास भद्दएणामं एगेणो आवाय भद्दए।
एगे आवाय वि, संवास भद्दए वि।
एगे णो आवाय भद्दए, णो संवास भद्दए।

कुछ मनुष्यों की भेंट होती है; किन्तु सहवास अच्छा नहीं होता। कुछ का सहवास अच्छा रहता है, भेंट नहीं। कुछेक की भेंट भी अच्छी होती है और सहवास भी। कुछेक का न सहवास अच्छा होता है और न भेंट ही।

—स्थानांग (४/१)

एगे अप्पणो वज्जं पासइ, परस्स वि।
एगे णो अप्पणो वज्जंपासइ, णो परस्स।

कुछ मनुष्य अपना दोष देखते हैं, दूसरों का नहीं। कुछ दूसरों का देखते हैं, अपना नहीं। कुछ अपना दोष भी देखते हैं, दूसरों का भी। कुछ न अपना दोष देखते हैं न दूसरों का।

—स्थानांग (४/१)

दीणे णामं एगेणो दीणमणे।
दीणे णामं एगेणे दीण संकप्पे।

कुछ मनुष्य देह व धन आदि से दीन होते हैं; किन्तु उनका मन और संकल्प बड़ा उदार होता है।

—स्थानांग (४/२)

अट्ठकरे णामं एगे णो माण करे।
माण करे णामं एगे णो अट्ठ करे।
एगे अट्ठ करे कि माण करे वि।
एगे णो अट्ठ करे, णो माण करे।

कुछ पुरुष सेवा आदि महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं; किन्तु उसका गर्व नहीं करते! कुछ गर्व करते हैं; किन्तु कार्य नहीं करते। कुछ कार्य भी करते हैं, गर्व भी करते हैं। कुछ न कार्य करते हैं, न गर्व ही करते हैं।

—स्थानांग (४/३)

अप्पणो णामं एगे पत्तियं करेइ, णो परस्स।
परस्स णामं एगे पत्तियं करेइ, णो अप्पणो।
एगे अप्पणो पत्तियं करेइ, परस्स वि।
एगे णो अप्पणो पत्तियं करेइ णो परस्स।

कुछ पुरुष ऐसे होते हैं जो केवल अपना भला चाहते हैं; दूसरों का नहीं। कुछ उदार पुरुष अपना भला चाहे बिना भी दूसरों का भला करते हैं। कुछ अपना भला करते हैं और दूसरों का भी। कुछ न अपना भला करते हैं और न दूसरों का।

—स्थानांग (४/३)

हिययमपावम कलुसं, जीहाविय मधुर भासिणी णिच्चं।
जंमि पुरिसम्मि विज्जति, से मधु कुंभे मधु पिहाणे।

जिसका हृदय निष्पाप और निर्मल है, साथ ही वाणी भी मधुर है, वह पुरुष मधु के घड़े पर मधु के ढक्कन के समान है।

—स्थानांग (४/४)

हिययमपावमकलुसं, जीहाऽविय कडुय भासिणी णिच्चं।
जंमि पुरिसंमि विज्जति, से मधुकुंभे विसपिहाणे॥

जिसका हृदय तो निष्पाप और निर्मल है; किन्तु वाणी से कटु और कठोर भाषी है, वह पुरुष मधु के घड़े पर विष के ढक्कन के समान है।

—स्थानांग (४/४)

जं हिययं कलुषमयं, जीहऽविय मधुर भासिणी णिच्चं।
जंमि पुरिसंमि विज्जति से विस कुंभे महुपिहाणे॥

जिसका हृदय कलुषित और दम्भयुक्त है; किन्तु वाणी से मीठा बोलता है, वह पुरुष विष के घड़े पर मधु के ढक्कन के समान है।

—स्थानांग (४/४)

जं हिययं कलुषमयं, जीहाऽविय कडुयभासिणी णिच्चं।
जंमि पुरिसंमि विज्जति, से विसंकुंभे विसपिहाणे॥

जिसका हृदय भी कलुषित है और वाणी से भी सदैव कटु बोलता है, वह पुरुष विष के घड़े पर विष के ढक्कन के समान है।

—स्थानांग (४/४)

समुद्दं तरामीतेगे समुद्दं तरइ, समुद्दं तरामीतेगे गोप्पयं तरइ।
गोप्पयं तरामीतेगे समुद्दं तरइ, गोप्पयं तरामीतेगे गोप्पयं तरइ।

कुछ मनुष्य सागर तैरने जैसा महान् संकल्प करते हैं और सागर तैरने जैसा महान् कार्य भी करते हैं। कुछ मनुष्य सागर तैरने जैसा महान् संकल्प करते हैं, किन्तु गोपद तैरने जैसा छोटा कार्य ही कर पाते हैं। कुछ गोपद तैरने जैसा छोटा संकल्प करके सागर तैरने जैसा महान् कार्य कर जाते कुछ गोपद तैरने जैसा छोटा संकल्प करके गोपद तैरने जैसा ही छोटा कार्य कर पाते हैं।

—स्थानांग (४/४)

देवे णाममेगे देवीए सद्धिं संवासंगच्छति।
देवे णाममेगे रक्खसीए सद्धिं संवासं गच्छति।
रक्खसे णाममेगे देवीए सद्धिं संवासं गच्छति।
रक्खसे णाममेगे रक्खसीए सद्धिं संवासं गच्छति।

चार प्रकार के सहवास हैं—देव का देवी के साथ, शिष्ट भद्र पुरुष सुशीला भद्र नारी। देव का राक्षसी के साथ—दुष्ट पुरुष सुशीला नारी, राक्षस का राक्षसी के साथ—दुष्ट पुरुष कर्कशा नारी।

—स्थानांग (४/४)

चउहिं ठाणेहिं जीवा तिरिक्ख जोणियत्ताए कम्मं पगरें
तिमाइल्लयाए, नियडिल्लयाए, अलियवयेणणं कुडतुला कूडमाणेणं।

कपट, धूर्तता, असत्य वचन और कूट तुलामान—ये चार तरह के व्यवहार पशु कर्म हैं, इनसे आत्मा पशुयोनि में जाता है।

—स्थानांग (४/४)

चउहिं ठाणेहिं जीवा माणुसत्ताए कम्मं पगरेंति-
पगइ भद्‌याए, पगइ विणीययाए,
साणुक्कोसयाए, अमच्छरियाए।

सहज सरलता, सहज विनम्रता, दयालुता और अमत्सरता—ये चार तरह के व्यवहार मानवीय कर्म हैं, इनसे आत्मा मानव-जन्म पाता है।

—स्थानांग (४/४)

मधुकुंभे नामं एगे मधुपिहाणे।
मधुकुंभे नामं एगे विसपिहाणे।
विसकुंभे नामं एगे मधु पिहाणे।
विसकुंभे नामं एगे विसपिहाणे।

चार प्रकार के घड़े होते हैं—मधु का घड़ा, मधु का ढक्कन। मधु का घड़ा विष का ढक्कन। विष का घड़ा मधु का ढक्कन। विष का घड़ा विष का ढक्कन।

—स्थानांग (४/४)

चत्तारि अवायणिज्जा—
अविणीए, विगइपडिवद्धे, अविओसित पाहुड़े, माई।

चार पुरुष शास्त्राध्ययन के योग्य नहीं हैं—अविनीत, चटौरा, झगड़ालू और धूर्त।

—स्थानांग (४/४)

गज्जिताणामं एगे णो वासित्ता।
वासित्ताणामं एगे णो गज्जित्ता।
एगे गज्जिता वि वासित्ता वि।
एगे णो गज्जित्ता, णो वासित्ता।

मेघ के समान दानी भी चार प्रकार के होते हैं—कुछ बोलते हैं, देते नहीं। कुछ देते हैं; किन्तु कभी बोलते नहीं। कुछ बोलते भी हैं और कुछ देते भी हैं। कुछ न बोलते हैं, न देते हैं।

—स्थानांग (४/४)

चारित्र

असुहादो विणिवित्ती, सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।

अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति ही चारित्र है।

—द्रव्यसंग्रह (४५)

सुचरित्तो जोई सो लहइ णिव्वाणं।

चारित्रशील योगी को ही निर्वाण की प्राप्ति होती है।

—मोक्षपाहुड़ (८३)

चारित्तं खलु धम्मो।

यथार्थतः चारित्र ही धर्म है।

—प्रवचनसार (१/७)

चारित्तसंपन्नयाए णं सेलेसीभावं जणयइ।

चारित्र-सम्पन्नता से मनुष्य शैलेसी-भाव को प्राप्त होता है।

—उत्तराध्ययन (२६/६१)

थोवम्मि सिक्खिदे जिणइ, बहुसुदं जो चरित्तसंपुण्णो।
जो पुण चरित्तहीणो, किं तस्स सुदेव बहुएण॥

चारित्र-सम्पन्न का अल्पतम ज्ञान भी अधिक है और चारित्रहीन का बहुत अधिक शास्त्रज्ञान भी निष्फल है।

—मूलाचार (१०/६)

पिंडं उवहिं च सिज्जं उग्गमउप्पायणेसणासुद्धं ।
चारित्तरक्खणट्ठा, सोहितो होइ स चारित्ती ॥

भोजन, वस्त्र, मकान तथा अन्य संयम सहायक सामग्री के उद्‌गम आदि दोषो को वर्जता हुआ जो अपने चारित्र की रक्षा करता है वह वास्तव में चारित्री है ।

—गच्छाचार-प्रकीर्णक (२१)

जिनवचन

जिणवयणमोसहमिणं, विसयसुह-विरेयणं अमिदभूयं ।
जरमरणवाहिहरणं, खयकरणं सव्वदुक्खाणं ॥

यह जिनवचन विषय-सुख का विरेचन, जरा तथा मरण रूपी व्याधि का हरण और सर्वदुःखो का क्षय करनेवाला अमृत के समान औषध है ।

—दर्शन-पाहुड़ (१७)

जिणवयणे अणुरत्ता, जिणवयणं जे करेंति भावेण ।
अमला असंकिलिट्ठा, ते होंति परित्तसंसारी ॥

जो जिनवचन में अनुरक्त हैं तथा जिनवचनो का भावपूर्वक आचरण करते हैं, वे निर्मल और असंक्लिष्ट होकर परीत संसारी हो जाते हैं, अल्प जन्म-मरणवाले हो जाते हैं ।

—उत्तराध्ययन (३६/२६०)

तस्स मुहुग्गदवयणं,
पुव्वावरदोसविरहियं सुद्धं,
आगममिदि परिकहियं ।

अर्हत् जिनके मुखारविन्द से उद्‌भूत, पूर्वापर दोष-रहित शुद्ध-वचनो को ही आगम कहा गया है ।

—नियमसार (८)

ससमय-परसमयविऊ, गंभीरो दित्तिमं सिवो सोमो ।
गुणसयकलिओ जुत्तो, पवयणसारं परिकहेउं ॥

स्वसमय-परसमय का ज्ञाता, गम्भीर, दीप्तिमान, कल्याणकारी एवं सौम्य और शताधिक गुणों से युक्त ही निर्ग्रन्थ-प्रवचन के सार के कथन का अधिकारी है।

—बृहत्कल्पभाष्य (२४४)

ज्ञान

णाणी ण विणा णाणं।

ज्ञान के बिना कोई ज्ञानी नहीं हो सकता।

—निशीथ-भाष्य (७५)

णाणं भावो ततो णऽण्णो।

ज्ञान आत्मा का ही एक भाव है।

—निशीथ भाष्य (६२६१)

णाणं अंकुसभूदं मत्तस्स हु चित्त हत्थिस्स।

मन रूपी उन्मत्त हाथी को वश में करने के लिए ज्ञान अंकुश के सदृश है।

—भगवती-आराधना (७६०)

णाणं णरस्स सारो।

ज्ञान मनुष्य का सार है।

—दर्शन-पाहुड़ (३१)

इह भविए वि नाणे,
परभविए वि नाणे,
तदुभय वि नाणे।

ज्ञान का आलोक इस जन्म, परजन्म और कभी-कभी दोनों जन्मों में भी रहता है।

—भगवती सूत्र (१/१)

सव्वजगुज्जोयकरं नाणं।

ज्ञान संसार के समस्त रहस्यों को प्रकाशित करनेवाला है।

—व्यवहार-भाष्य (७/२१६)

नाणंमि असंतंमि, चारित्तं वि न विज्जए।

ज्ञान के अभाव में चारित्र भी नहीं है।

—व्यवहार भाष्य (७/२१७)

संसयविमोहविब्भमविवज्जियं अप्परसरूवस्स।
गहणं सम्मणाणं॥

आत्मा व अनात्मा के स्वरूप को संशय, विमोह और विभ्रम-रहित जानना सम्यग्ज्ञान है।

—द्रव्यसंग्रह (४२)

मद्दवकरणं णाणं तेणेव य जे मदं समुवहंति।
ऊणगभायणसरिसा, अगदो वि विसायते तेसिं॥

ज्ञान मानव को मृदु बनाता है, लेकिन जो मनुष्य उससे भी मदोद्धत होकर अधजलगगरी की तरह छलकने लग जाता है, उनके लिए अमृत स्वरूप औषधि भी विष बन जाती है।

—बृहत्कल्पभाष्य (७८३)

जेण तच्चं विबुज्झेज्ज, जेण चित्तं णिरुज्झदि।
जेण अत्ता विसुज्झेज्ज, त णाणं॥

जिससे तत्त्व का बोध होता है, चित्त का निरोध होता है तथा आत्मा शुद्ध होती है, उसी को ज्ञान कहा गया है।

—मूलाचार (५८५)

णाणेण झाणसिज्झी, झाणादो सव्वकम्म णिज्जरणं।
णिज्जरफलं मोक्खं, णाणब्भासं तदो कुज्जा॥

ज्ञान से ध्यान की सिद्धि होती है। ध्यान से सब कर्मों की निर्जरा होती है। निर्जरा का फल मोक्ष है। अतः सतत् ज्ञानाभ्यास करना चाहिए।

—रयणसार (१५७)

तत्थ पंचविहं नाणं, सुयं आभिनिबोहियं।
ओहिनाणं तु तइयं, मणनाणं च केवल॥

ज्ञान पाँच प्रकार का है—आभिनिवोधक या मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधि-ज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान।

—उत्तराध्ययन (२८/४)

णाणुज्जोवो जोवो णाणुज्जोवस्स णत्थि पडिघादो।
दीवेइ खेत्तमप्पं सूरो णाणं जगमसेसं॥

ज्ञान का प्रकाश ही सच्चा प्रकाश है, क्योंकि ज्ञान के प्रकाश की कोई रुकावट नहीं है। सूर्य थोड़े क्षेत्र को प्रकाशित करता है, किन्तु ज्ञान पूरे संसार को।

—अर्हत्प्रवचन (१६/४७)

सोहेइ सुहावेइ अ उवहुज्जन्तो लवो पि लच्छीए।
देवी सरस्सई उण असमग्गा किं पि विणडेइ॥

लक्ष्मी की थोड़ी मात्रा भी उपभोग की जाती हुई शोभती है तथा सुखी करती है, किन्तु किंचित् भी अपूर्ण देवी सरस्वती अर्थात् अधूरी विद्या उपहास कराती है।

—गउडवहो (६८)

विन्नाण समो य बंधवो नत्थि।

विज्ञान के समान बन्धु नहीं है।

—वज्जालग्ग (३६/६०/१)

ज्ञान-कर्म-योग

चरणगुणविप्पहीणो, वुड्डइ सुवहुं पि जाणंतो।

जो व्यक्ति चारित्र-गुण से रहित है, वह बहुत से शास्त्र पढ़ लेने पर भी संसार-समुद्र में डूब जाता है।

—आवश्यकनिर्युक्ति (६७)

सुवुहंपि सुयमहीयं किं काही चरणविप्पहीणस्स ?
अंधस्स जह पलित्ता, दीवसयसहस्स कोडी वि ?

शास्त्रों का ढेर-सा अध्ययन भी चरित्र-हीन के लिए किस काम का ?

नाणंमि असंतंमि, चारित्तं वि न विज्जए।

ज्ञान के अभाव में चारित्र भी नहीं है।

—व्यवहार भाष्य (७/२१७)

संसयविमोहविब्भमविवज्जियं अप्परसरूवस्स।
गहणं सम्मणाणं॥

आत्मा व अनात्मा के स्वरूप को संशय, विमोह और विभ्रम-रहित जानना सम्यग्ज्ञान है।

—द्रव्यसंग्रह (४२)

मद्दवकरणं णाणं तेणेव य जे मदं समुवहंति।
ऊणगभायणसरिसा, अगदो वि विसायते तेसिं॥

ज्ञान मानव को मृदु बनाता है, लेकिन जो मनुष्य उससे भी मदोद्धत होकर अधजलगगरी की तरह छलकने लग जाता है, उनके लिए अमृत स्वरूप औषधि भी विष बन जाती है।

—बृहत्कल्पभाष्य (७८१)

जेण तच्चं विबुज्झेज्ज, जेण चित्तं णिरुज्झदि।
जेण अत्ता विसुज्झेज्ज, त णाणं॥

जिससे तत्त्व का बोध होता है, चित्त का निरोध होता है तथा आत्मा शुद्ध होती है, उसी को ज्ञान कहा गया है।

—मूलाचार (५८५)

णाणेण झाणसिज्झी, झाणादो सव्वकम्म णिज्जरणं।
णिज्जरफलं मोक्खं, णाणब्भासं तदो कुज्जा॥

ज्ञान से ध्यान की सिद्धि होती है। ध्यान से सब कर्मों की निर्जरा होती है। निर्जरा का फल मोक्ष है। अतः सतत् ज्ञानाभ्यास करना चाहिए।

—रयणसार (१५७)

तत्थ पंचविहं नाणं, सुयं आभिनिवोहियं।
ओहिनाणं तु तइयं, मणनाणं च केवल॥

ज्ञान पाँच प्रकार का है—आभिनिबोधक या मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधि-ज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान ।

—उत्तराध्ययन (२८/४)

णाणुज्जोवो जोवो णाणुज्जोवस्स णत्थि पडिघादो ।
दीवेइ खेत्तमप्पं सूरो णाणं जगमसेसं ॥

ज्ञान का प्रकाश ही सच्चा प्रकाश है, क्योंकि ज्ञान के प्रकाश की कोई रुकावट नहीं है । सूर्य थोड़े क्षेत्र को प्रकाशित करता है, किन्तु ज्ञान पूरे संसार को ।

—अर्हत्प्रवचन (१६/४७)

सोहेइ सुहावेइ अ उवहुज्जन्तो लवो पि लच्छीए ।
देवी सरस्सई उण असमग्गा किं पि विणडेइ ॥

लक्ष्मी की थोड़ी मात्रा भी उपभोग की जाती हुई शोभती है तथा सुखी करती है, किन्तु किंचित् भी अपूर्ण देवी सरस्वती अर्थात् अधूरी विद्या उपहास कराती है ।

—गउडवहो (६८)

विन्नाण समो य बंधवो नत्थि ।

विज्ञान के समान बन्धु नहीं है ।

—वज्जालग्ग (३६/६०/१)

ज्ञान-कर्म-योग

चरणगुणविप्पहीणो, वुड्डइ सुबहुं पि जाणंतो ।

जो व्यक्ति चारित्र- गुण से रहित है, वह बहुत से शास्त्र पढ़ लेने पर भी संसार-समुद्र में डूब जाता है ।

—आवश्यकनिर्युक्ति (६७)

सुबहुंपि सुयमहीयं किं काही चरणविप्पहीणस्स ?
अंधस्स जह पलित्ता, दीवसयसहस्स कोडी वि ?

शास्त्रों का ढेर-सा अध्ययन भी चरित्र-हीन के लिए किस काम का ?

क्या करोड़ों दीपक प्रज्ज्वलित कर देने पर भी अन्धे को कोई प्रकाश प्राप्त हो सकता है ?

—आवश्यकनिर्युक्ति (९८)

अप्पं पि सुयमहीयं, पयासयं होइ चरणजुत्तस्स।
इक्को वि जह पईवो, सचक्खुअस्सा पयासेइ॥

शास्त्र का सामान्य अध्ययन भी सच्चरित्र साधक के लिए प्रकाशदायक होता है। जिसके चक्षु खुले हैं, उसे एक दीपक भी अपेक्षित प्रकाश दे देता है।

—आवश्यकनिर्युक्ति (९९)

जहा खरो चंदनभारवाही, भारस्स भागी न हु चंदणस्स।
एवं खु नाणी चरणेण हीणो, नाणस्स भागी न हु सोग्गईए॥

जिस प्रकार चन्दन का भार उठानेवाला गधा केवल भार ढोनेवाला है, उसे चन्दन की सुगन्ध का कोई पता नहीं चलता। इसी प्रकार चारित्र-शून्य ज्ञानी केवल ज्ञान का भार ढोता है, उसे सद्गति की प्राप्ति नहीं होती।

—आवश्यकनिर्युक्ति (१००)

संजोगसिद्धीइ फलं वयंति, न हु एगचक्केण रहो पयाइ।
अंधो य पंगू य वणे समिच्चा, ते संपउत्ता नगरं पविट्ठा॥

संयोग-सिद्धि फलदायी होती है। एक पहिये से रथ कभी नहीं चलता। जैसे अंधा और पंगु मिलकर वन के दावानल से पार होकर नगर में सुरक्षित पहुँच गए, वैसे ही साधक भी ज्ञान और क्रिया के समन्वय से ही मुक्ति-लाभ प्राप्त करते हैं।

—आवश्यकनिर्युक्ति (१०२)

न नाणमित्तेण कज्जनिप्फत्ती।

जान लेने मात्र से कार्य की सिद्धि नहीं हो जाती।

—आवश्यकनिर्युक्ति (११५१)

णाणे णाणुवदेसे, अवट्टमाणो अन्नाणी।

वह ज्ञानी भी अज्ञानी है, जो ज्ञान के अनुसार आचरण नहीं करता है।

—निशीथभाष्य (४७९१)

नाणेण य करणेण य दोहि वि दुक्खक्खयं होइ।

ज्ञान और तदनुसार क्रिया—इन दोनों की साधना से ही दुःख का क्षय होता है।

—मरणसमाधि (१४७)

पढमं नाणं तओ दया।

पहले ज्ञान अनन्तर तदनुसार दया-आचरण होना चाहिये।

—दशवैकालिक (४/१०)

ण हि आगमेण सिज्झदि, सद्दहणं जदि वि णत्थि अत्थेसु।
सद्दहमाणो अत्थे, असंजदो वा ण णिव्वादि॥

तत्त्वों में सम्यक् श्रद्धा, रुचि, प्रेम या भक्ति के बिना केवल शास्त्र-ज्ञान से मुक्ति नहीं होती और श्रद्धा या भक्ति हो जाने पर भी यदि संयम न पाला जाय अर्थात् प्रवृत्ति व निवृत्तिरूप शास्त्रविहित कर्म न किया जाय तो भी निर्वाण प्राप्त नहीं होता है।

—प्रवचनसार (२३७)

आहंसु विज्जाचरणं पमोक्खं।

ज्ञान और आचरण से ही मुक्ति प्राप्त होती है।

—सूत्रकृताङ्ग (१/१२/११)

जइ नत्थि नाणचरणं, दिक्खा हु निरत्थिगा तस्स।

यदि ज्ञान और तदनुसार आचरण नहीं है तो उस साधक की दीक्षा सार्थक नहीं है।

—व्यवहारभाष्य (७/२१५)

जण्णाणवसं किरिया, मोक्खणिमित्तं।

जो क्रिया ज्ञानपूर्वक होती है, वही मोक्ष का कारण होती है।

—वारस अणुवेक्खा (५७)

ण हु सासणभत्ती मेत्तएण, सिद्धांतजाणओ होइ।
णवि जाणओ वि णियमा, पण्णवणाणिच्छि ओणामं॥

मात्र आगम की भक्ति के बल पर ही कोई सिद्धान्त को जाननेवाला

नहीं हो सकता और हर कोई सिद्धान्त को जाननेवाला भी निश्चित रूप से प्ररूपणा करने के योग्य प्रवक्ता नहीं हो सकता।

—सन्मति-प्रकरण (३/६३)

सुयनाणम्मि वि जीवो, वट्टंतो सो न पाउणति मोक्खं।
जो तवसंजममइए, जोगे न चइइ वोढुं जे॥

यदि श्रुतज्ञान में निमग्न जीव भी तप-संयमरूप योग को धारण करने में असमर्थ हो तो मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता।

—विशेषावश्यक-भाष्य (११४३)

सक्किरिया विरहातो, इच्छितसंपावयं ण नाणं ति।
मग्गण्णू वाऽचेट्ठो, वात विहीणोऽधवा पोतो॥

सत्क्रिया से रहित ज्ञान इष्ट लक्ष्य प्राप्त नहीं करा सकता। जैसे मार्ग का जानकार व्यक्ति इच्छित देश की प्राप्ति के लिए समुचित प्रयत्न न करे तो वह गन्तव्य स्थल तक नहीं पहुँच सकता अथवा अनुकूल वायु के अभाव में जलपोत इच्छित स्थान तक नहीं पहुँच सकता।

—विशेषावश्यक-भाष्य (११४४)

हयं नाणं कियाहीणं, हया अन्नाणओ किया।
पासंतो पंगुलोदड्ढो, धावमाणो अ अंधओ॥

क्रियाहीन ज्ञान नष्ट हो जाता है और ज्ञान-हीन क्रिया। जैसे वन में अग्नि लगने पर पंगु उसे देखता हुआ और अन्धा दौड़ता हुआ भी दावानल से बच नहीं पाता, जलकर नष्ट हो जाता है।

—विशेषावश्यक-भाष्य (११५९)

न संतसंति मरणंते, सीलवन्ता बहुस्सुया।

जो साधक शीलवान् और बहुश्रुत है वह मृत्यु के समय में भी संत्रस्त नहीं होता है।

—उत्तराध्ययन (५/२९)

ताणं णाणणत्थ विज्जाचरणं सुचिण्णं।

ज्ञान-संपत्ति और आचरण-संपत्ति के सिवा और कोई ऐसी संपत्ति नहीं है, जो किसी भिक्षु को दुराचार से बचा सके।

—सूत्रकृताङ्ग (१/१३/१२)

णाणायरो अट्ठविहो-काले, विणए, उवहाणे, बहुमाणे,
तहेव अणिण्हवणे विंजण-अत्थ-तदुभये।

ज्ञानाचार के आठ भेद हैं : काल, विनय, उपधान, बहुमान, अनिह्नव, व्यंजन, अर्थ और उभय।

—श्रमण-प्रतिक्रमणसूत्र (५)

ज्ञानी

मरणं हेच्च वयंति पंडिया।

प्रबुद्ध साधक मृत्यु की सीमाओं को पार करके मुक्त हो जाते हैं।

— सूत्रकृतांग (१/२/३/१)

जहा कुम्मे सअंगाइं, सए देहे समाहरे।
एवं पावाइं, मेहावी, अज्झप्पेण समाहरे॥

जिस प्रकार कछुआ आपत्ति से बचने के लिए अपने अंगों को सिकोड़ लेता है, उसी प्रकार पंडितजन को भी विषयों की ओर जाती हुई अपनी इन्द्रियों को अध्यात्म-ज्ञान से सिकोड़ लेनी चाहिए।

—सूत्रकृतांग (१/८/१६)

मेहाविणो लोभ - भया वईया
संतोसिणो न पकरेन्ति पावं॥

लोभ एवं भय से रहित होकर सर्वथा संतुष्ट रहनेवाले मेधावी पुरुष किसी भी प्रकार का पापकर्म नहीं करते।

— सूत्रकृतांग (१/१२/१५)

डहरे य पाणे वुड्ढे य पाणे, ते अत्तओ पासइ सव्वलोए।
उव्वेहई लोगमिणं महन्तं, बुद्धो पमत्तेसु सुबुद्धाऽपमत्ते परिव्वएज्जा॥

ज्ञानी पुरुषों को मोह की निद्रा में सोनेवाले पुरुषों के मध्य रहकर विश्व के छोटे-बड़े सभी प्राणियों को अपनी आत्मा के समान देखना चाहिए। सम-दर्शिता के भाव से इस विश्व का निरीक्षण करना चाहिए।

—सूत्रकृतांग (१/१२/१८)

नहीं हो सकता और हर कोई सिद्धान्त को जाननेवाला भी निश्चित रूप से प्ररूपणा करने के योग्य प्रवक्ता नहीं हो सकता ।

—सन्मति-प्रकरण (३/६३)

सुयनाणम्मि वि जीवो, वट्टंतो सो न पाउणति मोक्खं ।
जो तवसंजममइए, जोगे न चइइ वोढुं जे ॥

यदि श्रुतज्ञान में निमग्न जीव भी तप-संयमरूप योग को धारण करने में असमर्थ हो तो मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता ।

—विशेषावश्यक-भाष्य (११४३)

सक्किरिया विरहातो, इच्छितसंयावयं ण नाणं ति ।
मग्गण्णू वाऽचेट्ठो, वात विहीणोऽधवा पोतो ॥

सत्क्रिया से रहित ज्ञान इष्ट लक्ष्य प्राप्त नहीं करा सकता । जैसे मार्ग का जानकार व्यक्ति इच्छित देश की प्राप्ति के लिए समुचित प्रयत्न न करे तो वह गन्तव्य स्थल तक नहीं पहुँच सकता अथवा अनुकूल वायु के अभाव में जलपोत इच्छित स्थान तक नहीं पहुँच सकता ।

—विशेषावश्यक-भाष्य (११४४)

हयं नाणं कियाहीणं, हया अन्नाणओ किया ।
पासंतो पंगुलोदड्ढो, धावमाणो अ अंधओ ॥

क्रियाहीन ज्ञान नष्ट हो जाता है और ज्ञान-हीन क्रिया । जैसे वन में अग्नि लगने पर पंगु उसे देखता हुआ और अन्धा दौड़ता हुआ भी दावानल से बच नहीं पाता, जलकर नष्ट हो जाता है ।

—विशेषावश्यक-भाष्य (११५९)

न संतसंति मरणंते, सीलवन्ता बहुस्सुया ।

जो साधक शीलवान् और बहुश्रुत है वह मृत्यु के समय में भी संत्रस्त नहीं होता है ।

—उत्तराध्ययन (५/२९)

ताणं णाणणत्थ विज्जाचरणं सुचिण्णं ।

ज्ञान-संपत्ति और आचरण-संपत्ति के सिवा और कोई ऐसी संपत्ति नहीं है, जो किसी भिक्षु को दुराचार से बचा सके ।

—सूत्रकृताङ्ग (१/१३/१२)

णाणायरो अट्ठविहो-काले, विणए, उवहाणे, वहुमाणे,
तहेव अणिण्हवणे विंजण-अत्थ-तदुभये।

ज्ञानाचार के आठ भेद हैं : काल, विनय, उपधान, वहुमान, अनिह्नव, व्यंजन, अर्थ और उभय।

—श्रमण-प्रतिक्रमणसूत्र (५)

ज्ञानी

मरणं हेच्च वयंति पंडिया।

प्रबुद्ध साधक मृत्यु की सीमाओं को पार करके मुक्त हो जाते हैं।

—सूत्रकृतांग (१/२/३/१)

जहा कुम्मे सअंगाइं, सए देहे समाहरे।
एवं पावाइं, मेहावी, अज्झप्पेण समाहरे॥

जिस प्रकार कछुआ आपत्ति से वचने के लिए अपने अंगों को सिकोड़ लेता है, उसी प्रकार पंडितजन को भी विषयों की ओर जाती हुई अपनी इन्द्रियों को अध्यात्म-ज्ञान से सिकोड़ लेनी चाहिए।

—सूत्रकृतांग (१/८/१६)

मेहाविणो लोभ - भया वईया
संतोसिणो न पकरेन्ति पावं॥

लोभ एवं भय से रहित होकर सर्वथा संतुष्ट रहनेवाले मेधावी पुरुष किसी भी प्रकार का पापकर्म नहीं करते।

—सूत्रकृतांग (१/१२/१५)

डहरे य पाणे वुड्ढे य पाणे, ते अत्तओ पासइ सव्वलोए।
उव्वेहई लोगमिणं महन्तं, वुद्धो पमत्तेसु सुवुद्धाऽपमत्ते परिव्वएज्जा॥

ज्ञानी पुरुषों को मोह की निद्रा में सोनेवाले पुरुषों के मध्य रहकर विश्व के छोटे-वड़े सभी प्राणियों को अपनी आत्मा के समान देखना चाहिए। सम-दर्शिता के भाव से इस विश्व का निरीक्षण करना चाहिए।

—सूत्रकृतांग (१/१२/१८)

ववहारेणुवदिस्सइ, णाणिस्स चरित्तं दंसणंणाणं।
ण वि णाणं ण चरित्तं, न दंसणं जाणगो सुद्धो॥

व्यवहार नय से यह कहा जाता है कि ज्ञानी के चारित्र होता है, दर्शन होता है और ज्ञान होता है किन्तु निश्चय-नय से उसके न ज्ञान है, न चारित्र है और न दर्शन है। ज्ञानी तो शुद्ध ज्ञायक है।

—समयसार (७)

जह कणयमग्गितवियं पि, कणयभावं ण तं परिच्चयइ।
तह कम्मोदय तविदो, ण जहदि णाणी दु णाणित्तं॥

जैसे स्वर्ण अग्नि से तप्त होने पर भी अपने स्वर्णत्व को नहीं छोड़ता, वैसे ही ज्ञानी भी कर्म के उदय के कारण उत्तप्त होने पर भी स्वयं के स्वरूप का त्याग नहीं करते हैं।

—समयसार (१८४)

समिक्ख पंडिए तम्हा, पासजाइपहे बहू।
अप्पणा सच्चमेसेज्जा, मेत्तिं भूएसु कप्पए॥

पंडित पुरुष प्रचुर पाशों-बन्धनों व जाति-पथों—चौरासी लाख योनियों की समीक्षा कर स्वयं सत्य की गवेषणा करे और सब जीवों के प्रति मैत्री का आचरण करे।

—उत्तराध्ययन (६/२)

लद्धूणं णिहिं एक्को, तस्स फलं अणुहवेइ सुजणत्ते।
तह णाणी णाणणिहिं, भुंजेइ चइत्तु परतत्तिं॥

जैसे कोई मनुष्य निधि मिलने पर उसका उपयोग स्वजनों के मध्य करता है, वैसे ही ज्ञानीजन प्राप्त ज्ञान-निधि का उपयोग पर-द्रव्यों से विलग होकर स्वयं में ही करता है।

—नियमसार (१५७)

सूई जहा ससुत्ता, न नस्सई कयवरम्मि पडिआ वि।
जीवो वि वह ससुत्तो न नस्सई गओ वि संसारे॥

जिस प्रकार धागे में पिरोई हुई सुई कचरे में गिर जाने पर भी गायब

नहीं होती है, उसी प्रकार ही ससूत्र अर्थात् शास्त्रीय ज्ञान-युक्त जीव संसार में प्रविष्ट होकर भी नष्ट नहीं होता।

—भक्त-परिज्ञा (८६)

जो अप्पाणं जाणदि, असुइ-सरीरादु तच्चदो भिन्नं।
जाणग रूव-सरूवं, सो सत्थं जाणदे सव्वं॥

जो आत्मा को इस अपवित्र देह से तत्त्वतः भिन्न और ज्ञायक भाव रूप जानता है, वही समस्त शास्त्रों का ज्ञाता है।

—कार्तिकेयानुप्रेक्षा (४६५)

मेधाविणो लोभमया वतीता, संतोसिणो नो पकरेंति पावं।

मेधावी पुरुष लोभ एवं मद से अतीत और सन्तोषी होकर पाप नहीं करते।

—सूत्रकृतांग (१/१२/१५)

ज्ञानी-अज्ञानी

जं अण्णाणी कम्मं, खवेदि भवसयसहस्स-कोडीहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो, खवेदि उस्सासमेत्तेण॥

बाल-तप के द्वारा हजारों जन्मों में जितने कर्म अज्ञानी साधक क्षय करता है, उतने कर्म मन, वाणी और शरीर को संयमित रखनेवाला ज्ञानी साधक एक श्वास में क्षय कर देता है।

—प्रवचनसार (३/३८)

सुत्ता अमुणी, मुणिणो सया जागरन्ति।

अज्ञानी साधक सदैव सोये रहते हैं और ज्ञानी सदैव जागृत रहते हैं।

—आचाराङ्ग (१/३/१)

न कम्मुणा कम्म खवेंति बाला। अकम्मुणा कम्म खवेंति धीरा॥

अज्ञानी कर्म से कर्म का नाश नही कर पाते किन्तु ज्ञानी धैर्यवान् मनुष्य अकर्म से कर्म का क्षय कर देते हैं।

—सूत्रकृताङ्ग (१/१२/१५)

जीवाणं चेयकडा कम्मा कज्जंति।
नो अचेयकडा कम्मा कज्जंति॥

आत्माओं के कर्म चेतनाकृत होते हैं, अचेतनाकृत नहीं।

—भगवती सूत्र (१६/२)

नेरइया सुत्ता, नो जागरा।

आत्म-जागरण की दृष्टि से नारकीय जीव सोये रहते हैं, जागते नहीं।

—भगवती सूत्र (१६/६)

अत्तकडे दुक्खे, नो परकडे।

आत्मा का दुःख अपना ही किया हुआ है, किसी अन्य का नहीं।

—भगवती सूत्र (१७/५)

उप्पज्जंति वियंतीय, भावानियमेण पज्जवनयस्स।
दव्वट्ठियस्स सव्वं, सया अणुप्पन्नविणट्ठं॥

पर्याय-दृष्टि से सभी वस्तुएँ नियमानुसार उत्पन्न भी होती हैं और नष्ट भी, किन्तु द्रव्य-दृष्टि से सभी वस्तुएँ उत्पत्ति एवं विनाश से रहित सदा कालध्रुव हैं।

—सन्मतिप्रकरण (१/११)

दव्वं पज्जवविउयं, दव्वविउत्ता य पज्जवा णत्थि।
उप्पायट्ठिई-भंगा, हंदि दवियलक्खणं एयं॥

द्रव्य पर्याय के विना नहीं होता है और पर्याय द्रव्य के विना नहीं होती है। इसलिए द्रव्य का लक्षण उत्पाद, नाश और ध्रुव रूप है।

— सन्मतिप्रकरण (१/१२)

तम्हा सव्वे विणया, मिच्छादिट्ठी सपक्खपडिवद्धा।
अण्णोण्णिस्सिया उण, हवंति सम्मत्त सब्भावा॥

अपने-अपने पक्ष में ही प्रतिवद्ध परस्पर निरपेक्ष सभी मत मिथ्या हैं,

असम्यक् हैं। किन्तु ये ही मत जब परस्पर सापेक्ष होते हैं, तब सत्य एवं सम्यक् बन जाते हैं।

—सन्मतिप्रकरण (१/२१)

जावइया वयणपहा, तावइया चेव होंति णयवाया।
जावइया णयवाया, तावइया चेव परसमया॥

जितने वचन विकल्प हैं, उतने ही नयवाद हैं और जितने ही नयवाद हैं, विश्व में उतने ही मत-मतान्तर हैं।

—सन्मतिप्रकरण (३/४७)

सुत्तं अत्थनिमेणं, न सुत्तमेत्तेण अत्थपडि वत्ती।
अत्थगई पुण णयवायगहणलीणा दुरभिगम्मा॥

सूत्र-अर्थ का स्थान अवश्य है, किन्तु केवल सूत्र से अर्थ की प्रतिपत्ति नहीं हो सकती। अर्थ का ज्ञान तो गहन नयवाद पर आधारित होने के कारण बड़ी कठिनाई से पूर्णरूपेण हो पाता है।

—सन्मतिप्रकरण (३/६४)

भद्दं मिच्छादंसण समूहमइयस्स अमयसारस्स।
जिणवयणस्स भगवओ संविग्ग सुहाहि गम्मस्स॥

मिथ्या दर्शनों का समूह, अमृतसागर—अमृत के समान क्लेश का नाशक और मुमुक्षु आत्माओं के लिए सहज सुबोध भगवान जिनवचन का मंगल हो।

—सन्मतिप्रकरण (३/६९)

जेण विणा लोगस्स वि, ववहारो सव्वहा ण णिघडइ।
तस्स भुवणेक्क गुरुणो, णमो अणेगंतवायस्स॥

जिसके विना संसार का कोई भी व्यवहार सम्यक् रूप से घटित नहीं होता है, जो त्रिभुवन का एकमात्र गुरु है, उस अनेकान्तवाद को मेरा नमस्कार है।

—सन्मतिप्रकरण (३/७०)

जीवाणं चेयकडा कम्मा कज्जंति।
नो अचेयकडा कम्मा कज्जंति॥

आत्माओं के कर्म चेतनाकृत होते हैं, अचेतनाकृत नहीं।

—भगवती सूत्र (१६/२)

नेरइया सुत्ता, नो जागरा।

आत्म-जागरण की दृष्टि से नारकीय जीव सोये रहते हैं, जागते नहीं।

—भगवती सूत्र (१६/६)

अत्तकडे दुक्खे, नो परकडे।

आत्मा का दुःख अपना ही किया हुआ है, किसी अन्य का नहीं।

—भगवती सूत्र (१७/५)

उप्पज्जंति वियंतीय, भावानियमेण पज्जवनयस्स।
दव्वट्ठियस्स सव्वं, सया अणुप्पन्नविणट्ठं॥

पर्याय-दृष्टि से सभी वस्तुएँ नियमानुसार उत्पन्न भी होती हैं और नष्ट भी, किन्तु द्रव्य-दृष्टि से सभी वस्तुएँ उत्पत्ति एवं विनाश से रहित सदा कालध्रुव हैं।

—सन्मतिप्रकरण (१/११)

दव्वं पज्जवविउयं, दव्वविउत्ता य पज्जवा णत्थि।
उप्पायट्ठिई-भंगा, हंदि दवियलक्खणं एयं॥

द्रव्य पर्याय के बिना नहीं होता है और पर्याय द्रव्य के बिना नहीं होती है। इसलिए द्रव्य का लक्षण उत्पाद, नाश और ध्रुव रूप है।

— सन्मतिप्रकरण (१/१२)

तम्हा सव्वे विणया, मिच्छादिट्ठी सपक्खपडिबद्धा।
अण्णोण्णिस्सिया उण, हवंति सम्मत्त सब्भावा॥

अपने-अपने पक्ष में ही प्रतिबद्ध परस्पर निरपेक्ष सभी मत मिथ्या हैं,

असम्यक् हैं। किन्तु ये ही मत जब परस्पर सापेक्ष होते हैं, तब सत्य एवं सम्यक् बन जाते हैं।

—सन्मतिप्रकरण (१/२१)

जावइया वयणपहा, तावइया चेव होंति णयवाया।
जावइया णयवाया, तावइया चेव परसमया॥

जितने वचन विकल्प हैं, उतने ही नयवाद हैं और जितने ही नयवाद हैं, विश्व में उतने ही मत-मतान्तर हैं।

—सन्मतिप्रकरण (३/४७)

सुत्तं अत्थनिमेणं, न सुत्तमेत्तेण अत्थपडि वत्ती।
अत्थगई पुण णयवायगहणलीणा दुरभिगम्मा॥

सूत्र-अर्थ का स्थान अवश्य है, किन्तु केवल सूत्र से अर्थ की प्रतिपत्ति नहीं हो सकती। अर्थ का ज्ञान तो गहन नयवाद पर आधारित होने के कारण बड़ी कठिनाई से पूर्णरूपेण हो पाता है।

—सन्मतिप्रकरण (३/६४)

भद्दं मिच्छादंसण समूहमइयस्स अमयसारस्स।
जिणवयणस्स भगवओ संविग्ग सुहाहि गम्मस्स॥

मिथ्या दर्शनों का समूह, अमृतसागर—अमृत के समान क्लेश का नाशक और मुमुक्षु आत्माओं के लिए सहज सुबोध भगवान जिनवचन का मंगल हो।

—सन्मतिप्रकरण (३/६९)

जेण विणा लोगस्स वि, ववहारो सव्वहा ण णिघऽइ।
तस्स भुवणेक्क गुरुणो, णयो अणेगंतवायस्स॥

जिसके बिना संसार का कोई भी व्यवहार सम्यक् रूप से घटित नहीं होता है, जो त्रिभुवन का एकमात्र गुरु है, उस अनेकान्तवाद को मेरा नमस्कार है।

—सन्मतिप्रकरण (३/७०)

नाणफला भावाओ, मिच्छादिट्ठिस्स अण्णाणं।

सदाचार का अभाव होने से मिथ्या दृष्टि का ज्ञान अज्ञान है।

—विशेषावश्यक-भाष्य (५२१)

सव्वं चिय पइसमयं, उप्पज्जइ नासए यनिच्चं च।

संसार का हरेक पदार्थ प्रतिक्षण पैदा भी होता है, नष्ट भी होता है और साथ ही नित्य भी रहता है।

—विशेषावश्यक-भाष्य (५४४)

हे उप्पमवो बन्धो।

आत्मा को कर्मबन्ध मिथ्यात्व आदि हेतुओ से होता है।

—दशवैकालिक-निर्युक्ति-भाष्य (४६)

सुहदुक्खसंपओगो, न विज्जई निच्चवायपक्खंमि
एगंतुच्छे अंमि य, सुहदुक्ख विगप्पणजुत्तं॥

एकांत नित्यवाद के अनुसार सख-दुःख का संयोग संगत नही बैठता और एकान्त उच्छेदवाद—अनित्यवाद के अनुसार भी सुख दुःख की बात उपयुक्त नही होती। अतः नित्यानित्यवाद ही इसका सही समाधान कर सकता है।

—दशवैकालिक-निर्युक्ति (६०)

जावइग्गा ओदइया सव्वो सो वाहिरो जोगो।

कर्मोदय से प्राप्त होनेवाली जितनी भी अवस्थाएँ है, वे सब वाह्य योग है।

—उत्तराध्ययन-निर्युक्ति (८)

तह ववहारेण विणा, परमत्थुवएसणसक्कं।

बिना व्यवहार के परमार्थ का उपदेश करना अशक्य है।

—समयसार (८)

ववहारणयो भासदि, जीवो देहो य हवदि खलु इक्को।
ण दु णिच्छयस्स जीवो, देहो य कदापि एकट्ठो॥

व्यवहार-नय से जीव और देह एक-से प्रतीत होते हैं, किन्तु निश्चयदृष्टि से जीव और देह दोनो अलग हैं, एक कदापि नही है।

—समयसार (२७)

उवओग एव अहमिक्को।

मैं (आत्मा) एक मात्र उपयोगमय हूँ, ज्ञानमय हूँ।

—समयसार (३७)

अहमिक्को खलु सुद्धो, दंसणणाणमइयो सदारूवी।
ण वि अत्थिमज्झ किंचि वि, अण्णं परमाणुमित्तंपि॥

आत्मद्रष्टा चिन्तन करता है कि मैं तो शुद्ध ज्ञान-दर्शन, स्वरूप, नित्य अमूर्त, एक शुद्ध शाश्वत तत्त्व हूँ। परमाणु-मात्र भी अनन्य द्रव्य मेरा नहीं है।

—समयसार (३८)

णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करोदि।
वेदयदि पुणोत्तम चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं॥

निश्चयनय के अभिप्रायानुसार आत्मा ही आत्मा को करता है और आत्मा को भी भोगता है।

—समयसार (८३)

णत्थि विणा परिणामं, अत्थो अत्थं विणेह परिणामो।

कोई भी पदार्थ बिना परिणमन के नहीं रहता है, और परिणमन भी बिना पदार्थ के नहीं होता है।

—प्रवचनसार (१/१०)

तच्चं तह परमट्ठं, दव्व-सहावं तहेव परमपरं।
धेयं सुद्धं परमं, एयट्ठा हुंति अभिहाणा।

तत्त्व, परमार्थ, द्रव्य-स्वभाव, पर-अपरध्येय, शुद्ध, परम—ये सब शब्द एकार्थवाची हैं।

—नयचक्र (४)

जीवाऽजीवा य बन्धो य, पुण्णं पावाऽसवो तहा।
संवरो निज्जरा मोक्खो, संतेए तहिया नव॥

जीव, अजीव, बन्ध, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष—ये नौ तत्त्व हैं।

—उत्तराध्ययन (२८/२४)

तस्स मुहुग्गदवयणं, पुव्वावरदोसविरहियं सुद्धं ।
आगममिदि परिकहियं, तेण दु कहिया हवंतितच्चत्था ॥

अर्हत् के मुख से उद्भूत, पूर्वापर दोष-रहित शुद्ध वचनो को आगम कहते हैं। उस आगम में जो कहा गया है, वही तत्त्वार्थ है।

—नियमसार (८)

तप

अथिरं पि थिरं वंकं पि उजुअं दुल्लहं पि तह सुलहं ।
दुस्सज्झंपि सुसज्झं, तवेण संपज्जए कज्जं ॥

तप के प्रभाव से अस्थिर हो तो भी वह स्थिर हो जाता है। वक्र हो तो भी वह सरल वन जाता है। दुर्लभ हो तो भी वह सुलभ हो जाता है और दुःसाध्य हो तो भी वह सुसाध्य वन जाता है।

—तपःकुलकम् (३)

जे पयणुभत्तपाणा, सुयहेऊ ते तवस्सिणो समए ।
जो अतवो सुयहीणो, बाहिरयो सो छुहाहारो ॥

जो शास्त्राभ्यास-स्वाध्याय के लिए अल्प-आहार करते हैं, वे आगम में तपस्वी माने गये हैं। श्रुतविहीन तप तो केवल भूख का आहार करना है, भूखे मरना है।

—मरणसमाधि (१३०)

सो नाम अणसणतवो, जेण मणो मंगुलं न चिंतेइ ।
जेण न इंदियहाणी, जेण य जोगा न हायंति ॥

वही अनशन तप श्रेष्ठ है, जिससे कि मन अमङ्गल न सोचे। इन्द्रियो की हानि न हो और नित्य की योग-धर्म क्रियाओ में विघ्न न आए।

—मरणसमाधि (१३४)

नो पूयणं तवसा आवहेज्जा ।

तप के द्वारा पूजा-प्रतिष्ठा की इच्छा नहीं करनी चाहिये।

—सूत्रकृताङ्ग (१/७/२७)

विसयकसाय विणिग्गहभावं, काऊण झाणसज्झाए।
जो भावइ अप्पाणं, तस्स तवं होदि णियमेण॥

इन्द्रिय-विषयों तथा कषायों का निग्रह कर ध्यान और स्वाध्याय के द्वारा जो आत्मा को भावित करता है, उसी के तप-धर्म होता है।

—बारह अनुप्रेक्षा (७७)

तवसा धुयकम्मंसे, सिद्धे हवइ सासए।

तपश्चर्या द्वारा समग्र कर्मों को दूर करनेवाला मनुष्य शाश्वत, सिद्ध हो जाता है।

—उत्तराध्ययन (३/२०)

सक्खं खु दीसइ तवोविसेसो,
न दीसई जाइविसेस कोइ।

तप की विशेषता-महिमा तो प्रत्यक्ष में दिखलाई पड़ती है, किन्तु जाति की कोई विशेषता नहीं दीखती है।

—उत्तराध्ययन (१२/३७)

तवो जोई जीवो जोइठाणं, जोगा सुया सरीरं कारिसंगं।
कम्म एहा संजमजोग सन्ती, होमं हुणामी इसिणं पसत्थं॥

तप ज्योति है। जीव-आत्मा ज्योति का स्थान है। मन, वचन और काया का योग कड़छी है। शरीर कण्डे हैं। कर्म ईन्धन है। संयम की प्रवृत्ति शान्तिपाठ है। ऋषि इस तरह का प्रशस्त यज्ञ करते हैं।

—उत्तराध्ययन (१२/४४)

असिधारागमणं चेव, दुक्करं चरिउं तवो।

तप का आचरण तलवार की धार पर चलने-जैसा दुष्कर है।

—उत्तराध्ययन (१९/३८)

सो तवो दुविहो वुत्तो, बाहिरब्भन्तरो तहा।

तप दो प्रकार का है—बाह्य और आभ्यन्तर।

—उत्तराध्ययन (३०/७)

अणसण मूणोरिया, भिक्खायरिया य रस परिच्चाओ।
कायकिलेसो संलीणया य, बज्झो तवो होइ॥

अनशन, ऊनोदरिका, भिक्षाचर्या, रस-परित्याग, काय-क्लेश और संलीनता—ये बाह्य तप हैं।

—उत्तराध्ययन (३०/८)

पायच्छित्तं विणओ, वेयावच्चं तहेव सज्झाओ।
झाणं च विउस्सग्गो, एसो अब्भिन्तरो तवो॥

प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान तथा व्युत्सर्ग—ये आभ्यन्तर तप हैं।

—उत्तराध्ययन (३०/३०)

जहा तवस्सी धुणते तवेणं
कम्मं तहा जाण तवोऽणुमंता।

जिस प्रकार तपस्वी अपने तप से कर्मों को धुन डालता है, उसी तरह तप का अनुमोदन करनेवाला भी।

—बृहत्कल्पभाष्य (४४०१)

जह खलु मइलं वत्थं, सुज्झइ उद्गाइएहिं दव्वेहिं।
एवं भावुवहाणेण, सुज्झए कम्मअट्ठविहं॥

जैसे जल इत्यादि शोधक द्रव्यों से मलिन वस्त्र भी स्वच्छ हो जाता है, वैसे ही आध्यात्मिक तप-साधना से आत्मा अष्टविध कर्ममल से मुक्त हो जाता है।

—आचारांग-निर्युक्ति (२८२)

तप्पते अणेण पावं कम्ममिति तपो।

जिस साधना के माध्यम से पाप-कर्म तप्त होता है, वह तप है।

—निशीथचूर्णि-भाष्य (४६)

तवस्स मूलं धित्ती।

तप का मूल धैर्य है।

—निशीथचूर्णि (८४)

जस्स अणेसणमप्पातं पि तवो तप्पडिच्छगा समणा।
अण्णं भिक्खमणेसमध ते समणा अणाहारा॥

पर-वस्तु की आसक्ति से रहित होना ही आत्मा का निराहार रूप वास्तविक तप है और जो श्रमण भिक्षा में दोषरहित शुद्ध आहार ग्रहण करता है, वह निश्चय दृष्टि से तपस्वी है।

—प्रवचनसार (३/२७)

निउणो वि जीव पोओ, तव संजममारु अविहूणो।

शास्त्र-ज्ञान में कुशल साधक भी तप, संयम रूप पवन के विना संसार-सिन्धु को तैर नहीं सकता है।

—आवश्यक-निर्युक्ति (६६)

जत्थ कसायणिरोहो,
बंभं जिणपूयणं अणसणं च।
सो सव्वो चेव तवो॥

जहाँ कषायों का निरोध, ब्रह्मचर्य का पालन, जिन पूजन तथा आत्मलाभ के लिए अनशन किया जाता है, वह सब तप है।

—पंचास्तिकाय (१८/२६)

विणओ वि तवो।

विनय भी तप का एक प्रकार है।

—प्रश्नव्याकरण सूत्र (२/४)

अवसमणो अक्खाणं, उववासो वण्णिदोसमासेण।

इन्द्रियों के उपशमन को ही उपवास कहा गया है।

—कार्तिकेयानुप्रेक्षा (४३६)

नो इहलोगट्ठयाए, तवमहिट्ठिज्जा।
नो परलोगट्ठयाए, तवमहिट्ठिज्जा॥
नो कित्तीवसद्दसिलोगट्ठयाए तव महिट्ठिज्जा।
नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा॥

न इस लोक के लिए तप करना चाहिये, और न परलोक के लिए तप करना चाहिये, ऐसे ही कीर्त्ति, वर्ण, शब्द व श्लोक के लिए भी तप नहीं करना चाहिये। सिर्फ कर्मनिर्जरा के लिए ही तप करना चाहिये इसके सिवा अन्य के लिए नहीं।

—दशवैकालिक (६/४/४)

विविहगुणतवोरए निच्चं, भवइ निरासए निज्जरट्ठिए।
तवसा धुणइ पुराणपावगं, जुत्तो सया तवसमाहिए॥

विविधगुण वाले तप में जो सदा रत रहता है, वह लौकिक आशाओं से दूर होता है, तथा निर्जरा को चाहने वाला जो साधु तपः समाधि में सदा लगा रहा है, वह उस तपस्या से प्राचीन पाप को दूर करता है।

—दशवैकालिक (६/४/४)

जहा महातलायस्स, सन्निरुद्धे जलागमे।
उस्सिंचणाए तवणाए, कमेणं सोसणा भवे॥
एवं तु संजयस्सावि, पावकम्मनिरासवे।
भवकोडीसंचियं कम्मं, तवसा निज्जरिज्जई॥

किसी बड़े तालाब का जल, जल आने के मार्ग को रोकने से, पहले के जल को उलीचने से और सूर्य के ताप से क्रमशः जैसे सूख जाता है उसी प्रकार संयमी के करोड़ो भवो के संचित कर्म, पाप-कर्म आने के मार्ग को रोकने पर तप से नष्ट हो जाते हैं।

—उत्तराध्ययन (३०/५-६)

तितिक्षा

एस वीरे पंससिए, जे ण णिविज्जति आदाणाए।

जो अपनी साधना में उद्विग्न नहीं होता है, वही वीर साधक प्रशंसित होता है।

—आचारांग (१/२/४)

वोसिरे सव्वसो कायं, न मे देहे परीसहा।

सभी तरह से शरीर का मोह त्याग दीजिए, परिणामतः परीषहों के आने पर विचार कीजिये कि मेरे शरीर में परीषह है या नहीं?

आचारांग (१/८/८/२१)

अज्जेवाहं न लब्भामो, अविलाभो सुए सिया।
जो एवं पडिसंचिक्खे, अलाभो तं न तज्जए॥

'आज नहीं मिला है तो क्या है, कल मिल जायेगा'—जो यह विचार कर लेता है, वह कभी अलाभ के कारण पीड़ित नहीं होता।

—उत्तराध्ययन (२/३१)

दुक्खेण पुट्ठे धुयमायएज्जा।

दुःख आ जाने पर भी मन पर संयम ही रखना चाहिए।

—सूत्रकृतांग (१/७/२९)

तितिक्खं परमं नच्चा।

तितिक्षा को परम धर्म समझकर आचरण करो।

—सूत्रकृतांग (१/८/२६)

वुच्चमाणो न संजले।

यदि साधक को कोई अपशब्द कहे, तो भी वह उस पर गरम न हो—क्रोध न करे।

—सूत्रकृतांग (१/९/३१)

सुमणे अहियासेज्जा, न य कोलाहलं करे।

साधक को जो भी कष्ट हो, प्रसन्नचित्त से सहन करे, कोलाहल न करे।

—सूत्रकृतांग (१/९/३१)

त्यागी

जे य कंते पिए भोए, लद्धे वि पिट्ठि कुव्वई।
साहीणे चयइ भोए, से हु चाइत्ति वुच्चई॥

वही सच्चा त्यागी कहलाता है जो अपने को प्रिय, प्रियतर और प्रियतम

लगने वाले मनोहर भोग प्राप्त होने पर भी स्वाधीनतापूर्वक उनको पीठ दिखा देता है, अर्थात् सब प्रकार से प्राप्त भोगों को त्याग देता है।

—दशवैकालिक (२/२)

णिव्वेदतियं भावइ, मोहं चइऊण सव्वदव्वेसु।
जो तस्स हवे चागो, इदि भणिदं जिणवरिंदेहिं॥

सब द्रव्यों में होनेवाले मोह को त्यागकर जो त्रिविध निर्वेद से अर्थात् संसार, शरीर तथा भोगों के प्रति वैराग्य, से अपनी आत्मा को भावित करता है, उसके त्याग धर्म होता है, ऐसा जिनेश्वर ने कहा है।

—बारस अणुवेक्खा (७८)

त्रिवेणी

सरीरमाहु नाव त्ति,
जीवो वुच्चइ नाविओ।
संसारो अण्णवो वुत्तो॥

शरीर को नौका कहा गया है और जीव को नाविक तथा संसार को समुद्र।

—उत्तराध्ययन (२३/७३)

तओ ठाणाइं देवे पीहेज्जा।
माणुसं भवं, आरिए खेत्ते जम्मं, सकुल पच्चायांति॥

देवता भी तीन बातों की इच्छा करते रहते हैं—मनुष्य-जीवन, आर्य क्षेत्र में जन्म, और श्रेष्ठ कुल की प्राप्ति।

—स्थानांग (३/३)

दया

मा हससु परं दुहियं कुणसु दयं णिच्चमेव दीणम्मि।

दूसरे दुःखी लोगों पर मत हँसो, हमेशा ही दीनों पर दया करो।

—कुवलयमाला (अनुच्छेद ८५)

दाणेण फुरइ कित्ती, दाणेण होइ निम्मला कंती।
दाणावज्जिअहिअओ, वेरी वि हु पाणियं वहइ॥

दान के द्वारा कीर्ति और निर्मल कांति बढ़ती है। दान से वशीभूत हुआ हृदयवाला दुश्मन भी दातार के घर पानी भरता है।

—दानकुलकम् (४)

दाणं सोहग्गकरं, दाणं अरुग्गकारणं परमं।
दाणं भोगनिहाणं, दाणं ठाणं गुणगणाणं॥

दान सुख-सौभाग्यकारी है, परम आरोग्यकारी है, पुण्य का निधान है और गुणपुञ्ज का स्थान है।

—दानकुलकम् (३)

दाणं मुक्खं सावयधम्मे।

दान देना सद्गृहस्थ का धर्म है।

—रयणसार (११)

दाण भोयणमेत्तं, दिज्जइ धन्नो हवेइ सायारो।
पत्तापत्तविसेसं, संदंसणे किं वियारेण॥

जब भोजन मात्र का दान करने से भी गृहस्थ धन्य होता है; तब इसमें पात्र और अपात्र का विचार करने से क्या लाभ?

—रयणसार (१५)

दिण्णइ सुपत्तदाणं विससतो होइ भोगसग्ग मही।
णिव्वाण सुहं कमसो णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहिं॥

सुपात्र को दान प्रदान करने से भोगभूमि तथा स्वर्ग के सर्वोत्तम सुख की प्राप्ति होती है और अनुक्रम से मोक्ष-सुख की प्राप्ति होती है। ऐसा जिनेश्वरों ने कहा है।

—रयणसार (१६)

खेत्तविसमे काले ववियं सुवीयं फलं जहा विउलं।
होइ तहा तं जाणइ पत्तविसेसेसु दाणफलं॥

जो मनुष्य उत्तम खेत में अच्छे बीज को बोता है तो उसका फल मन-वांछित पूर्ण रूप से प्राप्त होता है। इसी प्रकार उत्तम पात्र में दान देने से सर्वोत्कृष्ट सुख की प्राप्ति होती है।

—रयणसार (१७)

अइवड्ढबाल-मूयंध-बहिर-देसंतरीय-रोडाणं।
जह जोग्गं दायव्वं करुणादानं।

अतिवृद्ध, बालक, गूंगा, अन्धा, बहिरा, परदेशी एवं रोगी-दरिद्र प्राणियों को यथायोग्य करुणा-दान देना चाहिए।

—वसुनन्दि-श्रावकाचार (२३५)

जं कीरइ परिरक्खा णिच्चं मरण-भयभीरु जीवाणं।
तं जाण अभयदाणं सिहामणिं सव्वदाणाणं॥

मरण से भयभीत जीवों का जो नित्य परिरक्षण किया जाता है, वह सब दानों का शिरोमणि रूप अभयदान है।

—वसुनन्दि श्रावकाचार (२३८)

आहारोसह-सत्थाभय-भेओ जं चउव्विहं दाणं।
तं वुच्चइ दायव्वं, णिद्दिट्ठमुवासयज्झयणे॥

आहार, औषध, शास्त्र और अभय के रूप में दान चार प्रकार का कहा गया है। उपासकाध्ययन (श्रावकाचार) में उसे देने योग्य कहा गया है।

—वसुनन्दि-श्रावकाचार (२३३)

जह उसरम्मि खित्ते पइण्णवीयं ण किं पि रुहेइ।
फला वज्जियं वियाणइ अपत्तदिण्णं तहा दाणं॥

जिस प्रकार ऊसर खेत में बोया गया बीज कुछ भी नहीं उगता है, उसी प्रकार अपात्र में दिया गया दान भी फल-रहित-सा है।

—वसुनन्दि-श्रावकाचार (२४२)

दाणाणं सेट्ठं अभयप्पमाणं।

दानों में श्रेष्ठ अभयदान है।

—सूत्रकृताङ्ग (१/६/२३)

जे एणं पडिसेहति वित्तिच्छेयं करंति ते।

जो अनुकम्पादान का प्रतिषेध करता है, वह असहायों की वृत्ति-आजीविका का छेदन करता है। यानी गरीबों के पेट पर लात मारता है।

—सूत्रकृताङ्ग ( )

मरण-भयभीरुआणं अभयं जो देदि सव्वजीवाणं।
तं दाणाणवि तं दाणं पुण जोगेसु मूलजोगंपि॥

मृत्यु भय से भय भीत जीवों को जो अभयदान देता है, वही दान सब दानों में उत्तम है।

—मूलाचार (६३६)

साहूणं कप्पणिज्जं, जं न वि दिण्णं कहिं पि किंचि तहिं।
धीरा जहुत्तकारी, सुसावया तं न भुंजंति॥

जिस घर में साधुओं को उनके अनुकूल किंचित् भी दान नहीं दिया जाता, उस घर में शास्त्रोक्त आचरण करनेवाले धीर तथा त्यागी सद्गृहस्थ भोजन नहीं करते।

—उपदेश-माला (२३६)

जो मुणिभुत्तविसेसं, भुंजइ सो भुंजए जिणुवदिट्ठं।
संसारसारसोक्खं, कमसो णिव्वाणवर सोक्खं॥

जो गृहस्थ मुनि को भोजन (दान) के पश्चात् बचा हुआ भोजन करता है, वास्तव में उसी का भोजन करना सार्थक है। वह जिनोपदिष्ट संसार का सारभूत सुख तथा क्रमशः मोक्ष का उत्तम सुख प्राप्त करता है।

—रयणसार (२१)

दुल्लहाओ मुहादायी, मुहाजीवी वि दुल्लहा।
मुहादायी मुहाजीवी, दोवि गच्छंति सुगइं॥

इस विश्व में निःस्वार्थ दाता और निःस्वार्थ जीवन जीनेवाला पात्र दानों ही दुर्लभ हैं। इस तरह के सुधादायी और सुधाजीवी दोनों ही सुगति में जाते हैं।

—दशवैकालिक (५/१)

लच्छी दिज्जउ दाणे दया-पहाणेण।
जा जल-तरंग-चवला दो तिण्णि दिणाइ चिट्ठेइ।

यह लक्ष्मी जल में उठनेवाली लहरों के सदृश चंचल है। दो-तीन दिन ठहरनेवाली है। अतः इसे दयालु होकर दान दो।

—कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा (१२)

जो पुण लच्छि संचदि ण य…देदि पत्तेसु।
सो अप्पाणं वंचदि मणुयत्तं णिप्फलं तस्स॥

जो मनुष्य लक्ष्मी का केवल संचय करता है, दान नहीं देता, वह अपनी आत्मा को ठगता है और उसका मनुष्य जन्म लेना वृथा है।

—कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा (१३)

जो वड्ढमाण-लच्छि अणवरयं दे दि धम्म कज्जेसु।
सो पंडिएहि थुव्वदि तस्स वि सयला हवे लच्छी॥

जो मानव अपनी बढ़ती हुई लक्ष्मी को सर्वदा धर्म के कामों में देता है, उसकी लक्ष्मी सदा सफल है और पण्डितजन भी उसका यश गाते हैं, प्रशंसा करते हैं।

—कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा (१९)

भोयणदाणे दिण्णे पाणा वि य रक्खिया होंति।

भोजन का दान देने से उनके प्राणों की रक्षा होती है।

—कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा (३६४)

दारिद्रय

दारिद्दय तुज्झ गुणा गोविज्जंता वि धीरपुरिसेहिं।
पाहुणएसु छणेसु य वसणेसु य पायडा हुंति॥

दारिद्र्य! धीर पुरुषों द्वारा छिपाये जाने पर भी तुम्हारे गुण पाहुनों, उत्सवों और व्यसनों (संकट) में प्रकट हो जाते हैं।

— वज्जालग्ग (१४/१)

जे जे गुणिणो जे जे वि माणिणो जे वियड्ढसंमाणा।
दालिद्द रे वियक्खण ताण तुमं साणुराओ सि॥

दारिद्र्य! तुम बड़े विचक्षण (विद्वान्) हो, क्योंकि जितने गुणवान्, स्वाभिमानी और विदग्धों में सम्मानित लोग हैं, उन पर अनुरक्त रहते हो।

—वज्जालग्ग (१४/३)

जे भग्गा विहवसमीरणेण वंकं ठवंति पयमग्गं।
ते नूणं दालिद्दोसहेण जइ पंजलिज्जंति॥

जो वैभवरूपी वात-व्याधि से भग्न होकर टेढ़ा पैर रखकर चलते हैं, वे निश्चय ही दारिद्र्य-रूपी महौषध से सीधे हो जाते हैं।

—वज्जालग्ग (१४/५)

धम्मत्थकामरहिया जे दियहा निद्धणाण वोलीणा।
जइ ताइ गणेइ विही गणेउ न हु एरिसं जुत्तं॥

निर्धनों के जो दिन धर्म, अर्थ और काम के अभाव में बीत चुके हैं, यदि विधाता उन्हें भी आयु के भीतर गिनता है, तो गिन ले परन्तु यह उचित नहीं है।

—वज्जालग्ग (१४/८)

संकुयइ संकुयंते वियसइ वियसंतयम्मि सूरम्मि।
सिसिरे रोरकुडुंबं पंकयलीलं समुव्वहइ॥

शिशिर में दरिद्र-कुटुम्ब पंकजों की लीला धारण कर लेता है। वह सूर्य के संकुचित होने पर संकुचित और उसके विकसित होने पर विकसित होता है।

—वज्जालग्ग (१४/६)

दुःख

न य संसारम्मि सुहं, जाइजरा मरण दुक्ख गहियस्स।

इस संसार में जन्म, जरा और मरण के दुःख से ग्रस्त जीव को कोई सुख नहीं है।

—सावयपण्णत्ति (३६०)

लच्छी दिज्जउ दाणे दया-पहाणेण।
जा जल-तरंग-चवला दो तिण्णि दिणाइ चिट्ठेइ।

यह लक्ष्मी जल में उठनेवाली लहरों के सदृश चंचल है। दो-तीन दिन ठहरनेवाली है। अतः इसे दयालु होकर दान दो।

—कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा (१२)

जो पुण लच्छि संचदि ण य…देदि पत्तेसु।
सो अप्पाणं वंचदि मणुयत्तं णिप्फलं तस्स॥

जो मनुष्य लक्ष्मी का केवल संचय करता है, दान नहीं देता, वह अपनी आत्मा को ठगता है और उसका मनुष्य जन्म लेना वृथा है।

—कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा (१३)

जो वड्ढमाण-लच्छि अणवरयं देदि धम्म कज्जेसु।
सो पंडिएहि थुव्वदि तस्स वि सयला हवे लच्छी॥

जो मानव अपनी बढ़ती हुई लक्ष्मी को सर्वदा धर्म के कामों में देता है, उसकी लक्ष्मी सदा सफल है और पण्डितजन भी उसका यश गाते हैं, प्रशंसा करते हैं।

—कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा (१९)

भोयणदाणे दिण्णे पाणा वि य रक्खिया होंति।

भोजन का दान देने से उनके प्राणों की रक्षा होती है।

—कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा (३६४)

दारिद्रय

दारिद्दय तुज्झ गुणा गोविज्जंता वि धीरपुरिसेहिं।
पाहुणएसु छणेसु य वसणेसु य पायडा हुंति॥

दारिद्र्य! धीर पुरुषों द्वारा छिपाये जाने पर भी तुम्हारे गुण पाहुनों, उत्सवों और व्यसनों (संकट) में प्रकट हो जाते हैं।

—वज्जालग्ग (१४/१)

जे जे गुणिणो जे जे वि माणिणो जे वियड्ढसंमाणा ।
दालिद्द रे वियक्खण ताण तुमं साणुराओ सि ॥

दारिद्र्य ! तुम बड़े विचक्षण (विद्वान्) हो, क्योंकि जितने गुणवान्, स्वाभिमानी और विदग्धों में सम्मानित लोग हैं, उन पर अनुरक्त रहते हो ।

—वज्जालग्ग (१४/३)

जे भग्गा विहवसमीरणेण वंकं ठवंति पयमग्गं ।
ते नूणं दालिद्दोसहेण जइ पंजलिज्जंति ॥

जो वैभवरूपी वात-व्याधि से भग्न होकर टेढ़ा पैर रखकर चलते हैं, वे निश्चय ही दारिद्र्य-रूपी महौषध से सीधे हो जाते हैं ।

—वज्जालग्ग (१४/५)

धम्मत्थकामरहिया जे दियहा निद्धणाण वोलीणा ।
जइ ताइ गणेइ विही गणेउ न हु एरिसं जुत्तं ॥

निर्धनों के जो दिन धर्म, अर्थ और काम के अभाव में बीत चुके हैं, यदि विधाता उन्हें भी आयु के भीतर गिनता है, तो गिन ले परन्तु यह उचित नहीं है ।

—वज्जालग्ग (१४/८)

संकुयइ संकुयंते वियसइ वियसंतयम्मि सूरम्मि ।
सिसिरे रोरकुडुंबं पंकयलीलं समुव्वहइ ॥

शिशिर में दरिद्र-कुटुम्ब पंकजों की लीला धारण कर लेता है । वह सूर्य के संकुचित होने पर संकुचित और उसके विकसित होने पर विकसित होता है ।

—वज्जालग्ग (१४/६)

दुःख

न य संसारम्मि सुहं, जाइजरा मरण दुक्ख गहियस्स ।

इस संसार में जन्म, जरा और मरण के दुःख से ग्रस्त जीव को कोई सुख नहीं है ।

—सावयपण्णत्ति (३६०)

जम्मं दुक्खं, जरा दुक्खं, रोगाय मरणाणि य।
अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसंति जंतवो॥

जन्म दुःख है, बुढ़ापा दुःख है, रोग और मरण दुःख है। अहो! संसार दुःख ही है, जिसमें जीव क्लेश पा रहे हैं।

—उत्तराध्ययन (१८/१६)

अणिट्ठत्थसमागमो इट्ठत्थ वियोगो च दुःखं णाम।

अनिष्ट अर्थ के समागम और इष्ट अर्थ के वियोग का नाम दुःख है।

—धवला (१३/५,५.६३/३३४/५)

सारीरिय-दुक्खादो माणस-दुक्खं हवेइ अइपउरं।
माणस-दुक्ख-जुदस्स हि विसया वि दुहावहा हुंति॥

शारीरिक दुःख से मानसिक दुख बड़ा होता है, क्योंकि जिसका मन दुःखी है, उसे विषय भी दुःखदायक प्रतीत होते हैं।

—कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा (६०)

कह तं भण्णइ सुक्खं, सुचिरेण वि जस्स दुक्खमल्लि हियए।

वह सुख, सुख नहीं है, जो अन्त में दुःख रूप में परिणत हो जाये।

—सार्थपोसहसज्झायसूत्र (२६)

नरविवहेसुरसुक्खं, दुक्खं परमत्थओ तयं बिंति।
परिणामदारुणमसासयं, च जं ता अलं तेण॥

नरेन्द्र-सुरेन्द्रादि का सुख परमार्थतः दुःख ही है। वह है तो क्षणिक किन्तु उसका परिणाम दारुण होता है। अतः उससे दूर रहना ही उचित है।

—भक्त-परिज्ञा (५)

दुराचार

कुसीलो, न वल्लहो होइ लोयाणं॥

कुशील व्यक्ति लोकप्रिय कदापि नहीं हो सकता।

—शील-कुलकम् (१७)

जहा सुणी पूईक्कण्णी, निक्कसिज्जइ सव्वसो।
एवं दुस्सील पडिणीए, मुहरी निक्कसिज्जई॥

जिस प्रकार सड़े हुए कानों वाली कुतिया जहाँ भी जाती है, सर्वत्र निकाल दी जाती है, उसी प्रकार दुःशील, उद्दंड और वाचाल व्यक्ति भी सर्वत्र धक्के देकर निकाल दिया जाता है।

—उत्तराध्ययन (१/७)

चीराजिणं नगिणिणं, जडिसंघाडि मूंडिणं।
एयाणि वि न तायन्ति, दुस्सीलं परियागयं॥

मृगचर्म, नग्नता, जटा, संघारिका[१] और शिरोमुंडन ये कोई भी धर्मचिह्न आचारहीन साधक की रक्षा नहीं कर सकते, उसके अनाचार को ढँक नहीं सकते। अनाचारी वृत्ति का मनुष्य भले ही मृगचर्म पहने, नग्न रहे, जटा बढ़ाये, संघारिका ओढ़े अथवा सिर मुँडा ले, तो भी वह सदाचारी नहीं बन सकता।

—उत्तराध्ययन (५/२१)

न तं अरी कंठछेत्ता करेइ, जं से करे अप्पाणिया दुरप्पा।
से नाहिइ मच्चुमुहं तु पत्ते, पच्छाणु तावेण दयाविहूणो॥

सिर काटनेवाला शत्रु भी उतना अपकार नहीं करता, जितना कि दुराचरण में प्रवृत्त अपनी आत्मा करती है। दया-शून्य अनाचारी को अपने असदाचार का पहले ध्यान नहीं आता, परंतु जब वह मृत्यु के मुख में पहुँचता है तो अपने सब दुराचरणों का स्मरण करते हुए पछताता है।

—उत्तराध्ययन (२०/४८)

निच्चुव्विग्गो जहा तेणो, अत्तकम्मेहिं दुम्मई।
तारिसो मरणंतेऽवि, नाऽऽराहेइ संवरं॥

नित्य भयाक्रान्त चोर जैसे अपने ही दुष्कर्मों के कारण दुःख प्राप्त करता है वैसे ही अज्ञजन भी अपने बुरे आचरण के कारण दुःख की भूमिका को प्राप्त करते हैं और अंतकाल में भी वह संयम-धर्म की आराधना नहीं कर पाता।

—दशवैकालिक (५/२/३९)

हयदुज्जणस्स वयणं निरंतरं वहलकज्जलच्छायं।
संकुद्धं भिअडिजुयं कया वि न हु निम्मलं दिट्ठं॥

जिसकी कान्ति निरन्तर घने काजल के समान मलिन रहती है, जिसकी नों भौंहें चढ़ी रहती हैं, ऐसे दुष्ट का मुख कभी भी निर्मल नहीं दिखाई देता।

—वज्जालग्ग (५/१)

एयं चिय बहुलाहो जीविज्जइ जं खलाण मज्झम्मि।
लाहो जं न डसिज्जइ भुयंग परिवेढिए चलणे॥

खलों—दुर्जनों के बीच जीवित रहे, यही बहुत बड़ा लाभ है। पैर में तपटा साँप यदि नहीं काटता तो यही बहुत है।

—वज्जालग्ग (५/११)

न सहइ अब्भत्थणियं असइगयाणं पि पिट्ठिमंसाइं।
दट्ठूण भासुरमुहं खलसीहं को न बीहेइ॥

दुष्टजन सिंह के समान होते हैं। उन से कौन नहीं डरता? सिंह मेघों ो गर्जना नहीं सह सकता तो दुष्ट खल अभ्यर्थना को। सिंह हाथी का भी ष्ठ-मांस खा जाता है तो दुष्ट परोक्ष में लोगों की निन्दा करता है। सिंह ा मुख नुकीले दाँतों के कारण भयानक होता है तो खल-दुष्ट का मुख देखने ही भयानक लगता है।

—वज्जालग्ग (५/१२)

मा वच्चह वीसंभं पमुहे बहुकूडकवडभरियाणं।
निव्वत्तियकज्जपरंमुहाण सुणयाण व खलाणं॥

जिस प्रकार कुत्ते अपना कार्य समाप्त हो जाने पर मुंह फेर लेते हैं, उसी कार अत्यन्त छल-कपट से परिपूर्ण तथा अपना काम निकल जाने पर मुंह फेर ेने वाले खलों (दुष्ट-पुरुषों) के समक्ष विश्वास पूर्वक मत जाओ।

—वज्जालग्ग (५/१३)

जेहिं चिय उब्भविया जाण पसाएण निग्गयपयावा।
समरा डहंति चिय्हं खलाण मग्गो च्चिय अउव्वो॥

जिसके द्वारा ऊपर उठाये गये और जिसके द्वारा उनका प्रताप प्रकट हुआ उसी विन्ध्य पर्वत को शवर जला डालते हैं। दुष्टों का मार्ग ही विचित्र है।

—वज्जालग्ग (५/१४)

दुर्जन-प्रशंसा

सो जयउ जेण सुयणा वि दुज्जणा इह विणिम्मिया भुवणे।
ण तमेण विणा पावन्ति चन्द-किरण वि परिहावं॥

वह विजयी हो जिसके द्वारा सज्जनों की तरह दुर्जन भी इस लोक में बनाए गए हैं क्योंकि अधंकार के विना चंन्द्रमा की किरणें भी गुणोत्कर्ष को नहीं पाती है।

—लीलावइ कहा (१३)

धर्म

जत्थ य विसयविराओ, कसायचाओ गुणेसु अणुराओ।
किरिआसु अप्पमाओ, सो धम्मो सिवसुहो लोएवाओ॥

जिसमें विषय से विराग, कषायों का त्याग, गुणों में प्रीति और क्रियाओं में अप्रमादीपन है, वह धर्म ही जगत् में मोक्षसुख देनेवाला है।

—विकारनिरोध-कुलक (६)

धम्मोमंगल मुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो॥

अहिंसा, संयम और तप रूप शुद्ध धर्म उत्कृष्ट मंगलमय है। जिसका मन सदा धर्म में लीन रहता है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं।

—दशवैकालिक (१/१)

धम्मो वत्थु सहावो।

वस्तु का अपना स्वभाव ही उसका धर्म है।

—कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा (५)

जीवाणं रक्खणं धम्मो ॥

जीवों की रक्षा करना धर्म है।

—कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा (४९८)

धम्मा-धम्मा न परप्पसाय—कोपाणुवत्तिओ जम्हा।

धर्म और अधर्म का सम्बल आत्मा की परिणति ही है। दूसरों की प्रसन्नता और क्रोध पर उसकी व्यवस्था नहीं है।

—विशेषावश्यक-भाष्य (३२५४)

धम्मो दया विसुद्धो।

जिसमें दया की पवित्रता है, वही धर्म है।

—बोध-पाहुड़ (२५)

सव्वसत्ताण अहिंसादिलक्खणो धम्मो पिता, रक्खणत्तातो।

अहिंसा, सत्य आदि रूप धर्म सब प्राणियों का पिता है, क्योंकि वही सब का रक्षक है।

—नन्दीसूत्र-चूर्णि (१)

आदा धम्मो मुणेदव्वो।

धर्म आत्म-स्वरूप होता है।

—प्रवचनसार (१/८)

धम्मे अणुज्जुतो सीयलो, उज्जुत्तो उण्हो।

धर्म में उद्यमी (क्रियाशील) उष्ण है, उद्यमहीन शीतल है।

—आचाराग चूर्णि (१/३/१)

उत्तमखममद्दवज्जव-सच्चसउच्चं च संजमं चेव।
तवचागम किंचण्हं बम्ह इदि दसविहो धम्मो ॥

उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम सत्य, उत्तम शौच, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य, तथा उत्तम ब्रह्मचर्य—ये दस धर्म हैं।

—बारस अणुवेक्खा (९०)

जहा सागडिओ जाणं, समं हिच्चा महापहं।
विसमं मग्गमोइण्णो, अक्खे भग्गम्मिसोयई॥
एवं धम्मं विउक्कम्म अहम्मं पडिवज्जिया।
बाले मच्चुमुहं पत्ते, अक्खे भग्गे व सोयई॥

जिस प्रकार मूर्ख गाड़ीवान जान-बूझकर साफ-सुथरे राजमार्ग को छोड़ टेढ़े-मेढ़े, ऊबड़-खाबड़ जैसे विषम मार्ग पर चल पड़ता है और गाड़ी की धुरी टूट जाने पर शोक करता है, वैसे ही मूर्ख मनुष्य जान-बूझकर धर्म (धर्ममार्ग) को छोड़ कर अधर्म (अधर्म मार्ग) को पकड़ लेता है और अन्त में मृत्यु-मुख में पहुँचने पर जीवन की धुरी टूट जाने से शोक करता है।

—उत्तराध्ययन (५/१४, १५)

जहा य तिण्णि वणिया, मूलं घेत्तूण निग्गया।
एगोऽत्थ लहई लाहं एगो मूलेण आगओ॥
एगो मूलं पि हारित्ता, आगओ तत्थ वाणिओ।
ववहारे उवमा एसा, एवं धम्मे वियाणह॥

जैसे तीन वणिक मूल पूँजी को लेकर निकले। उनमें से एक लाभ उठाता है, एक मूल लेकर लौटता है और एक मूल को भी गँवाकर वापस आता है। यह व्यापार की उपमा है। इसी प्रकार धर्म के विषय में जानना चाहिए।

—उत्तराध्ययन (७/१४-१५)

धणेण किं धम्म धुराहिगारे।

धर्म की धुरा को खींचने के लिए धन की क्या आवश्यकता है?

—उत्तराध्ययन (१४/१७)

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तई।
धम्मं च कुणमाणस्स, सफला जन्ति राइओ॥

जो रात और दिन एक बार अतीत की ओर चले जाते हैं, वे फिर कभी वापस नहीं लौटते; जो मनुष्य धर्म करता है, उसके वे रात-दिन सफल हो जाते हैं।

—उत्तराध्ययन (१४/२५)

मरिहिसि रायं ! जयातया वा, मणोरमे कामगुणं विहाय।
एक्को हु धम्मो नरदेव ! ताणं, न विज्जई अन्नमिहेह किंचि ॥

हे राजन् ! जब आप इन मनोहर काम-भोगो को छोड़कर परलोकवासी बनेंगे तब एक मात्र धर्म ही आप की रक्षा करेगा। हे राजन् ! धर्म को छोड़कर जगत् में दूसरा कोई भी रक्षा करनेवाला नहीं हैं।

—उत्तराध्ययन (१४/४०)

अहिंसा सच्चं च अतेणगं च
तत्तो य बम्भं अपरिग्गहं च।
पडिवज्जिया पंच महव्वयाणि,
चरिज्ज धम्मं जिणदेसियं विदू।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पाँच महाव्रतो को स्वीकार करके बुद्धिमान् मनुष्य जिन-भगवान् द्वारा उपदिष्ट धर्म का आचरण करे।

—उत्तराध्ययन (२१/१२)

पन्ना समिक्खए धम्मं।

साधक की स्वयं की प्रज्ञा ही धर्म की समीक्षा कर सकती है।

—उत्तराध्ययन (२३/२५)

जरामरण वेगेणं, वुज्झमाणाण पाणिणं।
धम्मो दीवो पइट्ठा य, गई सरणमुत्तमं॥

बुढ़ापा और मृत्यु के महाप्रवाह में डूबते प्राणियो के लिये धर्म ही द्वीप है, गति है, प्रतिष्ठा है, और उत्तम शरण है।

—उत्तराध्ययन (२३/६८)

धम्मविहीणो सोक्खं, तण्हाछेयं जलेण जह रहिदो।

जिस प्रकार मनुष्य जल के विना प्यास नहीं बुझा सकता, उसी प्रकार मनुष्य धर्म-विहीन सुख नही पा सकता।

—सन्मतिप्रकरण (१/३)

तं तह दुल्लहलंभं, विज्जुलया चंचलं माणुसत्तं।
लद्धूण जो पमायइ, सो कापुरिसो न सप्पुरिसो।।

जो बड़ी कठिनाई से मिलता है, बिजली के सदृश चंचल है, ऐसे मनुष्य जन्म को प्राप्त करके भी जो धर्म-साधना में प्रमत्त रहता है, वह अधम पुरुष ही है, सज्जन नहीं।

—आवश्यकनिर्युक्ति (८४१)

भाउ विसुद्धणु अप्पणउ धम्मु भणेविणु लेहु।
चउगइ दुक्खहँ जो धरइ जीउ पडंतउ एहु।।

स्वयं के शुद्ध भावों का नाम ही धर्म है। धर्म संसार में पड़े हुए जीवों की चतुर्गति के दुःखों से रक्षा करता है।

चत्तारि धम्मदारा—
खंती, मुत्ती, अज्जवे, मद्दवे।

क्षमा, संतोष, सरलता और विनम्रता—ये चार धर्म के प्रमुख द्वार हैं।

—स्थानाङ्ग (४/४)

मोहक्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो।

मोह एवं क्षोभ से रहित आत्मा के परिणाम धर्म हैं।

—भावपाहुड़ (८३)

एगे चरेज्ज धम्मं।

भले ही कोई साथ न दे, अकेले ही सद्धर्म का आचरण करना चाहिए।

विणओ वि तवो, तवो पि धम्मो।

विनय स्वयं एक तप है और आभ्यंतर-तप होने से श्रेष्ठ धर्म है।

— प्रश्नव्याकरण सूत्र (२/४)

एओ चेव सुभो णवरि सव्वसोक्खायरो धम्मो।

एक धर्म ही पवित्र है और वही सर्वसौख्यों का दाता है।

—भगवती आराधना (१८१३)

जइता लव सत्तमसुर, विमाणवासी वि परिवडंति सुरा।
चिंतिज्जंतं सेसं, संसारे सासयं कयरं।।

मरिहिसि रायं! जयातया वा, मणोरमे कामगुणं विहाय।
एक्को हु धम्मो नरदेव! ताणं, न विज्जई अन्नमिहेइ किंचि ॥

हे राजन्! जब आप इन मनोहर काम-भोगों को छोड़कर परलोक-वासी बनेंगे तब एक मात्र धर्म ही आप की रक्षा करेगा। हे राजन्! धर्म को छोड़कर जगत् में दूसरा कोई भी रक्षा करनेवाला नहीं हैं।

—उत्तराध्ययन (१४/४०)

अहिंसा सच्चं च अतेणगं च
तत्तो य बम्भं अपरिग्गहं च।
पडिवज्जिया पंच महव्वयाणि,
चरिज्ज धम्मं जिणदेसियं विदू।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पाँच महाव्रतों को स्वीकार करके बुद्धिमान् मनुष्य जिन-भगवान् द्वारा उपदिष्ट धर्म का आचरण करे।

—उत्तराध्ययन (२१/१२)

पन्ना समिक्खए धम्मं।

साधक की स्वयं की प्रज्ञा ही धर्म की समीक्षा कर सकती है।

—उत्तराध्ययन (२३/२५)

जरामरण वेगेणं, बुज्झमाणाण पाणिणं।
धम्मो दीवो पइट्ठा य, गई सरणमुत्तमं ॥

बुढ़ापा और मृत्यु के महाप्रवाह में डूबते प्राणियों के लिये धर्म ही द्वीप है, गति है, प्रतिष्ठा है, और उत्तम शरण है।

—उत्तराध्ययन (२३/६८)

धम्मविहीणो सोक्खं, तण्हाछेयं जलेण जह रहिदो।

जिस प्रकार मनुष्य जल के विना प्यास नहीं बुझा सकता, उसी प्रकार मनुष्य धर्म-विहीन सुख नहीं पा सकता।

—सन्मतिप्रकरण (१/३)

तं तह दुल्लहलंभं, विज्जुलया चंचलं माणुसत्तं।
लद्धूण जो पमायइ, सो कापुरिसो न सप्पुरिसो ॥

जो बड़ी कठिनाई से मिलता है, बिजली के सदृश चंचल है, ऐसे मनुष्य जन्म को प्राप्त करके भी जो धर्म-साधना में प्रमत्त रहता है, वह अधम पुरुष ही है, सज्जन नहीं।

—आवश्यकनिर्युक्ति (८४१)

भाउ विसुद्धणु अप्पणउ धम्मु भणेविणु लेहु।
चउगइ दुक्खहँ जो धरइ जीउ पडंतउ एहु ॥

स्वयं के शुद्ध भावों का नाम ही धर्म है। धर्म संसार में पड़े हुए जीवों की चतुर्गति के दुःखों से रक्षा करता है।

चत्तारि धम्मदारा—
खंती, मुत्ती, अज्जवे, मद्दवे।

क्षमा, संतोष, सरलता और विनम्रता—ये चार धर्म के प्रमुख द्वार हैं।

—स्थानाङ्ग (४/४)

मोहक्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो।

मोह एवं क्षोभ से रहित आत्मा के परिणाम धर्म हैं।

—भावपाहुड़ (८३)

एगे चरेज्ज धम्मं।

भले ही कोई साथ न दे, अकेले ही सद्धर्म का आचरण करना चाहिए।

विणओ वि तवो, तवो पि धम्मो।

विनय स्वयं एक तप है और आभ्यंतर-तप होने से श्रेष्ठ धर्म है।

— प्रश्नव्याकरण सूत्र (२/४)

एओ चेव सुभो णवरि सव्वसोक्खायरो धम्मो।

एक धर्म ही पवित्र है और वही सर्वसौख्यों का दाता है।

—भगवती आराधना (१८१३)

जइता लव सत्तमसुर, विमाणवासी वि परिवडंति सुरा।
चिंतिज्जंतं सेसं, संसारे सासयं कयरं ॥

जिनकी सात लव की आयु है, वे देवता भी च्यवनकाल में सोचा करते हैं कि धर्म के सिवाय अन्य सब वस्तुएँ नश्वर हैं।

—सार्थपोसहसज्झायसूत्र (२८)

पाणे य नाइवाएज्जा, अदिन्नं पि य नायए।
साइयं न मुसं बूया, एस धम्मे बुसीम ओ॥

छोटे बड़े किसी भी जीव की हिंसा न करना, अदत्त यानी बिना दी हुई वस्तु न लेना, विश्वासघात न करना, विश्वासघाती असत्य न बोलना—यही धर्म है।

—सूत्रकृताङ्ग (१/८/१९)

अणुसासणं पुढो पाणी।

एक ही धर्म को हरेक प्राणी अपनी-अपनी भूमिका के अनुसार अलग-अलग रूप में ग्रहण करता है।

—सूत्रकृतांग (१/१५/११)

जं देइ दिक्ख सिक्खा,
कम्मखयकारणे सुद्धा।

धर्म वह है, जो कर्म को क्षय करनेवाली शुद्ध दीक्षा और शुद्ध शिक्षा देता है। —बोध-पाहुड़ (१६)

धम्मो दया विसुद्धो।

जिसमें दया की पवित्रता है, वहीं धर्म है।

—बोध पाहुड़ (२५)

रयणत्तयं च धम्मो, जीवाणं रक्खणं धम्मो।

रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) तथा जीवों की रक्षा करना धर्म है।
—कार्तिकेयानुप्रेक्षा (४७८)

धम्मारामे चरे भिक्खू, धिइमं धम्मसारही।
धम्मारामरए दन्ते, बंभचेर - समाहिए॥

जो धैर्यवान है, जो धर्मरथ का चालक सारथि है, जो धर्म के आराम में

रत है, जो दान्त है, जो ब्रह्मचर्य में समाहित है, वह साधक धर्म के आराम (बाग) में विचरण करता है।

—उत्तराध्ययन (१६/५)

धम्म समो नत्थिनिहि।

धर्म के समान निधि नहीं है।

—वज्जालग्गं (३६/६०-१)

पीइकरो वन्नकरो, भासकरो जसकरो रइकरो य।
अभयकरो निव्वुइकरो, परत वि अज्जि ओ धम्मो॥

यह आर्य धर्म इह लोक में प्रीति, वर्ण-कीर्ति या रूप भास-तेजस्विता या मिष्टवाणी, यश, रति, अभय एवं निवृत्ति—आत्मिक सुख का करनेवाला है।

—तन्दुल वैचारिक (३४)

जीवदया सच्चवयणं, परधणपरिवज्जणं सुसीलं च।
खंति पंचिंदिय निग्गहो य धम्मस्स मूलाइं॥

जीवदया, सत्यवचन, परधन का त्याग, शील—ब्रह्मचर्य, क्षमा, पांच इन्द्रियों का निग्रह—ये धर्म के मूल हैं।

—दर्शन-शुद्धि-तत्त्व

जह भोयणमविहिकयं, विणासय विहिकयं जीवायेइ।
तह अविहिकम्मो धम्मो, देइ भवं विहिकओ सुक्खं॥

जैसे अविधि से किया हुआ भोजन मारता है और विधिपूर्वक किया हुआ जीवन देता है, उसी प्रकार अविधि से किया हुआ धर्म संसार में भटकाता है एवं विधिपूर्वक किया हुआ धर्म मोक्ष देता है।

—संबोध-सत्तरि (३५)

धर्मकथा

चरणपडिवत्तिहेउं धम्मकहा।

आचार रूप सद्गुणों की प्राप्ति के लिए धर्मकथा कही जाती है।

—ओघनिर्युक्तिभाष्य (७)

धर्मकला

बावत्तरिकलाकुसला, पंडियपुरिसा अपंडिया चेव।
सव्व कलाणं पवरा, जे धम्मकलं न जाणंति॥

बहत्तर कलाओं में चतुर, सब कलाओं में प्रवीण पण्डित पुरुष भी यदि धर्मकला को नहीं जानते तो वे अपण्डित (मूर्ख) ही हैं।

—कामघट-कथानक (१०८)

धर्माराधक

अविसंवायण संपन्नयाए णं जीवे, धम्मस्स आराहए भवइ।

दम्भरहित, अविसंवादी आत्मा ही धर्म का सच्चा आराधक है।

—उत्तराध्ययन (२६/४८)

एगमवि मायी मायं कट्टु
आलोएज्जा जाव पडिवज्जेजा।
अत्थि तस्स आराहणा

जो किये हुए कपटाचरण के प्रति पश्चाताप करके सरल हृदयी बन जाता है, वह धर्म का आराधक है।

—स्थानांग (८)

धर्म-श्रवण

धम्मं न लभेज्ज सवणयाए
महारंभेण चेव महापरिग्गहेण चेव।

दो कारणों से जीव धर्म का श्रवण नहीं कर पाता—(१) महारम्भ के कारण और (२) महापरिग्रह के कारण।

—स्थानांग (२/१)

आलस मोहवण्णा थंभा कोहा पमाय किवणता।
भयसोगा अण्णाणावक्खेव कुतुहलारमणा॥
एतेहिं कारणेहिं लद्धूण सुदुल्लहं पि माणुसं।
ण लहइ सुतिं हियकरिं संसारुत्तारणीं जीवो॥

(१) आलस्य, (२) मोह, (३) अवज्ञा, (४) अभिमान, (५) क्रोध, (६) प्रमाद, (७) कृपणता-दरिद्रता, (८) भय, (९) शोक, (१०) अज्ञान (११) उपेक्षा (१२) कुतूहल (१३) अरमणता—इन तेरह कारणों से जीव सुदुर्लभ मनुष्य-भव या मनुष्यता पाकर भी संसार से तारनेवाले हितकारी धर्म-श्रवण को प्राप्त नहीं करता।

—आवश्यक सूत्र

माणुस्सं विग्गहं लद्धुं, सुती धम्मस्स दुल्लहा।
जं सोवच्चा पडिवज्जन्ति, तवं खंति महिंसयं॥

भयंकर कष्टों के पश्चात् मनुष्य-जन्म मिल गया तो भी तप, क्षमा और अहिंसता के संस्कार चित्त में स्थिर करनेवाले धर्म-वचनों का सुनना महादुर्लभ है।

—उत्तराध्ययन (३/८)

अहीणपंचेंदियत्तं पि से लहे,
उत्तम धम्म सुई हु दुल्लहा॥

पांचों इन्द्रियों को परिपूर्ण पाकर भी उत्तम धर्म का श्रवण बड़ा कठिन है।

—उत्तराध्ययन (१०/१८)

सोच्चा जाणाइ कल्लाणं, सोच्चा जाणाइ पावगं।
उभयं पि जाणइ सोच्चा, जं सेयं तं समायरे॥

मनुष्य श्रवण करके ही कल्याण को जान पाता है और श्रवण द्वारा ही पाप को। दोनों को सुनकर ही जानता है और फिर जो श्रेयस्कर मार्ग होता है, उस पर चल पड़ता है।

—दशवैकालिक (४/११)

अहवा मरंति गुरुवसणपेल्लिया खंडिऊण नियजीहं।
नो गंतूण खलाणं चवंति दीणक्खरं धीरा॥

धैर्यवान् भारी कष्ट से पीड़ित होने पर अपनी जिह्वा काट कर मर भले ही जाय किन्तु खलों (दुष्ट-पुरुषों) के आगे जाकर दीन वाणी नहीं बोलता है।

—वज्जालग्ग (९/७)

ता तुंगो मेरुगिरी मयरहरो ताव होइ दुत्तारो।
ता विसमा कज्जगई जाव न धीरा पवज्जंति॥

जब तक धीरजन कोई कार्य करना स्वीकार नहीं कर लेते, तभी तक मेरुपर्वत ऊँचा है, समुद्र दुस्तर है और तभी तक कार्य-सिद्धि में विघ्न रहते हैं।

—वज्जालग्ग (९/१३)

ता वित्थिण्णं गयणं ताव च्चिय जलहरा अइगहीरा।
ता गरुया कुलसेला जाव न धीरेहि तुल्लंति॥

आकाश तभी तक विस्तीर्ण है, सागर तभी तक अगाध है और कुलशैल तभी तक बड़े हैं, जब तक उनकी तुलना धैर्यवानों से नहीं की जाती।

—वज्जालग्ग (९/१४)

चालिज्जइ बीभेइ य, धीरो न परीसहोवसग्गेहिं।
सुहमेसु न संमुच्छइ, भावेसु न देवमायासु॥

धीर पुरुष न तो परीषह, न उपसर्ग आदि से विचलित और भयभीत होता है और न ही सूक्ष्म भावों एवं देवनिर्मित मायाजाल में मुग्ध होता है।

—ध्यान-शतक (९१)

संघडियघडियविघडियघडंत विघडंतसंघडिज्जंतं।
अवहत्थिऊण दिव्वं करेइ धीरो समारद्धं।

जो पहले साथ था या बना था या बिगड़ गया थ और अबा जो बन रहा

है, या बिगड़ रहा है या साथ दे रहा है, उस भाग्य को छोड़ कर धैर्यवान समारब्ध—आरम्भ किये हुए कार्य को कर ही डालता है।

—वज्जालग्ग (६/१६)

थरथरइ धरा खुब्भंति सायरा होइ विम्हलो दइवो।
असमववसायसाहससंलद्धजसाण धीराणं॥

अथक परिश्रम और साहस से यश पानेवाले धैर्यवानों से पृथ्वी थर्राती है, समुद्र क्षुब्ध हो जाता है और भाग्य विस्मित हो जाता है।

—वज्जालग्ग (१०/३)

तं किं पि कम्मरयणं धीरा ववसंति साहसवसेणं।
जं बंभहरिहराण वि लग्गइ चित्ते चमक्कारो॥

धैर्यवान अपने साहस से कर्मरत्न का कुछ ऐसा व्यवसाय करते हैं जो शिव और विष्णु को भी आश्चर्य लगता है।

—वज्जालग्ग (१०/५)

धीरेण समं समसीसियाइ रे दिव्व आरुहंतस्स।
होहिइ किं पि कलंकं धुव्वंतं जं न फिट्टिहिइ॥

अरे भाग्य! धीर के साथ स्पर्धा करने पर तुझे कुछ ऐसा कलंक लगेगा जो बार-बार धोने पर भी नहीं मिटेगा।

—वज्जालग्ग (१०/६)

जह जह न समप्पइ विहिवसेण विहडंतकज्जपरिणामो।
तह तह धीराण मणे वड्ढइ बिउणो समुच्छाहो॥

जैसे-जैसे भाग्यवश बिगड़ते हुए कार्य का परिणाम (सफलता) प्राप्त नहीं होता, वैसे-वैसे धीरों के मन में दूना उत्साह बढ़ने लगता है।

—वज्जालग्ग (१०/७)

विसयजलं मोहकलं, विलास विव्वो अजलयराइन्नं।
मयमयरं उत्तिन्ना, तारुण्ण महन्नवं धीरा॥

जिसमें विषयरूपी जल है, मोह की गर्जना है, स्त्रियों की विलास भरी

चेष्टा रूप मत्स्य आदि जलचर-जीव हैं और मद रूपी जिसमें मगरमच्छ रहते हैं ऐसे तारुण्य रूपी समुद्र को धीर पुरुष ही पार किये हैं।

—इन्द्रियपराजयशतक (४३)

अकम्मुणा कम्म खवेति धीरा।

धीर पुरुष अकर्म के द्वारा कर्म का क्षय करते हैं।

—सूत्रकृताङ्ग (१/१२/१५)

सुगमंवा दुग्गमंवा कुणेइ किं धीरपुरिसाण।

सरल अथवा कठिन कार्य धैर्यशाली पुरुषों के लिए क्या बाधक हो सकते हैं?

—पाइअकहासंगहो (२३)

ध्यान

छिदंति भावसमणा, झाणकुठारेहिं भवरुक्खं।

वे ध्यान रूप कुठार से भववृक्ष को काट देते हैं जो भाव से श्रमण हैं।

—भावपाहुड़ (१२२)

तह रायानिलरहिओ,
झाण पईवो वि पज्जलई।

हवा से रहित स्थान में जैसे दीपक निर्विघ्न जलता रहता है, वैसे ही राग की वायु से मुक्त रहकर आत्ममंदिर में ध्यान का दीपक सदैव जलता रहता है।

—भावपाहुड़ (१२३)

सीसं जहा सरीरस्स, जहा मूलं दुमस्स य।
सव्वस्स साहू धम्मस्स तहा झाणं विधीयते॥

जिस प्रकार शरीर में मस्तक का तथा वृक्ष में उसकी जड़ का महत्त्वपूर्ण स्थान है उसी प्रकार आत्मधर्म की साधना में ध्यान का प्रमुख स्थान है।

—इसिभासियाइं (२२/१३)

झाणमेव हि, सव्वऽदिचारस्स पडिक्कमणं।

ध्यान ही समस्त अतिचारों (दोषों) का प्रतिक्रमण है।

—नियमसार (९३)

ओयं चित्तं समादाय झाणं समुपज्जइ।

चित्तवृत्ति निर्मल होने पर ही ध्यान की स्थिति प्राप्त होती है।

—दशाश्रुतस्कंध (५/१)

जं थिरमज्झवसाणं, तं झाणं।

स्थिर अध्यवसान अर्थात् मानसिक एकाग्रता ही ध्यान है।

—ध्यानशतक (२)

सुविदियजगस्सभावो, निस्संगो निब्भओ निरासो य।
वेरग्गभावियमणो, झाणंमि सुनिच्चलो होइ॥

जो संसार-स्वरूप से सुपरिचित है, निःसंग, निर्भय तथा आशा-रहित है एवं जिसका मन वैराग्य भावना से युक्त है, वही ध्यान में भली भाँति स्थित होता है।

—ध्यानशतक (३४)

जहचिर संचियमिंधण-मनलो, पवण सहिओ दुयं दहइ।
तह कम्मेंधणममियं, खणेण झाणानलो डहइ।

जैसे चिर संचित ईंधन को वायु से उद्दीप्त आग तत्काल जला डालती है, वैसे ही ध्यान रूपी अग्नि अपरिमित कर्म-ईंधन को क्षण भर में भस्म कर डालती है।

—ध्यान-शतक (१०१)

न कसायसमुत्थेहिं य, वहिज्जइ माणसेहिं दुक्खेहिं।
ईसा - विसाय - सोगा - इएहिं, झाणो वगय चित्तो॥

जिसका मन ध्यान में लीन है, वह पुरुष कषाय से उत्पन्न ईर्ष्या, विषाद, शोक आदि मानसिक दुःखों से पीड़ित नहीं होता।

—ध्यान-शतक (१०३)

जस्स न विज्जदि रागो, दोसो मोहो व जोगपरिकम्मो।
तस्स सुहासुहडहणो, झाणमओ जायए अग्गी॥

जिसके राग-द्वेष और मोह नहीं है तथा मन-वचन-कायरूप योगों का व्यापार नहीं रह गया है, उसमें समस्त शुभाशुभ कर्मों को जलानेवाली ध्यानाग्नि प्रकट होती है।

—पंचास्तिकाय (१४६)

णाहं होमि परेसिं ण मे परे संति णाणमहमेक्को।
इदि जो झायदि झाणे, सो अप्पाणं हवदि झादा॥

वही साधक आत्मा का ध्याता है, जो ध्यान में चिन्तवन् करता है कि मैं न 'पर' का हूँ, न 'पर' (पदार्थ का भाव) मेरे हैं, मैं तो एक शुद्ध-बुद्ध ज्ञानमय चैतन्य हूँ।

—प्रवचनसार (२/६६)

झाणट्ठिओ हु जोई जइणो, संवेय णियय अप्पाणं।
तो ण लहइ तं सुद्धं, भग्गविहीणो जहा रयणं॥

ध्यान में स्थित योगी यदि अपनी आत्मा का संवेदन नहीं करता तो वह शुद्ध आत्मा को वैसे ही प्राप्त नहीं कर सकता ; जैसे कि भाग्यहीन व्यक्ति रत्न प्राप्त नहीं कर सकता।

—प्रवचनसार

भावेज्ज अवत्थतियं, पिंडत्थ - पयत्थ-रूवरहियत्तं।
छउमत्थ - केवलित्तं, सिद्धत्तं चेव तस्सत्थो॥

ध्यान करनेवाला साधक पिंडस्थ, पदस्थ और रूपातीत इन तीनो अवस्थाओ की भावना करे। पिंडस्थ ध्यान का विषय है छद्मस्थत्व-शरीर-विपश्यत्व। पदस्थध्यान का विषय है केवलित्व-केवली द्वारा प्रतिपादित अर्थ का अनुचिंतन और रुपातीत ध्यान का विषय है सिद्धत्व-शुद्ध-आत्मा।

—चैत्यवंदनभाष्य (११)

लवण व्व सलिलजोए, झाणे चित्तं विलीयए जस्स।
तस्स सुहासुहडहणो, अप्पाअणलो पयासेइ॥

जैसे पानी का संयोग पाकर नमक विलीन हो जाता है, वैसे ही जिसका चित्त निर्विकल्प ध्यान समाधि में लीन हो जाता है, उसकी चिर संचित शुभाशुभ कर्मों को भस्म करनेवाली, आत्म रूप अग्नि प्रकट होती है।

—आराधनासार (८७)

पुव्वाभिमुहो उत्तरमुहो व, होऊण सुइ-समायरो।
झाया समाहिजुत्तो, सुहासणत्थो सुइसरीरो॥

पूर्व या उत्तर दिशाभिमुख होकर बैठनेवाला शुद्ध आचार तथा पवित्र देहवाला ध्याता सुखासन स्थित हो समाधि में लीन होता है।

—पासणाह-चरियं (५१)

अप्पा अप्पम्मि रओ, इणमेव परं हवे झाणं।

आत्मा में आत्मा का रमण करना ही परम ध्यान है।

—द्रव्यसंग्रह (५६)

विमलयर झाणहुयवह-सिहहिं णिद्दड्ढ कम्मवणा।

उत्तम साधक निर्मलतर ध्यान रूपी अग्नि शिखा से कर्म-वन को भस्म कर देता है।

—पंच-संग्रह (१/२६)

वज्जिय-सयल-वियप्पो अप्पसरूवे मणं णिरुंधंतो।
जं चिंतदि साणंदे तं धम्मं उत्तमं ज्झाणं॥

सकल विकल्पों को छोड़ कर और आत्म-स्वरूप में मन को रोककर आनन्द-सहित जो चिंतन होता है वही धर्म उत्तम ध्यान है।

—कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा (४८२)

जेण सुरासुरनाहा, हहा अणाहुव्व वाहिया सो वि।
अज्झप्पझाण जलणे, पयाइ पयंगत्तणं कामो॥

आहा! जिसने सुरेन्द्रों और असुरेन्द्रो को अनाथ के रूप में पीड़ित किया है, वह प्रबल काम-वासना अध्यात्म-ध्यान की अग्नि में पतंग-कीट के समान भस्म हो जाती है।

—आत्मावबोधकुलकम् (८)

जं बद्धं पि न चिट्ठइ, वारिज्जंतं वि सरइ असेसे।
झाणवलेण तं पिहु, सममेव विलिज्जइ चित्तं॥

जो बाँधने के पश्चात् भी एक स्थान पर स्थिर नहीं रहता और चारों तरफ घूमता ही रहता है, वह चपल मन भी आत्म-ध्यान के द्वारा ही शांत होता है।

—आत्मावबोधकुलकम् (६)

जिसके राग-द्वेष और मोह नहीं है तथा मन-वचन-कायरूप योगों का व्यापार नहीं रह गया है, उसमें समस्त शुभाशुभ कर्मों को जलानेवाली ध्यानाग्नि प्रकट होती है।

—पंचास्तिकाय (१४६)

णाहं होमि परेसिं ण मे परे संति णाणमहमेक्को।
इदि जो झायदि झाणे, सो अप्पाणं हवदि झादा॥

वही साधक आत्मा का ध्याता है, जो ध्यान में चिन्तवन् करता है कि मैं न 'पर' का हूँ, न 'पर' (पदार्थ का भाव) मेरे हैं, मैं तो एक शुद्ध-बुद्ध ज्ञानमय चैतन्य हूँ।

—प्रवचनसार (२/६६)

झाणट्ठिओ हु जोई जइणो, संवेय णियय अप्पाणं।
तो ण लहइ तं सुद्धं, भग्गविहीणो जहा रयणं॥

ध्यान में स्थित योगी यदि अपनी आत्मा का संवेदन नहीं करता तो वह शुद्ध आत्मा को वैसे ही प्राप्त नहीं कर सकता ; जैसे कि भाग्यहीन व्यक्ति रत्न प्राप्त नहीं कर सकता।

—प्रवचनसार

भावेज्ज अवत्थतियं, पिंडत्थ - पयत्थ-रूवरहियत्तं।
छउमत्थ - केवलित्तं, सिद्धत्तं चेव तस्सत्थो॥

ध्यान करनेवाला साधक पिंडस्थ, पदस्थ और रूपातीत इन तीनों अवस्थाओं की भावना करे। पिंडस्थ ध्यान का विषय है छद्मस्थत्व-शरीर-विपश्यत्व। पदस्थध्यान का विषय है केवलित्व-केवली द्वारा प्रतिपादित अर्थ का अनुचिंतन और रूपातीत ध्यान का विषय है सिद्धत्व-शुद्ध-आत्मा।

—चैत्यवंदनभाष्य (११)

लवण व्व सलिलजोए, झाणे चित्तं विलीयए जस्स।
तस्स सुहासुहडहणो, अप्पाअणलो पयासेइ॥

जैसे पानी का संयोग पाकर नमक विलीन हो जाता है, वैसे ही जिसका चित्त निर्विकल्प ध्यान समाधि में लीन हो जाता है, उसकी चिर संचित शुभाशुभ कर्मों को भस्म करनेवाली, आत्म रूप अग्नि प्रकट होती है।

—आराधनासार (८७)

पुव्वाभिमुहो उत्तरमुहो व, होऊण सुइ-समायरो।
झाया समाहिजुत्तो, सुहासणत्थो सुइसरीरो।।

पूर्व या उत्तर दिशाभिमुख होकर बैठनेवाला शुद्ध आचार तथा पवित्र देहवाला ध्याता सुखासन स्थित हो समाधि में लीन होता है।

—पासणाह-चरियं (५१)

अप्पा अप्पम्मि रओ, इणमेव परं हवे झाणं।

आत्मा में आत्मा का रमण करना ही परम ध्यान है।

—द्रव्यसंग्रह (५६)

विमलयर झाणहुयवह-सिहहिं णिद्दड्ढ कम्मवणा।

उत्तम साधक निर्मलतर ध्यान रूपी अग्नि शिखा से कर्म-वन को भस्म कर देता है।

—पंच-संग्रह (१/२९)

वज्जिय-सयल-वियप्पो अप्पसरूवे मणं णिरुंधंतो।
जं चिंतदि साणंदे तं धम्मं उत्तमं उज्झाणं।।

सकल विकल्पों को छोड़ कर और आत्म-स्वरूप में मन को रोककर आनन्द-सहित जो चिंतन होता है वही धर्म उत्तम ध्यान है।

—कात्तिकेयानुप्रेक्षा (४८२)

जेण सुरासुरनाहा, हहा अणाहुव्व वाहिया सो वि।
अज्झप्पझाण जलणे, पयाइ पयंगत्तणं कामो।।

आहा ! जिसने सुरेन्द्रों और असुरेन्द्रों को अनाथ के रूप में पीड़ित किया है, वह प्रबल काम-वासना अध्यात्म-ध्यान की अग्नि में पतंग-कीट के समान भस्म हो जाती है।

—आत्मावबोधकुलकम् (८)

जं बद्धं पि न चिट्ठइ, वारिज्जंतं वि सरइ असेसे।
झाणबलेण तं पिहु, सममेव विलिज्जइ चित्तं।।

जो बाँधने के पश्चात् भी एक स्थान पर स्थिर नहीं रहता और चारों तरफ घूमता ही रहता है, वह चपल मन भी आत्म-ध्यान के द्वारा ही शांत होता है।

—आत्मावबोधकुलकम् (९)

एवं कसायजुद्धंमि हवदि खवयस्स आउधं झाणं।
रणभूमीए कवचं होदि ज्झाणं कसाय जुद्धम्मि॥

कषायो के साथ युद्ध करते समय ध्यान क्षपक के लिए आयुध एवं कवच के समान है।

—भगवती-आराधना (१८९२/१८९३)

वइरं रदणेसु जहा गोसीसं चंदणं व गंधेसु।
वेरुलियं व मणीणं तह ज्झाणं होइ खवयस्स॥

जैसे रत्नो में वज्र-रत्न श्रेष्ठ है, मणियो में वैडुर्यमणि उत्तम है, सुगन्धित पदार्थों में गोशीषे चन्दन श्रेष्ठ है वैसे ही ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप में ध्यान ही क्षपक के लिए सारभूत तथा सर्वोत्कृष्ट है।

—भगवती-आराधना (१८९६)

चित्तस्सेगग्गया हवइ झाणं।

किसी एक विषय पर चित्त का स्थिर-एकाग्र करना ध्यान है।

—आवश्यकनिर्युक्ति (१४/५९)

ज्झाणे जदि णियआदा णाणादो णावभास दे जस्स।
ज्झाणं होदि ण तं पुण जाण पमादो हु मोह मुच्छा वा॥

जिस साधक के ध्यान में यदि ज्ञान से निज आत्मा का प्रतिभास नहीं होता है, तो वह ध्यान नही है। उसे प्रमाद, मोह अथवा मूर्च्छा ही जानना चाहिए।

—तिलोयपण्णति (९/४०)

जह व णिरुद्धं असुहं सुहेण, सुहमवि तहेव सुद्धेण।
तम्हा एण कमेण य, जोइ झाएउ णियआदं॥

आरम्भ में जिस प्रकार व्यवहारभूत शुभ प्रवृत्तियो के द्वारा अशुभ संस्कारों का निरोध हो जाता है, उसी प्रकार चित्त-शुद्धि हो जाने पर शुद्धोपयोग रूप समता के द्वारा उन शुभ संस्कारो का भी निरोध हो जाता है। इस क्रम से योगी धीरे-धीरे आरोहण करता हुआ निजात्मा के ध्यान में सफल हो जाता है।

—नयचक्र (३४८)

अट्ट' रुद्दं धम्मं सुक्कं झाणाइ तत्थ अंताइं।
निव्वाण साहणाइं भवकारण मट्टरुद्दाइं।

आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल—इन चार ध्यानों में अन्तिम दो निर्वाण में सहायक हैं, और प्रथम दो आर्त, रौद्र भव के कारण हैं।

—ध्यानशतक (५)

नमस्कार-मन्त्र[1]

जिणसासणस्स सारो, चउद्स पुव्वाण जो समुद्धारो।
जस्स मणे णमुक्कारो, संसारो तस्स किं कुणइ॥

पंच परमेष्ठी नमस्कार जिन शासन का सार है, चौदह पूर्वों का समुद्धार है, वह नमस्कार जिसके मन में है, उसका संसार क्या कर सकता है।

—कामघट-कथानक (१५३)

एसो मंगलनिलओ, भवविलओ सव्व सान्तिजणओ य।
नवकार परममंतो, चिंतिअमत्तो सुहं देइ॥

महाप्रभाविक नमस्कार परम मंत्र है, मंगल का घर है, संसार से मुक्त करानेवाला है और सभी सुख-शान्ति करनेवाला है तथा स्मरण-मात्र से सुख देता है।

—कामघट-कथानक (१५४)

अप्पुवो कप्पतरु, एसो चिन्तामणी अपुव्वो अ।
जो झायइ सयकालं, सो पावइ सिव सुहं विउलं।

१—नमस्कार-मन्त्र इस प्रकार है—

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं।
णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं।
णमो लोए सव्व साहूणं।
एसो पंच णमोक्कारो, सव्व पावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं।

यह नमस्कार मंत्र अपूर्व कल्पवृक्ष है और यह अलौकिक चिन्तामणि है, जो इसका सर्वदा ध्यान करता है वह परिपूर्ण सुखशान्ति पाता है।

—कामघट-कथानक (१५५)

नवकारिक अक्खरो, पावं फेडेइ सत्त अयराणं।
पण्णासं च पएणं, पंचसयाइं समग्गेणं॥

नवकार का एक अक्षर सात सागरोपम पापों को नष्ट करता है और उसका एक पद पचास सागरोपम पापों को नष्ट करता है तथा सारा पद पांच सौ सागरोपम पापों को नष्ट करता है।

—कामघट-कथानक (१५६)

जो गुणइ लक्खमेगं, पूएइ विहिणा य नमुक्कारं।
तित्थयर नामगोयं, सो बंधइ नत्थि संदेहो॥

जो विधिपूर्वक नमस्कार-मंत्र को एक लाख बार जपता है वह तीर्थंकर गोत्र का बंध करता है, इसमें सन्देह नहीं है।

—कामघट-कथानक (१५७)

यति अरिह-परम मन्तो पढ़िय्यते कीरते न जीववधो।
यातिस तातिस जाती ततो जनो निब्बुतिं यालि॥

अर्हत् परम मन्त्र अर्थात् नमस्कार-मन्त्र को यदि कोई पढ़ता है तथा जीवों की हिंसा नहीं करता है तो वह मनुष्य किसी जाति का होने पर भी निवृत्ति को प्राप्त करता है।

—कुमारपाल-चरित्र (८/६)

निद्रा

न विज्जा सह निद्दया।

निद्रालु विद्याभ्यासी नहीं हो सकता।

—बृहत्कल्प-भाष्य (३३८५)

सगणे व परगणे वा परपरिवादं च मा करेज्जाह।
अच्चा सादण विरदा होह सदा वज्जभीरूय॥

अपने गण में या अन्य गण में तुम्हें अन्य किसी की निन्दा करना कदापि योग्य नहीं है। पर की विराधना से विरक्त होकर सदा पापों से पृथक् होना चाहिए।

—भगवती-आराधना (३६९)

दट्ठूण अण्णदोसं सप्पुरिसो लज्जिओ सयं होइ।
रक्खइ य सयं दोसं व तयं जणजंपणभएण॥

सत्पुरुष दूसरों का दोष देखकर उसको प्रकट नहीं करते हैं, प्रत्युत लोक-निन्दा के भय से उनके दोषों को अपने दोषों के समान छिपाते हैं। दूसरों का दोष देखकर वे स्वयं लज्जित हो जाते हैं।

—भगवती-आराधना (३७२)

अप्पाणं जो णिंदइ गुणवंताणं करेइ बहुमाणं।

जो मनुष्य अपनी निन्दा करता है और गुणवन्तों की प्रशंसा करता है, उसके कर्म-निर्जरा होती है।

—कार्तिकेयानुप्रेक्षा (११२)

जइइच्छह गुरुयत्तं, तिहुयणमज्झम्मि अप्पणो नियमा।
ता सव्वपयत्तेणं, परदोसविवज्जणं कुणह॥

यदि तुम लोकत्रय में अपनी बड़ाई चाहते हो तो सर्वप्रयत्न से परनिंदा का कार्य पूर्णरूपेण त्याग दो।

—गुणानुरागकुलकम् (१२)

परनिन्दा परिहारो, अप्पसंसा अत्तणोगुणाणं च।

परनिन्दा को सर्वथा त्याग कर देना चाहिये और अपने गुणों की प्रशंसा से दूर रहना चाहिए।

—पुण्यकुलकम् (७)

संतेहि असंतेहि य परस्स किं जंपिएहि दोसेहिं।
अत्थो जसो न लब्भइ सो वि अमित्तो कओ होइ।

दूसरों के विद्यमान अथवा अविद्यमान दोषों को कहने से क्या लाभ? न तो अर्थ मिलता है और न यश। अपितु उसको भी शत्रु बना लिया जाता है।

—वज्जालग्ग (८/२)

कयपावोवि मणुस्सो, आलोइअ निंदिअय गुरुसगासे।
होइ अइरेगलहुओ, ओहरिअभरुव्व भारवहो॥

जिस प्रकार बोझा उतर जाने पर भारवाहक के सिर पर भार कम हो जाता है उसी प्रकार गुरु के सामने पाप की आलोचना तथा आत्मा की साक्षी से निन्दा करने पर मनुष्य के पाप अत्यन्त हल्के हो जाते हैं।

—वंदित्तुसूत्र (४०)

न य सो भावो विज्जइ, अदोसवं जो अनिययस्स।

पुरुषार्थ-हीन व्यक्ति के लिए ऐसा कोई कार्य नहीं, जो कि पूर्ण निर्दोष हो।

—बृहत्कल्पभाष्य (१२३८)

अहि अत्थं निवारिंतो, न दोसं वत्तुमरिहसि।

बुराई को दूर करने की दृष्टि से यदि आलोचना की जाए तो कोई दोष नहीं है।

—उत्तराध्ययन-निर्युक्ति (२७६)

तस्स य दोस कहंता, भग्गा भग्गत्तणं दिंति।

मिथ्या-दोषारोपण करनेवाला स्वयं भी भ्रष्ट-पतित होता है और दूसरों को भी भ्रष्ट-पतित करता है।

—दर्शन-पाहुड़ (६)

जाण असमेहिं विहिया जाअइ णिन्दा समा सलाहावि।
णिन्दा वि तेहिं विहिआ ण ताण मण्णे किलामेइ॥

दुर्जनों द्वारा कथित निंदा सज्जनों को लगेगी अथवा नहीं, कहा नहीं जा सकता, किन्तु वह निन्दा सज्जनों की निन्दा से उत्पन्न दोष के उन दुर्जनों को ही घटित हो जाती है।

—गउडवहो (७३)

मा कस्स वि कुण णिंदं होज्जसु गुण-गेण्हणुज्जओ णिययं।

किसी की निन्दा मत करो, गुणों को ग्रहण करने में उद्यम करो।

—कुवलयमाला (अनुच्छेद ८५)

किच्चा परस्स णिन्दं जो अप्पाणं ठवेदुमिच्छेज्ज।
सो इच्छदि आरोग्गं परम्मि कडुओसहे पीए।

जो व्यक्ति दूसरों की निन्दाकर अपने को गुणवानों में स्थापित करने की इच्छा करता है, वह दूसरों के द्वारा कड़वी औषधी पी लेने पर स्वयं आरोग्य चाहता है।

—अर्हत्प्रवचन (६/१२)

निरभिमान

जो ण य कुव्वदि गव्वं, पुत्तकलत्ताइसव्वअत्थेसु।
उवसमभावे भवदि, अप्पाणं मुणदि तिणमेत्तं॥

जो पुत्र-कलत्रादि किसी का भी गर्व नहीं करता और अपने को तृण के समान मानता है, उसे उपशम-भाव होता है।

—कार्तिकेयानुप्रेक्षा (३१३)

समणस्स जणस्स पिओ णरो अमाणी सदा हवदि लोए।
णाणं जसं च अत्थं लभदि सकज्जं च साहेदि॥

अभिमान से रहित मनुष्य संसार में स्वजन और जनसामान्य सभी को सदा प्रिय होता है और ज्ञान, यश, धन आदि को प्राप्त करता है तथा अपने कार्य को सिद्ध कर लेता है।

—अर्हत्प्रवचन (७/३७)

रिद्धीसु होह पणया जइ इच्छह अत्तणो लच्छी।

यदि अपनी शोभा चाहते हो तो सम्पत्ति प्राप्त होने पर नम्र बनो।

—कुवलयमाला (अनुच्छेद ८५)

निर्गुण

गुणहीणा जे पुरिसा कुलेण गव्वं वहन्ति ते मूढा।
वंसुप्पन्नो वि धणु गुण रहिए नत्थि टंकारो।

जो पुरुष गुणहीन हैं, वे मूढ़ केवल कुल-कारण गर्व धारण करते हैं। ठीक ही है, बांस से उत्पन्न धनुष भी रस्सी-गुण से रहित होने पर टंकारवाला नहीं होता है।

—वज्जालग्ग (७६/२)

निर्मोही

णिस्सेसखीण मोहो, फलिहामलभायणुदय-समचित्तो।

जिसने सम्पूर्ण मोह को पूरी तरह से नष्ट कर दिया है, उस निर्मोही का चित्त स्फटिक मणि के पात्र में रखे हुए स्वच्छ जल की भाँति निर्मल हो जाता है।

—पञ्चसंग्रह (१/१५)

लोभो मुत्तीए य भाविओ भवति अंतरप्पा
संजयकरचरणनयणवयणो सूरो सच्चज्जवसंपन्नो॥

लोभ-संयम रूप निर्लोभता की भावना से भावित अन्तरात्मा अपने हाथ, पैर, आँख और मुँह पर संयमशील बनकर धर्मवीर तथा सत्यता और सरलता से सम्पन्न हो जाता है।

—प्रश्नव्याकरण (२/२)

सकदकफलजलंवा, सरए सरवाणियं व णिम्मलयं।
सयलोवसंतमोहो, उवसंतकसायओ होदि॥

जैसे निर्मली-फल से युक्त जल अथवा शरदकालीन सरोवर का जल निर्मल होता है वैसे ही जिनका सम्पूर्ण मोह उपशान्त हो गया है, वे निर्मल परिणामी 'उपशान्त-कषाय' कहलाते हैं।

—गोम्मटसार-जीवकाण्ड (६१)

निर्लोभ

विणइत्तु लोभं निक्खम्म, एस अकम्मे जाणति पासति ।

जो लोभ को छोड़कर निष्क्रमण करता है, वह बन्धन-मुक्त होकर सब का ज्ञाता/द्रष्टा हो जाता है ।

—आचारांग (१/२/२)

लोभं अलोभेण दुगंछमाणे, लद्धे कामे नाभिगाहइ ॥

जो पुरुष अलोभ से लोभ को पराजित कर देता है, वह प्राप्त कामों का सेवन नहीं करता ।

—आचारांग (१/२/२)

दीसन्ति खमावन्ता, नीहंकारा पुणो वि दीसन्ति ।
निल्लोहा पुण विरला, दीसन्ति न चेव दीसन्ति ॥

दयालु देखे जाते हैं और अहंकार-रहित भी देखे जाते हैं, किन्तु इस संसार में लोभ-रहित विरले ही देखे जाते हैं और नहीं भी देखे जाते हैं ।

—कामघट-कथानक (७१)

परानुपजीवी

पुव्वपुरिसज्जियाइं धणाइं विद्दवइ को न इच्छाए ।
जे समज्जिय भुंजन्ति, हुन्ति ते उत्तमा केवि ॥

पूर्वज व्यक्तियों के द्वारा कमाये हुए धन आदि को कौन व्यक्ति इच्छा से खर्च नहीं करता है ? किन्तु जो स्वयं के द्वारा अर्जित धन का उपभोग करते हैं, वे उत्तम पुरुष कोई विरले ही होते हैं ।

—पाइअकहासंगहो (२४)

परिणाम

परिणामादो बंधो परिणामो रागदोसमोहजुदो ।

परिणाम से बन्ध है, परिणाम राग, द्वेष, मोह से युक्त है।

—प्रवचनसार (१८०)

जो खलु संसारत्थो, जीवो तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्मं, कम्मादो होदि गदिसु गदी॥

संसारी जीव के परिणाम (राग-द्वेष रूप) होते हैं। परिणामों से कर्म-बन्ध होता है। कर्म-बन्ध के कारण जीव चार गतियों में परिभ्रमण करता है, जन्म लेता है।

—पञ्चास्तिकाय (१२८)

परोपजीवी

जो जणयज्जियलच्छि, उवभुंजइ अहमचरिओ सो।

जो पिता के द्वारा कमाई हुई लक्ष्मी का उपभोग करता है वह अधम चारित्रवाला है।

—पाइअकहासंगहो (१८)

किं पढिएणं बुद्धीए किं, व किं तस्स गुणसमूहेण।
जो पियरविढत्तधणं, भुंजइ अज्जणसमत्थो वि॥

उसके पढ़ने से क्या, बुद्धि से अथवा उसके गुण समूह से क्या (लाभ)? जो कमाने में समर्थ होता हुआ भी पिता के द्वारा अर्जित धन को खाता है।

—पाइअकहासंगहो (१६)

पाप

पावाणं जदकरणं, तदेव खलु मंगलं परमं।

पाप-कर्म न करना ही वस्तुतः परम मंगल है।

—वृहत्कल्पभाष्य (८१४)

नहु पावं हवइ हिवं।
विसं जहा जीवियत्थिस्स॥

जैसे कि जीवितार्थियों के लिए विष हितकर नहीं होता है, वैसे ही कल्याणार्थी के लिए पाप हितकर नहीं है।

—मरण-समाधि (६१३)

पासयति पातयति वा पापं।

जो आत्मा को गिराता है, अथवा बाँधता है, वह पाप है।

—उत्तराध्ययन-चूर्णि (अध्ययन २)

पावोगहा हि आरंभा, दुक्खफासा य अंतसो।

पाप के अनुष्ठान अन्त में दुःख ही देते हैं।

—सूत्रकृतांग (१/८/७)

जहवा विसगंडूसं, कोई घेत्तूण नाम तुण्हिक्को।
अण्णेण अदीसंतो, किं नाम ततो न व मरेज्जा॥

जिस प्रकार कोई व्यक्ति चुपचाप लुक-छिपकर विषपान करता है तो क्या वह उस विष से नहीं मरेगा ? उसी प्रकार जो छिपकर पाप करता है, तो क्या वह उससे दूषित नहीं होगा ?

वर जिय पावइं सुन्दरइं, णाणिय ताइं भणंति।
जीवहं दुक्खइं जणिवि लहु, सिवमइ जाइं कुणंति॥

ज्ञानी की दृष्टि में तो वह पाप भी बहुत अच्छा है, जो जीव को दुःख व विषाद देकर उसकी बुद्धि मोक्षमार्ग की ओर मोड़ देता है।

—परमात्मप्रकाश (२/५६)

पापी

एवमावट्ट जोणीसु, पाणिणो कम्मकिब्बिसा।

पाप-कर्म करनेवाले प्राणी बार-बार भिन्न-भिन्न योनियों में जन्म लेते रहते हैं।

—उत्तराध्ययन (३/५)

कम्मसंगेहिं सम्मूढ़ा, दुक्खिया बहुवेयणा।
अमाणुसासु जोणीसु, विविहम्मन्ति पाणिणो॥

पुनः पुनः पापमय प्रवृत्ति करते-करते विशेष मूढ़, दुःखी और अत्यन्त वेदना भोगनेवाले प्राणी मनुष्येतर योनियों में जन्म ले-लेकर संसार-परिभ्रमण करते रहते हैं।

तेणे जहा संधिमुहे गहीए,
सकम्मुणा किच्चइ पावकारी।
एवं पया पेच्च इलं च लोए।

जैसे चोर सेंध लगाते हुए पकड़े जाने पर अपने ही दुष्कर्म से अपराधी बनकर दंडित होता है, वैसे ही पाप करनेवाला प्राणी भी इस लोक तथा परलोक में भयंकर दुःख पाता है।

—उत्तराध्ययन (४/३)

रागे दोसे य दो पावे, पावकम्म पवत्तणे।

पाप-कर्म के प्रवर्तक राग और द्वेष—ये ही दो पाप हैं।

—उत्तराध्ययन (३१/३)

पुण्य

सम्मत्तं निच्चलं तं वयाण परिपालणं अमायत्तं।
पढयं गुणणं विणओ, लब्भंति पभूयपुण्णेहिं॥

सम्यक्त्व में निश्चलता व्रतों-नियमों का परिपालन, निर्मायीपन, पढ़ना, गुनना और विनय—ये सब महापुण्य के योग से ही प्राप्त होते हैं।

—पुण्यकुलकम् (४)

समत्तेण सुदेव य विरदीए कसायणिग्गहगुणेहिं
जो परिणदो सो पुण्णो।

सम्यक्त्व, श्रुतज्ञान, व्रतरूप परिणाम तथा कषाय-निग्रह रूप गुणों से परिणत आत्मा पुण्य-पुरुष है।

—मूलाचार (२३४)

सुहअसुह भावजुत्ता पुण्णं पावं हवंति खलु जीवा।

शुभ-परिणामों से युक्त जीव पुण्य रूप होता है और अशुभ-परिणामों से युक्त जीव पाप रूप होता है।

—द्रव्यसंग्रह (३८/१५८)

पुण्णं मोक्ख गमण विग्घाय हवति।

परमार्थ-दृष्टि से पुण्य भी मोक्ष-प्राप्ति में बाधक है।

—निशीथ-चूर्णि (३३२९)

रागो जस्स पसत्थो, अणुकंपासंसिदो य परिणामो।
चित्तम्हि णत्थि कलुसं, पुण्णं जीवस्स आसवदि॥

जिसका राग प्रशस्त है, हृदय में अनुकम्पा की वृत्ति है और मन में कलुष-भाव नहीं है, उस आत्मा को पुण्य की प्राप्ति होती है।

—पंचास्तिकाय (१३५)

इह लोगे सुचिन्ना कम्मा परलोगे सुहफल विवाग संजुत्ता भवंति।

इस जीवन में किये हुए सत्कर्म इस लोक में और परलोक में भी सुखदायी होते हैं।

—स्थानांग (४/२)

मं पुणु पुण्णइं, भल्लाइं, णाणिय ताइं भणंति।
जीवहं रज्जइं देवि लहु, दुक्खइं जाइं जणंति॥

वह (पापानुबन्धी) पुण्य भी किसी काम का नहीं जो मनुष्य को राज्य-सुख देकर उसमें आसक्ति उत्पन्न करा देता है, जिसके कारण (पुण्य क्षीण हो जाने पर) शीघ्र ही वह नरक आदि गतियों के दुःखों को प्राप्त हो जाता है।

—परमात्मप्रकाश (२/५७)

पुण्य-पाप

सुचिण्णा कम्मा, सुचिण्णफला भवंति।
दुचिण्णा कम्मा, दुचिण्णफला भवंति॥

अच्छे कर्म का फल अच्छा होता है। बुरे कर्म का फल बुरा होता है।

—औपपातिकसूत्र (५६)

सुहपरिणामो पुण्णं, असुहो पावंति हवदि जीवस्स।

आत्मा का शुभ-परिणाम पुण्य है और अशुभ-परिणाम पाप है।

—पंचास्तिकाय (१३२)

जस्स ण विज्जदिरागो, दोसो मोहो व सव्व दव्वेसु।
णा सवदि सुहं असुहं, समसुह दुक्खस्स भिक्खुस्स॥

जिस साधक का किसी भी द्रव्य के प्रति राग, द्वेष और मोह नहीं है, जो सुख-दुःख में समभाव रखता है, उसे न पुण्य का आश्रव होता है और न पाप का।

—पंचास्तिकाय (१४२)

संसारसंतईमूलं पुण्णं पावं पुरेकडं।

संसार-परम्परा का मूल पूर्वकृत पुण्य और पाप है।

—इसिभासियाइं (९/२)

सोवण्णियं पि णियलं, बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं।
बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं॥

जिस प्रकार लोहे की बेड़ी पुरुष को बाँधती है, उसी प्रकार सोने की बेड़ी भी बाँधती है। इसलिए परमार्थतः शुभ व अशुभ दोनों ही प्रकार के कर्म जीव के लिए बन्धनकारी है।

—समयसार (१४६)

सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पावंत्ति भणियमण्णेसु।

पर के प्रति शुभ-परिणाम पुण्य है और अशुभ-परिणाम पाप है।

—प्रवचनसार (१८१)

वरं वयतवेहिं सग्गो, मा दुक्खं होउ निरइ इयरेहिं।
छायातवट्ठियाणं, पडिवालंताण गुरुभेयं॥

पाप-कर्मों के द्वारा नरक आदिक के दुःख भोगने की बजाय तो व्रत-तप

आदि के सम्यक् अनुष्ठान से स्वर्ग प्राप्त करना ही अच्छा है। धाम में बैठकर प्रतीक्षा करनेवाले की अपेक्षा छाया में बैठकर प्रतीक्षा करनेवाले की स्थिति में बड़ा अन्तर है।

—मोक्षपाहुड़ (२५)

कम्ममसुहं कुशीलं, सुहकम्मं चावि जाण व सुसीलं।

अशुभ-कर्म को कुशील और शुभ-कर्म को सुशील जानो।

—समयसार (१४५)

जं जं समयं जीवो, आविस्सइ जेण जेण भावेण।
सो तम्मि तम्मि समये, सुहासुहं बंधये कम्मं॥

जीव जिस-जिस समय जो कुछ अच्छा-बुरा काम करता है, वह ठीक उसी-उसी समय शुभ या अशुभ परिणामों से आबद्ध हो जाता है।

—सार्थपोसह-सज्झायसूत्र (२३)

पुरुषार्थ

धम्महं अत्थहं कम्महं वि एयहं सयलहं मोक्खु।
उत्तमु पभणहिं णाणि जिय अण्णे जेण ण सोक्खु॥

ज्ञानी पुरुष धर्म-पुरुषार्थ, अर्थ-पुरुषार्थ, काम-पुरुषार्थ और मोक्ष-पुरुषार्थ में से मोक्ष-पुरुषार्थ को उत्तम कहते हैं, क्योंकि अन्य पुरुषार्थों में परमसुख नहीं हैं।

—परमात्मप्रकाश (२/३)

आलसड्ढो णिरुच्छाहो फलं किंचि ण भुंजदे।
थणक्खीरादिपाणं वा पउरुसेण विणा ण हि॥

जो व्यक्ति आलस्य-युक्त होकर उद्यम-उत्साह से रहित हो जाता है, वह किसी भी फल को प्राप्त नहीं कर सकता। पुरुषार्थ से ही सिद्धि है, जैसे—स्तन का दूध उद्यम करने पर ही पिया जा सकता है।

—गोम्मटसार-कर्मकाण्ड (८९०)

आयारमट्ठा विणयं पउंजे सुस्सूसमाणो परिगिज्झ वक्कं।
जहोवइट्ठं अभिकंखमाणो, गुरुं तु नासायई स पुज्जो॥

जो आचार की प्राप्ति के लिये विनय का प्रयोग करता है तथा गुरु की वाणी को एकाग्र चित्त से सुनने की आकांक्षा रखते हुए उन्हे ग्रहण कर वचनानुकरण करता है और कभी भी सद्गुरु की अवज्ञा नहीं करता, वही साधक 'पूज्य' है।

—दशवैकालिक (९/३/२)

अलद्धुयं नो परिदेवएज्जा, लद्धुं नविकत्थई स पुज्जो॥

जो कुछ भी प्राप्त न होने पर खेद नही करता और मिल जाय तो प्रसन्न नही होता, वही 'पूज्य' है।

—दशवैकालिक (९/३/४)

संतोस पाहन्नरए स पुज्जो।

वह 'पूज्य' है जो संतोष-प्रधान जीवन में मस्त रहता है।

—दशवैकालिक (९/३/५)

वईमए कण्णसरे स पुज्जो।

जो कर्ण-अप्रिय-वचन-बाणो को धैर्य भाव से ग्रहण करता है वह 'पूज्य' है।

—दशवैकालिक (९/३/६)

जिइन्दिए जो सहई स पुज्जो।

जो जितेन्द्रिय साधक है, वही 'पूज्य' है।

—दशवैकालिक (९/३/८)

वियाणिया अप्पगमप्पएणं, जो रागदोसेहिं समो स पूज्जो।

जो मुमुक्षु अपनी आत्मा द्वारा अपनी आत्मा का वास्तविक स्वास्थ्य पहचान कर राग व द्वेष दोनो में समत्व-योग रखता है, वही 'पूज्य' है।

—दशवैकालिक (९/३/११)

तहेव डहरं च महल्लगं वा, इत्थीं पुमं पव्वइयं गिहिंवा।
नो हीलए नो वि य खिंसएज्जा, थंमं च कोहं च च एस पुज्जो॥

क्रोध और अभिमान का परित्याग कर बालक, वृद्ध, स्त्री, पुरुष, साधु, गृहस्थ आदि किसी का भी जो तिरस्कार एवं अनादर नहीं करता, वह 'पूज्य' है।

—दशवैकालिक (६/३/१२)

प्रतिक्रमण

दव्वे खेत्ते काले, भावे य कयावराह सोहणयं।
णिंदणगरहणजुत्तो, मणवचकायेण पडिक्कमणं॥

निन्दा तथा गर्हा से युक्त साधक का मन, वचन तथा शरीर के द्वारा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के व्रताचरण विषयक दोषों या अपराधों की आचार्य के सम्मुख आलोचना पूर्वक शुद्धि करना प्रतिक्रमण है।

—मूलाचार (१/२८)

आलोचणणिंदणगरहणाहिं, अब्भुट्ठिओ अकरणाए।
तं भाव पडिक्कमणं, सेसं पुण दव्वदो भणिअं॥

आलोचना, निन्दा तथा गर्हा के द्वारा प्रतिक्रमण करने में तथा पुनः दोष न करने में उद्यत साधक के भाव प्रतिक्रमण होता है। शेष के प्रतिक्रमण-पाठ आदि करना तो द्रव्य-प्रतिक्रमण है।

—मूलाचार (७/१५१)

पडिसिद्धाणं करणे, किच्चाणमकरणे अ पडिक्कमणं।
असद्दहणे अ तहा, विवरीय परूवणाए अ॥

धर्म-ग्रन्थों में निषेध किए हुए कार्यों को करने पर, करने योग्य कार्यों को नहीं करने पर तत्त्वों में अश्रद्धा करने पर एवं आगम से विरुद्ध प्ररूपण करने पर जो दोष-पाप हो उनको दूर हटाने के लिए प्रतिक्रमण किया जाता है।

—वंदित्तुसूत्र (४६)

मोत्तूण वयणरयणं, रागादीभाव - वारणं किच्चा।
अप्पाणं जो झायदि, तस्स दु होदि त्ति पडिक्कमणं॥

वचन-रचना मात्र को त्याग कर जो साधक रागादि भावों को दूर कर आत्मा का ध्यान करता है, उसी के प्रतिक्रमण होता है।

—नियमसार (८३)

पडिकमणपहुदिकिरियं, कुव्वंतो णिच्छयस्स चारित्तं।
तेण दु विराग चरिए, समणो अब्भट्ठिदो होदि॥

जो निश्चय चारित्र स्वरूप प्रतिक्रमण आदि क्रियाएँ करता है, वह श्रमण वीतराग-चारित्र में समुत्थित या आरूढ़ होता है।

—नियमसार (१५२)

जदि सक्कदि कादुं जे, पडिकमणादिं करेज्ज झाणमयं।

यदि करने की शक्ति और सम्भावना हो तो ध्यानमय प्रतिक्रमण आदि करना चाहिये।

—नियमसार (१५४)

कम्मं न पुव्वकयं सुहासुह मणेय वित्थर विसेसं।
तत्तो णियत्तदे अप्पयं तु जो सो पडिक्कमणं॥

पूर्वकृत कर्मों के शुभ-अशुभ रूप भावों से आत्मा को पृथक् करना प्रतिक्रमण है।

—समयसार (४०३)

प्राकृत-काव्य

परुसो सक्कअबंधो पउअबंधो वि होउ सुउमारो।
पुरिसमहिलाणं जेत्तिअमिहंतरं तेत्तिअमिमाणं॥

संस्कृत रचनायें कठोर होती हैं और प्राकृत-रचनाएँ सुकुमार। पुरुषों और महिलाओं में जितना अन्तर है, उतना ही इन दोनों भाषाओं में है।

—कर्पूरमञ्जरी (१/७)

पाइयकव्वम्मि रसो जो जायइ तह य छेयभणिएहिं।
उदयस्स य वासियसीयलस्स तित्ति ण वच्चामो॥

प्राकृत-काव्य में तथा विदग्ध-भणिति (द्वयर्थक-व्यंग्योक्ति) में जो रस होता है, उससे तृप्ति नहीं होती है, जैसे सुवासित और शीतल जल से मन तृप्त नहीं होता है।

—वज्जालग्ग (३/२)

संते पाइयकव्वे को सक्कइ सक्कयं पढिउं।

प्राकृत-काव्य के रहते हुए कौन संस्कृत पढ़ने का प्रयत्न करेगा? अर्थात् नहीं पढ़ेगा।

—वज्जालग्ग (३/११)

उज्झउ सक्कयकव्वं, सक्कयकव्वं च निम्मियं जेण।
वंसहरं व पलित्तं, तडयडतट्टत्तणं कुणइ॥

संस्कृत-काव्य को तथा जिसने संस्कृत-काव्य बनाया है उनको छोड़ो, उनका नाम मत लो, क्योंकि वह संस्कृत-भाषा जलते हुए बाँस के घर की तरह 'तड़-तड़-तड' शब्द को करती है, अर्थात् श्रुतिकटु है।

—वज्जालग्ग

पाइयकव्वस नमो, पाइयकव्वं च निम्मियं जेण।
ताहं चिय पणमामो, पढिऊण य जे वि याणंति॥

प्राकृत-काव्य को नमस्कार है, जिन्होंने प्राकृत-काव्य की रचना की है, उन्हें नमस्कार है। जो पढ़कर उन्हें जान लेते हैं, समझ लेते हैं, उन्हें भी हम प्रणाम करते हैं।

—वज्जालग्ग (३/१३)

गूढत्थदेसिरहियं सुललियं वण्णेहिं विरइयं रम्मं।
पाययकव्वं लोए कस्स न हिययं सुहावेइ॥

गूढ़ार्थक देशी शब्दों से रहित तथा सुललित वर्णों के द्वारा रचित सुन्दर प्राकृत-काव्य किसके हृदय को सुखकर नहीं है? अर्थात् सभी को सुख-दायक है।

—ज्ञानपञ्चमीकथा (१४)

जो पस्सदि अप्पाणं, समभावे संठवित्तु परिणामं
आलोयणमिदि जाणह।

अपने परिणामों को समभाव में स्थापित करके आत्मा को देखना ही
अपने परिणामों को समभाव में स्थापित करके आत्मा को देखना ही
आलोचना है।

—नियमसार (१०९)

कोहादि-सगब्भाव-क्खयपहुदि-भावणाए णिग्गहणं।
पायच्छित्तं भणिदं, णियगुणचिंता य णिच्छयदो॥

क्रोध आदि स्वकीय भावों के क्षय या उपशम आदि की भावना करना तथा निज गुणों का चिंतन करना निश्चय से प्रायश्चित है।

—नियमसार (११४)

तं पिहु सपडिक्कमणं, सप्परिआवं सउत्तर गुणं च।
खिप्पं उवसामेई, वाहि व्व सुसिक्खिओ विज्जो॥

जिस प्रकार सुशिक्षित अनुभवी (कुशल) वैद्य व्याधि को शीघ्र शान्त कर देता है वैसे ही मनुष्य उस अल्प कर्म-बन्ध को भी प्रतिक्रमण और प्रायश्चित रूप उत्तर गुण द्वारा जल्दी नाश कर देता है।

—वंदित्तुसूत्र (३७)

आलोयणारिहाईयं, पायच्छित्तं तु दसविहं।
जे भिक्खू वहई सम्मं, पायच्छित्तं तमाहियं॥

अपने दोषों के शोधनार्थ जो भिक्षु गुरु के समक्ष दोषों की निष्कपट आलोचना करता है, और गुरु प्रदत्त दण्ड को सविनय अंगीकार करता है अथवा प्रायश्चित के शास्त्रोक्त दश भेदों का सम्यक्तया पालन करता है उसको प्रायश्चित नामक तप होता है।

—उत्तराध्ययन (३०/३१)

जह बालो जंपन्तो, कज्जमकज्जं च उज्जुयं भणइ।
तं तह आलोणइज्जा, मायामय विप्पमुक्को वि॥

जिस प्रकार बालक अपने कार्य-अकार्य को सरलतापूर्वक माता के समक्ष व्यक्त कर देता है, उसी प्रकार व्यक्ति को भी समस्त दोषों की आलोचना माया-मद/छल-छद्म त्यागकर करनी चाहिए।

—महाप्रत्याख्यान-प्रकीर्णक (२२)

जो चिंतइ अप्पाणंणाण-सरूवं पुणो पुणो णाणी।
विकह-विरत्त चित्तो पायच्छित्तं वरं तस्स॥

जो ज्ञानी ज्ञान-स्वरूप आत्मा का बारम्बार चिन्तन करता है और विकथा आदि से जिसका मन विरक्त रहता है, उसके उत्कृष्ट प्रायश्चित होता है।

—कार्तिकेयानुप्रेक्षा (४४५)

प्रेम

पडिवन्नं जेण समं पुव्वणिओएण होइ जीवस्स।
दूरट्ठिओ न दूरे जह चंदो कुमुयसंडाणं॥

पूर्वकृत कर्म की प्रेरणा से जो जीव जिस किसी के साथ प्रीति का सम्बन्ध जोड़ लेता है, वह दूर रहने पर भी दूर नहीं रहता, जैसे चन्द्रमा कुमुदवन से।

—वज्जालग्ग (७/४)

एमेव कह वि कस्स वि केण वि दिट्ठेण होइ परिओसो।
कमलायराण रइणा किं कज्जं जे वियसंति॥

किसी को देखकर भी किसी को अकारण ही सुख प्राप्त हो जाता है। सूर्य से कमलों का क्या प्रयोजन है जो उसे देखकर विकसित हो जाते हैं।

—वज्जालग्ग (७/७)

कत्तो उग्गमइ रई कत्तो वियसंति पंकयवणाइं।
सुयणाण जए नेहो न चलइ दूरट्ठियाणं पि॥

सूर्य कहाँ निकलता है और कमल कहॉ खिलते है। संसार मे सुजनो का प्रेम दूर रहने पर भी विचलित नही होता।

—वज्जालग्ग (७/८)

जो धम्मिएसु भत्तो, अणुचरणं कुणदि परमसद्धाए।
पिय वयणं जंपंतो, वच्छलं तस्स भव्वस्स॥

जो व्यक्ति प्रिय वाणी बोलता हुआ विशेष श्रद्धा से धर्मप्रेमियों में प्रमोद-पूर्ण भक्ति रखता है और उनके अनुसार आचरण करता है, उस भव्य व्यक्ति के वात्सल्य-गुण कहा गया है।

—कार्तिकेयानुप्रेक्षा (४२१)

पीती सुण्णो पिसुणो।

जो प्रीति से शून्य है, वह 'पिशुन' है।

—निशीथ-भाष्य (६२१२)

पढमारंभमणहरं घणलग्गं माण रायरमणिज्जं॥
पेम्मं सुरिंदचावं व चंचलं झत्ति वोलेइ॥

जिसका प्रथम आरम्भ मनोहर होता है, जिसमें घना लगाव हो जाता है तथा जो मान और अनुराग से रमणीय लगता है, वह प्रेम उस इन्द्रधनुष के समान चंचल है और शीघ्र नष्ट हो जाता है, जिसका प्रथमारंभ मनोहर होता है, जो सीमाबद्ध रंगो से रमणीय होता है और मेघो से संलग्न रहता है।

—वज्जालग्ग (३६/१)

अन्नं तं सयदलियं पिमिलइ रसगोलिय व्व जं पेम्मं।

वह प्रेम और ही है, जो पारे की गोली के समान सौ टुकड़े हो जाने पर भी जुड़ जाता है।

—वज्जालग्ग (३६/४)

जा न चलइ ता अमयं चलियं पेम्मंविसं विसेसेइ।

प्रेम जब तक स्थिर रहता है, तब तक अमृत है। जब वह स्थिर नहीं रह जाता, तब विष से भी अधिक भयानक बन जाता है।

—वज्जालग्ग (३६/७)

भग्गं पुणो घडिज्जइ कणयं कंकणयणेउरं नयरं।
पुण भंग न घडिज्जइ पेम्मं मुत्ताहलं जच्चं॥

सोने के कंकण, नूपुर और नगर टूट जाने पर पुनः जुड़ जाते हैं, परन्तु प्रेम और विशुद्ध मुक्ताफल टूट जाने पर फिर नहीं जुड़ते।

—वज्जालग्ग (३६/१०)

सो कोवि न दीसइ सामलंगि जो घडइ विघडियं पेम्मं।
घडकप्परं च भग्गं न एइ च्चिय सलेहिं॥

ऐसा कोई नही दिखाई देता जो टूटे प्रेम को फिर जोड़ सके। टूटा हुआ घड़ा फिर उन्हीं सांचों में नहीं आता।

—वज्जालग्ग (३६/१५)

कीरइ समुद्दतरणं पविसिज्जइ हुयवहम्मि पज्जलिए।
आयामिज्जइ मरणं नत्थि दुलंघं सिणेहस्स॥

स्नेह के लिए इस जगत् में कुछ भी अलंघनीय/कठिन नहीं है; समुद्र पार किया जाता है, प्रज्वलित अग्नि में भी प्रवेश किया जाता है तथा मरण भी स्वीकार किया जाता है।

—वज्जालग्ग (७२/५)

एक्काइ नवरि नेहो पयासिओ तिहुयणम्मि जोण्हाए।
जा झिज्जइ झीणे ससहरम्मि वड्ढेइ वड्ढंते॥

तीनो लोको में केवल अकेले चन्द्र-प्रकाश के द्वारा स्नेह व्यक्त किया जाता है, क्योंकि जो वह प्रकाश क्षीण चन्द्रमा में क्षीण होता है और बढ़ते हुए चन्द्रमा में बढ़ता है।

—वज्जालग्ग (७.२)

एमेव कह वि कस्स वि केण वि दिट्ठेण होइ परिओसो।
कमलायराण रइणा किं कज्जं जेण वियसन्ति॥

किसी तरह किसी भी स्नेही के लिए किसी भी स्नेही के द्वारा देख लिये जाने से आनन्द होता है। इसी प्रकार सूर्य से कमल-समूहो का स्नेह के अतिरिक्त और क्या प्रयोजन, जिससे वे खिलते हैं।

—वज्जालग्ग (७.७)

दुविहे बंधे-पेज्ज बंधे चेव दोसबंधे चेव।

बन्धन के दो भेद हैं—प्रेम का बन्धन और द्वेष का बन्धन।

—स्थानाङ्ग (२/४)

हेमं वा आयसं वा वि, वंधणं दुक्खकारणा।
महग्घस्सावि दंडस्स, णिवाए दुक्खसंपदा॥

वन्धन चाहे सोने का हो या लोहे का, बन्धन तो अन्ततः दुःखकारक ही है। बहुत मूल्यवान् डंडे का प्रहार होने पर भी दर्द तो होता ही है।

—इसिभासियाइं (४५/५)

जहा, जहा अप्पतरो से जोगो, तहा तहा अप्पतरो से बंधो।
निरुद्धजोगिस्स व से ण होति, अछिद्द पोतस्स व अंबुणाधे॥

जैसे-जैसे मन,वाणी और शरीर के संघर्ष/योग अल्पतर होते जाते हैं, वैसे-वैसे वन्ध भी अल्पतर होते जाते हैं। योगचक्र का पूर्ण निरोध होने पर आत्मा में वन्ध का अभाव हो जाता है। जैसेकि सागर में रहे हुए छिद्र-रहित जलयान में जलागमन का अभाव हो जाता है।

—वृहत्कल्पभाष्य (३९२६)

सव्वभूयऽप्पभूयस्स, सम्मं भूयाइं पासओ।
पिहियासव्वस्स दंतस्स, पावं कम्मं न वंधई॥

जो समस्त प्राणियों को आत्मवत् देखता है और जिसने कर्मास्रव के सारे द्वार बन्दकर दिये हैं, उस संयमी को पापकर्म का वन्ध नहीं होता।

— वृहत्कल्पभाष्य (४५८६)

वहिरात्मा

अप्पाणाण ज्झाण ज्झयण सुहमियरसायणप्पाणं।
मोत्तूणक्खाणसुहं जो भुंजई सो हु वहिरप्पा॥

आत्मा के ज्ञान, ध्यान व अध्ययन रूप सुखामृत को छोड़कर जो इन्द्रियों के सुख को भोगता है, वह ही बहिरात्मा है।

—रयणसार (१३५)

मिच्छत्त-परिणदप्पा तिव्व-कसाएण सुट्ठु आविट्ठो।
जीवं देहं एक्कं मण्णंतो होदि बहिरप्पा॥

जो जीव मिथ्यात्व-कर्म के उदयरूप परिणत हो, तीव्र कषाय से अच्छी तरह आविष्ट हो और जीव तथा शरीर को एक मानता हो, वह बहिरात्मा है।

—कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा (१९३)

घोडगलिंडसमाणस्स, तस्स अब्भंतरम्मि कुधिदस्स।
बाहिरकरणं किं से, काहिदि बगणिहुदकरणस्स॥

बगुले की चेष्टा के समान अन्तरंग में जो कषाय से मलिन है, ऐसे साधु की बाह्य क्रिया किस काम की? वह तो घोड़े की लीद के समान है, जो ऊपर से चिकनी और भीतर से दुर्गन्धयुक्त होती है।

—भगवती-आराधना (१३४७)

बहिरत्थे फुरियमणो इंदियदारेण णियसरूवचओ।
णियदेहं अप्पाणं अज्झवसदि मूढदिट्ठिओ॥

जिसका मन बाह्य धनादिक में तत्पर है, वह इन्द्रियों के द्वारा अपने स्वरूप से च्युत है। वह तो मिथ्यादृष्टि है जो अपनी देह को आत्मा समझता है।

—मोक्षपाहुड़ (८)

अन्तरबाहिरजप्पे, जो वट्टइ सो हवेइ बहिरप्पा।

जो अन्दर एवं बाहर के वचन-विकल्प में रहता है, वह बहिरात्मा है।

—नियमसार (१५०)

झाणविहीणो समणो बहिरप्पा इदि विजाणीहि।

ऐसा समझ कि ध्यान से रहित साधक बहिरात्मा है।

—नियमसार (१५१)

दुविहे बंधे-पेज्ज बंधे चेव दोसबंधे चेव।

बन्धन के दो भेद हैं—प्रेम का बन्धन और द्वेष का बन्धन।

—स्थानाङ्ग (२/४)

हेमं वा आयसं वा वि, बंधणं दुक्खकारणा।
महग्घस्सावि दंडस्स, णिवाए दुक्खसंपदा॥

बन्धन चाहे सोने का हो या लोहे का, बन्धन तो अन्ततः दुःखकारक ही है। बहुत मूल्यवान् डंडे का प्रहार होने पर भी दर्द तो होता ही है।

—इसिभासियाइं (४५/५)

जहा, जहा अप्पतरो से जोगो, तहा तहा अप्पतरो से बंधो।
निरुद्धजोगिस्स व से ण होति, अछिद्द पोतस्स व अंबुणाधे॥

जैसे-जैसे मन,वाणी और शरीर के संघर्ष/योग अल्पतर होते जाते हैं, वैसे-वैसे बन्ध भी अल्पतर होते जाते हैं। योगचक्र का पूर्ण निरोध होने पर आत्मा में बन्ध का अभाव हो जाता है। जैसेकि सागर में रहे हुए छिद्र-रहित जलयान में जलागमन का अभाव हो जाता है।

—बृहत्कल्पभाष्य (३९२६)

सव्वभूयऽप्पभूयस्स, सम्मं भूयाइं पासओ।
पिहियासव्वस्स दंतस्स, पावं कम्मं न बंधई॥

जो समस्त प्राणियों को आत्मवत् देखता है और जिसने कर्मास्रव के सारे द्वार बन्दकर दिये हैं, उस संयमी को पापकर्म का बन्ध नहीं होता।

—बृहत्कल्पभाष्य (४५८६)

बहिरात्मा

अप्पाणाण ज्झाण ज्झयण सुहमियरसायणप्पाणं।
मोत्तूणक्खाणसुहं जो भुंजई सो हु बहिरप्पा॥

आत्मा के ज्ञान, ध्यान व अध्ययन रूप सुखामृत को छोड़कर जो इन्द्रियों के सुख को भोगता है, वह ही बहिरात्मा है।

—रयणसार (१३५)

मिच्छत्त-परिणदप्पा तिव्व-कसाएण सुट्ठु आविट्ठो।
जीवं देहं एक्कं मण्णंतो होदि बहिरप्पा॥

जो जीव मिथ्यात्व-कर्म के उदयरूप परिणत हो, तीव्र कषाय से अच्छी तरह आविष्ट हो और जीव तथा शरीर को एक मानता हो, वह बहिरात्मा है।

—कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा (१९३)

घोडगलिंडसमाणस्स, तस्स अब्भंतरम्मि कुधिदस्स।
बाहिरकरणं किं से, काहिदि बगणिहुदकरणस्स॥

बगुले की चेष्टा के समान अन्तरंग में जो कषाय से मलिन है, ऐसे साधु की बाह्य क्रिया किस काम की? वह तो घोड़े की लीद के समान है, जो ऊपर से चिकनी और भीतर से दुर्गन्धयुक्त होती है।

—भगवती-आराधना (१३४७)

बहिरत्थे फुरियमणो इंदियदारेण णियसरूवचुओ।
णियदेहं अप्पाणं अज्झवसदि मूढदिट्ठिओ॥

जिसका मन बाह्य धनादिक में तत्पर है, वह इन्द्रियों के द्वारा अपने स्वरूप से च्युत है। वह तो मिथ्यादृष्टि है जो अपनी देह को आत्मा समझता है।

—मोक्षपाहुड़ (८)

अन्तरबाहिरजप्पे, जो वट्टइ सो हवेइ बहिरप्पा।

जो अन्दर एवं बाहर के वचन-विकल्प में रहता है, वह बहिरात्मा है।

—नियमसार (१५०)

झाणविहीणो समणो बहिरप्पा इदि विजाणीहि।

ऐसा समझ कि ध्यान से रहित साधक बहिरात्मा है।

—नियमसार (१५१)

काले चरंतस्स उज्जमो सफलो भवति।

उचित समय पर काम करनेवाले का ही श्रम सफल होता है।

—आचारांग (१/५/४)

ण चिय अणिंधणे अग्गी दिप्पति।

विना ईंधन के अग्नि नहीं जलती है।

—आचारांग-चूर्णि (१/३/४)

रागदोस करो वादो।

प्रत्येक 'वाद' रागद्वेष की वृद्धि करनेवाला है।

—आचारांग-चूर्णि (१/६/१)

नाइवहइ अवले विसीयति।

निर्वल व्यक्ति भार वहन करने में असमर्थ होकर मार्ग में ही कहीं विश्राम करने वैठ जाता है।

—सूत्रकृताङ्ग (१/२/३/५)

नातिकंडूइयं अरुयस्सावरज्झति।

घाव को अधिक खुजलाना ठीक नहीं है, क्योंकि खुजलाने से घाव ज्यादा फैलता है।

—सूत्रकृताङ्ग (१/३/३/१३)

जेहि काले परक्कंतं; न पच्छापरितप्पए।

जो समय पर अपना कार्य कर लेते हैं, वे वाद में परितप्त नहीं होते हैं।

—सूत्रकृताङ्ग (१/३/४/१५)

आरओ परओ वावि, दुहावि य असंजया।

कुछ लोग लोक और परलोक—दोनों ही दृष्टियों से असंयत होते हैं।

—सूत्रकृताङ्ग (१/८/६)

जह वा विसगंडूसं, कोई घेत्तूण नाम तुण्हिक्को।
अण्णेण अदीसन्तो, किं नाम ततो न व मरेज्जा॥

यदि कोई चुपचाप छिपकर विष पी लेता है, जहाँ कोई उसे न देख रहा हों तो क्या वह उससे नहीं मरेगा ?

—सूत्रकृताङ्ग-निर्युक्ति (५२)

थंतं पि दुद्धकंखी, न लभइ दुद्ध अधेणूतो।

दूध पाने की कोई कितनी ही तीव्र अभिलाषा क्यों न रखे, पर बांझ गाय से कभी दूध नहीं मिल सकता है।

—वृहत्कल्पभाष्य (१६४४)

को कल्लाणं निच्छई।

विश्व में कौन ऐसा है जो अपना कल्याण न चाहता हो।

—वृहत्कल्पभाष्य (३२५३)

अंधो कहिं कत्थइ देसियत्तं।

कहाँ अन्धा और कहाँ पथ-प्रदर्शक।

—बृहत्कल्पभाष्य (३२५३)

जस्सेव पभावुम्मिल्लिताइं तं चेव हयकतरघाइं।
कुमुदाइं अप्पसंभावियाइं चंदं उवहसंति।

जिस चन्द्रमा की ज्योत्स्ना के द्वारा कुमुद प्रस्फुटित होता है, हन्त ! वे ही कृतघ्न होकर सौन्दर्य का प्रदर्शन करते हुए विकसित अवस्था में उसी जनेता चन्द्रमा का उपहास करने लग जाते हैं।

—बृहत्कल्पभाष्य (३६४२)

णं भूसणं भूसयते सरीरं, विभूसणं सील हिरी य इत्थिए।

स्त्री का आभूषण तो शील और लज्जा है। वाह्य आभूषण उसकी शोभा नहीं बढ़ा सकते हैं।

—वृहत्कल्पभाष्य (४३४२)

न य मूलविभिन्नए घड़े, जलमादीणि घलेइ कण्हुई।

काले चरंतस्स उज्जमो सफलो भवति।

उचित समय पर काम करनेवाले का ही श्रम सफल होता है।

—आचारांग (१/५/४)

ण च्चिय अणिंधणे अग्गी दिप्पति।

बिना ईंधन के अग्नि नहीं जलती है।

—आचारांग-चूर्णि (१/३/४)

रागदोस करो वादो।

प्रत्येक 'वाद' रागद्वेष की वृद्धि करनेवाला है।

—आचारांग-चूर्णि (१/६/१)

नाइवहइ अबले विसीयति।

निर्बल व्यक्ति भार वहन करने में असमर्थ होकर मार्ग में ही कहीं विश्राम करने बैठ जाता है।

—सूत्रकृताङ्ग (१/२/३/५)

नातिकंडूइयं अरुयस्सावरज्झति।

घाव को अधिक खुजलाना ठीक नहीं है, क्योंकि खुजलाने से घाव ज्यादा फैलता है।

—सूत्रकृताङ्ग (१/३/३/१३)

जेहि काले परक्कंतं; न पच्छापरितप्पए।

जो समय पर अपना कार्य कर लेते हैं, वे बाद में परितप्त नहीं होते हैं।

—सूत्रकृताङ्ग (१/३/४/१५)

आरओ परओ वावि, दुहावि य असंजया।

कुछ लोग लोक और परलोक—दोनों ही दृष्टियों से असंयत होते हैं।

—सूत्रकृताङ्ग (१/८/६)

जह वा विसगंडूसं, कोई घेत्तूण नाम तुण्हिक्को।
अण्णेण अदीसन्तो, किं नाम ततो न व मरेज्जा॥

यदि कोई चुपचाप छिपकर विष पी लेता है, जहाँ कोई उसे न देख रहा हो तो क्या वह उससे नहीं मरेगा ?

—सूत्रकृताङ्ग-निर्युक्ति (५२)

धंतं पि दुद्धकंखी, न लभइ दुद्ध अधेणूतो।

दूध पाने की कोई कितनी ही तीव्र अभिलाषा क्यों न रखे, पर वांझ गाय से कभी दूध नहीं मिल सकता है।

—बृहत्कल्पभाष्य (१६४४)

को कल्लाणं निच्छई।

विश्व में कौन ऐसा है जो अपना कल्याण न चाहता हो।

—बृहत्कल्पभाष्य (३२५३)

अंधो कहिं कत्थइ देसियत्तं।

कहाँ अन्धा और कहाँ पथ-प्रदर्शक।

—बृहत्कल्पभाष्य (३२५३)

जस्सेव पभावुम्मिल्लिताइं तं चेव हयकतरघाइं।
कुमुदाइं अप्पसंभावियाइं चंदं उवहसंति।

जिस चन्द्रमा की ज्योत्स्ना के द्वारा कुमुद प्रस्फुटित होता है, हन्त ! वे ही कृतघ्न होकर सौन्दर्य का प्रदर्शन करते हुए विकसित अवस्था में उसी जनेता चन्द्रमा का उपहास करने लग जाते हैं।

—बृहत्कल्पभाष्य (३६४२)

णं भूसणं भूसयते सरीरं, विभूसणं सील हिरी य इत्थिए।

स्त्री का आभूषण तो शील और लज्जा है। वाह्य आभूषण उसकी शोभा नहीं वढ़ा सकते हैं।

—बृहत्कल्पभाष्य (४३४२)

न य मूलविभिन्नए घड़े, जलमादीणि धलेइ कण्हुई।

जिस घड़े के पेंदे में छिद्र हो गया है, उसमें जल आदि तरल पदार्थ कैसे टिक सकते हैं।

—बृहत्कल्पभाष्य (४३६३)

रुहिरकयस्स वत्थस्स रुहिरे णं चेव।
पक्खालिज्जमाणस्स णत्थि सोही॥

रक्त से सना वस्त्र रक्त से धोने से स्वच्छ नहीं होता है, उसके लिए तो शुद्ध जल की आवश्यकता है।

—ज्ञाताधर्म-कथा (१/५)

मइलो पडो रंगिओ न सुन्दरं भवइ।

मलिन कपड़ा रंगने पर भी सुन्दर नहीं होता है।

—दशवैकालिक-चूर्णि (अध्ययन-४)

अजियं जिणाहि, जियं च पालेहि।

अविजित शत्रुओं को जीतो और जीते हुए का पालन करो।

—औपपातिक-सूत्र (५३)

सो अप्पणो परस्स वा आवतीए
वि न परिच्चयति, सो बंधू।

जो अपने अथवा अन्य के संकट-काल में भी अपने स्नेही का साथ नहीं छोड़ता, वह बंधु है।

—नंदीसूत्र-चूर्णि (१)

खंडसंजुतं खीरं पित्तजरोदयतो ण सम्मं भवइ।

खाँड मिला हुआ मधुर दूध भी पित्त ज्वर में ठीक नहीं रहता है।

—नंदीसूत्र-चूर्णि (७१)

चिंतिज्जइ जेण तं चित्तं।

जिससे चिंतन किया जाता है, वह चित्त है।

—नंदीसूत्र-चूर्णि (२/१३)

विसुद्धभावत्तणतो य सुगंधं।

पवित्र विचार ही जीवन की सुगन्ध है।

—नंदीसूत्र-चूर्णि (२/१३)

नेरइयाणं णो उज्जोए, अंधयारे।

नारकीय जीवों को प्रकाश नहीं है, अंधकार ही रहता है।

—भगवतीसूत्र (५/९)

मुत्तनिरोहेण चक्खु, वच्चनिरोहेण जीवियं चयइ।

अत्यधिक मूत्र के वेग को रोकने से नेत्र नष्ट हो जाते हैं और तीव्र मल-वेग को रोकने से जीवन ही नष्ट हो जाता है।

—ओघनिर्युक्ति (१७९)

वाएण विणा पोओ, न चइए महण्णवं तरिउं।

अच्छे से अच्छा जलयान भी हवा के बिना महासागर को पार नहीं कर सकता है।

—आवश्यक-निर्युक्ति (९५)

बलवाहणत्थहीणो, बुद्धिहीणो न रक्खइ रज्जं।

जो राजा सेना, वाहन, अर्थ एवं बुद्धि से हीन है, वह राज्य की रक्षा नहीं कर सकता है।

—व्यवहारभाष्य (५/१०७)

उवगरणेहि विहूणो, जहवा पुरिसो न साहए कज्जं।

साधनहीन मानव अपने अभीष्ट कार्य को सिद्ध नहीं कर पाता है।

—व्यवहार-भाष्य-पीठिका (१०/५४०)

ण हु वीरियपरिहीणो, पवत्तते णाणमादीसु।

अशक्त व्यक्ति ज्ञानादि की भी सम्यक् साधना नहीं कर सकता है।

—निशीथ-भाष्य (४८)

आसललिअं वराओ, चाएति न गद्दभो काउं।

जिस घड़े के पेंदे में छिद्र हो गया है, उसमें जल आदि तरल पदार्थ कैसे टिक सकते हैं।

—बृहत्कल्पभाष्य (४३६३)

रुहिरकयस्स वत्थस्स रुहिरे णं चेव।
पक्खालिज्जमाणस्स णत्थि सोही॥

रक्त से सना वस्त्र रक्त से धोने से स्वच्छ नहीं होता है, उसके लिए तो शुद्ध जल की आवश्यकता है।

—ज्ञाताधर्म-कथा (१/५)

मइलो पडो रंगिओ न सुन्दरं भवइ।

मलिन कपड़ा रंगने पर भी सुन्दर नहीं होता है।

—दशवैकालिक-चूर्णि (अध्ययन-४)

अजियं जिणाहि, जियं च पालेहि।

अविजित शत्रुओं को जीतो और जीते हुए का पालन करो।

—औपपातिक-सूत्र (५३)

सो अप्पणो परस्स वा आवतीए
वि न परिच्चयति, सो बंधू।

जो अपने अथवा अन्य के संकट-काल में भी अपने स्नेही का साथ नहीं छोड़ता, वह बंधु है।

—नंदीसूत्र-चूर्णि (१)

खंडसंजुतं खीरं पित्तजरोदयतो ण सम्मं भवइ।

खाँड मिला हुआ मधुर दूध भी पित्त ज्वर में ठीक नहीं रहता है।

—नंदीसूत्र-चूर्णि (७१)

चिंतिज्जइ जेण तं चित्तं।

जिससे चिंतन किया जाता है, वह चित्त है।

—नंदीसूत्र-चूर्णि (२/१३)

विसुद्धभावत्तणतो य सुगंधं।

पवित्र विचार ही जीवन की सुगन्ध है।

—नंदीसूत्र-चूर्णि (२/१३)

नेरइयाणं णो उज्जोए, अंधयारे।

नारकीय जीवों को प्रकाश नहीं है, अंधकार ही रहता है।

—भगवतीसूत्र (५/६)

मुत्तनिरोहेण चक्खु, वच्चनिरोहेण जीवियं चयइ।

अत्यधिक मूत्र के वेग को रोकने से नेत्र नष्ट हो जाते हैं और तीव्र मल-वेग को रोकने से जीवन ही नष्ट हो जाता है।

—ओघनिर्युक्ति (१७६)

वाएण विणा पोओ, न चइए महण्णवं तरिउं।

अच्छे से अच्छा जलयान भी हवा के बिना महासागर को पार नहीं कर सकता है।

—आवश्यक-निर्युक्ति (६५)

बलवाहणत्थहीणो, बुद्धिहीणो न रक्खइ रज्जं।

जो राजा सेना, वाहन, अर्थ एवं बुद्धि से हीन है, वह राज्य की रक्षा नहीं कर सकता है।

—व्यवहारभाष्य (५/१०७)

उवगरणेहिं विहूणो, जहवा पुरिसो न साहए कज्जं।

साधनहीन मानव अपने अभीष्ट कार्य को सिद्ध नहीं कर पाता है।

—व्यवहार-भाष्य-पीठिका (१०/५४०)

ण हु वीरियपरिहीणो, पवत्तते णाणमादीसु।

अशक्त व्यक्ति ज्ञानादि की भी सम्यक् साधना नहीं कर सकता है।

—निशीथ-भाष्य (४८)

आसललिअं वराओ, चाएति न गद्दभो काउं।

शिक्षित घोड़े की क्रियाएँ बेचारा गधा कैसे कर सकता है ?

—निशीथ-भाष्य (२६ २८)

सुहसाहगं पि कज्जं, करणविहूणंणुवायसंजुत्तं।
अन्नायऽदेशकाले, विवत्तिमुवजति सेहस्स॥

देश, काल एवं कार्य को बिना समझे समुचित प्रयत्न तथा उपाय से हीन किया जानेवाला कार्य सुख-साध्य होने पर भी सिद्ध नहीं होता है।

—निशीथ-भाष्य (४८०३)

जो जस्स उपाओग्गे, सो तस्स तहिं तु दायव्वो।

जो जिसके योग्य हो, उसे वही देना चाहिये।

— निशीथ-भाष्य (५२६१)

गेलण्णे च बहुतरा संजमविराहणा।

रोग हो जाने पर बहुत अधिक संयम की विराधना होती है।

—निशीथचूर्णि (१७५)

अकहिंतस्स वि जह गहवइणो जगविस्सुदो तेजो।

अपने तेज का बखान न करते हुए भी सूर्य का तेज स्वतः विश्वविश्रुत है।

—भगवती-आराधना (३६१)

वेया अहीया न भवंति ताणं।

पढ़ लेने मात्र से वेद भी त्राण नहीं होते हैं।

—उत्तराध्ययन (१४/१२)

राढामणी वेरुलियप्पगासे, अमहग्घए होइ य जाणएसु।

वैडूर्य की तरह चमकनेवाली तुच्छ राढ़ामणि-काचमणि है, वह जानने वाले परीक्षकों की दृष्टि में मूल्यहीन है।

—उत्तराध्ययन (२०/४२)

अणेगछन्दा इह माणवेहिं।

इस संसार में मनुष्यों की अनेक प्रकार की इच्छाएँ होती है।

—उत्तराध्ययन (२१/१६)

सुहिओ हु जणो सुन बुज्झई।

सुखी व्यक्ति प्रायः शीघ्र नहीं जग पाता है।

—उत्तराध्ययन-चूर्णि (अ० ५८)

दाणं मग्गण-दव्वं, भांडं लंचा-सुभासियं वयणं।
जं सहसा न य गहियं, तं पच्छा दुल्लहं होइ॥

दान, मांगा हुआ द्रव्य, वर्तन, घूस, सुभाषित वचन यदि शीघ्र ग्रहण न किया जाय तो वह पीछे दुर्लभ हो जाता है।

—कामघट-कथानक (१०७)

बुढ़ापा

तिण्हालज्जानासो भयबाहुल्ल विरूवभासित्तं।
पाएण मणुस्साणं दोसा जायन्ति कुड्ढते॥

बुढ़ापे में मनुष्यों के प्रायः तृष्णा, लज्जा का नाश, भय की बहुलता, विपरीत बोलना आदि दोष उत्पन्न हो जाते हैं।

—आख्यानमणिकोश (६२/१३)

ब्रह्मचर्य

पुरिसेण सह गयाए तेसिं जीवाण होइ उद्दवणं।
वेणुमदिट्ठं तेण तत्ताय सलागणाएणं॥

जिस समय पुरुष स्त्री के साथ संयोग करता है, उस समय जैसे अग्नि से तपायी हुई लोहे की सलाई की बांस को नली में डालने से नली में रखे तिल भस्म हो जाते हैं, वैसे ही पुरुष के संयोग से योनि में रहनेवाले सम्पूर्ण जीवों का नाश हो जाता है।

—स्याद्वाद-मंजरी (२३/२७६/१५/५)

अबंभचरियं घोरं, पमायं दुरहिट्ठियं।
नाऽऽयन्ति मुणी लोए, भेयाययणवज्जिणो॥

मूलमेयमहम्मस्स, महादोस समुस्सयं ।
तम्हा मेहुण संसग्गं, निग्गंथा वज्जयन्तिणं ।।

संयमघातक दोषों का त्याग करनेवाले मुनिजन, दुनिया में रहते हुए भी महाभयंकर प्रमादरूप और दुःख का कारण अब्रह्मचर्य का आचरण नहीं करते। मुनि-साधक अब्रह्मचर्य यानि मैथुन-संसर्ग का सर्वथा त्याग करते हैं, क्योंकि यह अधर्म का मूल ही नहीं, अपितु बड़े से बड़े दोषों का भी स्थान है।

—दशवैकालिक (६/१५/१६)

विभूसा इत्थिसंसग्गो, पणीयं रसभोयणं ।
नरस्सऽत्तगवेसिस्स, विसं तालउडं जहा ।।

जो मनुष्य अपना चित्त शुद्ध करने, स्वरूप की शोध करने के लिए तत्पर है, उसके लिए शरीर के शृंगार तालपुट जहर जैसे ही भयंकर हैं, जिसके खाते ही प्राण छूट जाते हैं। स्त्रियों का संसर्ग भी विषवत् है। इतना ही नहीं, स्वादु तथा सरसभोजन आदि का अति सेवन भी विष जैसा ही हानिकारक है।

—दशवैकालिक (८/५७)

जीवो बंभा जीवम्मि चेव चरिया हविज्ज जा जदिणो
तं जाण बंभचेरं ।

आत्मा ही ब्रह्म है और आत्मा में चरण अर्थात् रमण करना ही ब्रह्मचर्य है।

—भगवती-आराधना (८७८)

अवि य वहो जीवाणं मेहुण सेवाए होइ बहुगाणं ।

मैथुन-सेवन करने से मनुष्य अनेक जीवों का वध करता है।

—भगवती-आराधना (६२२)

जो देइ कणय कोडिं, अहवा कारेइ कणयजिण भवणं ।
तस्स न तत्तियं पुन्नं, जत्तिय बंभव्वए धरिए ।।

यदि कोई मनुष्य करोड़ों रुपयों के मूल्य का स्वर्ण याचकों को दान में देता है अथवा स्वर्णमय जिन मंदिर का निर्माण करता है, उसे उतना पुण्य नहीं होता जितना कि ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करने से होता है।

—संबोधसत्तरि (५६)

णो पाणभोयणस्स अतिमत्तं आहारए सया भवई।

ब्रह्मचारी को कभी भी अधिक मात्रा में भोजन नहीं करना चाहिए।

—स्थानांग (६)

सव्वंगं पेच्छंतो, इत्थीणं वा मुयदि दुब्भावं।
सो वम्हचेरभावं, सुक्कदि खलु दुद्धरं धरदि॥

स्त्रियों के सर्वाङ्गों को देखते हुए भी जो इनमें दुर्भाव-विकार नहीं करता, वही वास्तव में दुर्द्धर ब्रह्मचर्य-भाव को धारण करता है।

—वारस अणुवेक्खा (८०)

मण पल्हायजणणी, काम राग विवड्ढणी।
बंभचेररओ भिक्ख, थी कहं तु विवज्जए॥

ब्रह्मचर्य-परायण भिक्षु को स्त्रियों-सम्बन्धी ऐसी बातों का परित्याग ही कर देना चाहिए, जिनसे चित्त में गुदगुदी या आह्लाद उत्पन्न होता हो, विषयों का आनन्द जाग्रत होता हो और कामभोग में आसक्ति बढ़ती हो।

—उत्तराध्ययन (१६/२)

समं च संथवं थीहिं संकहं च अभिक्खणं।
बंभचेररओ भिक्खू, निच्चसो परिवज्जए॥

ब्रह्मचर्य-परायण भिक्षु स्त्रियों के परिचय और उनके साथ बार-बार बात-चीत के प्रसंगों को सदैव टालने का प्रयत्न करे।

—उत्तराध्ययन (१६/३)

अंगपच्चंग संठाणं, चारुल्लविय - पेहियं।
बंभचेररओ थीणं, चक्खु गिज्झं विवज्जए॥

ब्रह्मचर्य-परायण भिक्षु को स्त्रियों के अंग-प्रत्यंगों के आकार, स्त्रियों के प्रेमदर्शक वचनयुक्त हाव-भाव और कटाक्ष—जिनके देखने से विकार पैदा होते हैं—देखने नहीं चाहिए। उस ओर आँख लगाना भी वर्जित कर देना चाहिए।

—उत्तराध्ययन (१६/४)

कूइयं रुइयं गीयं, हासियं थणिय-कन्दियं।
बंभचेररओ थीणं, सोयगेज्झं विवज्जए॥

ब्रह्मचर्य-परायण भिक्षु को स्त्रियो के कूजन (अव्यक्त आवाज), रोदन, गीत, हास्य, चित्कार और करुण-क्रन्दन—जिनके सुनने से विकार उत्पन्न होते हैं, सुनने नहीं चाहिए। उस ओर कान ही नहीं देने चाहिए।

—उत्तराध्ययन (१६/५)

हासं किड्डं रइं दप्पं, सहसाऽवत्तासियाणि य।
बंभचेररओ थीणं, नाणुचिंते कयाइ वि॥

ब्रह्मचर्य-परायण भिक्षु को पूर्वावस्था में अनुभूत स्त्रियों के हास्य, क्रीड़ा, रति, दर्प और उल्लास के लिए की गयी अकस्मात् छेड़छाड़ का अपने मन में कभी विचार तक नहीं लाना चाहिए।

—उत्तराध्ययन (१६/६)

पणीयं भत्तपाणं तु, खिप्पं मय विवड्ढणं।
बंभचेररओ भिक्खू, निच्चसो परिवज्जए॥

ब्रह्मचर्य-परायण भिक्षु को ऐसे प्रणीत भोजन और पान जिनमें चिकनाई के रसदार पदार्थ अत्यधिक हो और शीघ्र उद्दीपक हो, उसे निरंतर त्याग ही करना चाहिए।

—उत्तराध्ययन (१६/७)

धम्मलद्धं मियं काले, जत्तत्थं पणिहाणवं।
नाइमत्तं तु भुंजेज्जा, बंभचेररओ सया॥

ब्रह्मचर्य-परायण साधक को धर्मपूर्वक प्राप्त, परिमित, शास्त्रनिर्दिष्ट उचित समय पर संयम के निर्वाह के लिए ही ऐसा भोजन ग्रहण करना चाहिए, जो संतो द्वारा निर्दिष्ट मर्यादा से न न्यून हों और न अधिक, ऐसे भोजन से ही उसकी ध्यान-समाधि सुरक्षित रह सकेगी।

—उत्तराध्ययन (१६/८)

विभूसं परिवेज्जा, सरीर परिमंडणं।
बंभचेर रओ भिक्खू, सिंगारत्थं न धारए॥

ब्रह्मचर्यरत भिक्षु को शृंगार के लिए शरीर की शोभा और सजावट का कोई भी काम नहीं करना चाहिए।

—उत्तराध्ययन (१६/६)

देवदाणव गन्धव्वा, जक्खरक्खस किन्नरा।
बंभयारिं नमंसन्ति, दुक्करं जे करेन्ति तं॥

दुष्कर ब्रह्मचर्य की साधना के लिए सतत् सावधान तथा मनसा-वाचा-कायेन ब्रह्मचारियों को देव, दानव गंधर्व, यक्ष, राक्षस, किन्नर—सभी नमस्कार करते हैं।

—उत्तराध्ययन (१६/१६)

विरई अबंभ चेरस्स, काम भोग रसन्नुणा।
उग्गं महव्वयं बंभं, धरियव्वं सुदुक्करं॥

जो मनुष्य काम और भोगो के रस को जानता है, उनका अनुभवी है, उसके लिए अब्रह्मचर्य त्यागकर ब्रह्मचर्य का महाव्रत स्वीकार करना अति दुष्कर है।

—उत्तराध्ययन (१६/२८)

जहादवग्गी पउरिंधणे वणे, समारुओ नोवसमं उवेइ
एविन्दियग्गी वि पगामभोइणो, न बंभयारिस्सहियाय कस्सई॥

जैसे बहुत ईंधन वाले जंगल में पवन से उत्तेजित दावाग्नि शान्त नहीं होती, वैसे ही मर्यादा से अधिक भोजन करने वाले किसी भी ब्रह्मचारी की इन्द्रियाग्नि भी शान्त नही होती। अधिक भोजन किसी के लिए भी हितकर नही होता।

—उत्तराध्ययन (३२/११)

न रूवलावण्णा विलास हासं,
न जंपियं इंगिय-पेहियं वा।
इत्थीण चित्तंसि निवेसइत्ता,
दट्ठुं ववस्से समणे तवस्सी॥

आत्म-शोधनार्थ श्रम करनेवाला तपस्वी श्रमण अपने चित्त में स्त्रियों का

कूइयं रुइयं गीयं, हासियं थणिय-कन्दियं।
बंभचेररओ थीणं, सोयगेज्झं विवज्जए॥

ब्रह्मचर्य-परायण भिक्षु को स्त्रियों के कूजन (अव्यक्त आवाज), रोदन, गीत, हास्य, चित्कार और करुण-क्रन्दन—जिनके सुनने से विकार उत्पन्न होते हैं, सुनने नहीं चाहिए। उस ओर कान ही नहीं देने चाहिए।

—उत्तराध्ययन (१६/५)

हासं किड्डं रइं दप्पं, सहसाऽवत्तासियाणि य।
बंभचेररओ थीणं, नाणुचिंते कयाइ वि॥

ब्रह्मचर्य-परायण भिक्षु को पूर्वावस्था में अनुभूत स्त्रियों के हास्य, क्रीड़ा, रति, दर्प और उल्लास के लिए की गयी अकस्मात् छेड़छाड़ का अपने मन में कभी विचार तक नहीं लाना चाहिए।

—उत्तराध्ययन (१६/६)

पणीयं भत्तपाणं तु, खिप्पं मय विवड्ढणं।
बंभचेररओ भिक्खू, निच्चसो परिवज्जए॥

ब्रह्मचर्य-परायण भिक्षु को ऐसे प्रणीत भोजन और पान जिनमें चिकनाई के रसदार पदार्थ अत्यधिक हो और शीघ्र उद्दीपक हो, उसे निरंतर त्याग ही करना चाहिए।

—उत्तराध्ययन (१६/७)

धम्मलद्धं मियं काले, जत्तत्थं पणिहाणवं।
नाइमत्तं तु भुंजेज्जा, बंभचेररओ सया॥

ब्रह्मचर्य-परायण साधक को धर्मपूर्वक प्राप्त, परिमित, शास्त्रनिर्दिष्ट उचित समय पर संयम के निर्वाह के लिए ही ऐसा भोजन ग्रहण करना चाहिए, जो संतो द्वारा निर्दिष्ट मर्यादा से न न्यून हो और न अधिक, ऐसे भोजन से ही उसकी ध्यान-समाधि सुरक्षित रह सकेगी।

—उत्तराध्ययन (१६/८)

विभूसं परिवेज्जा, सरीर परिमंडणं।
बंभचेर रओ भिक्खू, सिंगारत्थं न धारए॥

ब्रह्मचर्यरत भिक्षु को शृंगार के लिए शरीर की शोभा और सजावट का कोई भी काम नहीं करना चाहिए।

—उत्तराध्ययन (१६/९)

देवदाणव गन्धव्वा, जक्खरक्खस किन्नरा।
बंभयारिं नमंसन्ति, दुक्करं जे करेन्ति तं॥

दुष्कर ब्रह्मचर्य की साधना के लिए सतत् सावधान तथा मनसा-वाचा-कायेन ब्रह्मचारियों को देव, दानव गंधर्व, यक्ष, राक्षस, किन्नर—सभी नमस्कार करते हैं।

—उत्तराध्ययन (१६/१६)

विरई अबंभ चेरस्स, काम भोग रसन्नुणा।
उग्गं महव्वयं बंभं, धरियव्वं सुदुक्करं॥

जो मनुष्य काम और भोगों के रस को जानता है, उनका अनुभवी है, उसके लिए अब्रह्मचर्य त्यागकर ब्रह्मचर्य का महाव्रत स्वीकार करना अति दुष्कर है।

—उत्तराध्ययन (१६/२८)

जहादवग्गी पउरिंधणे वणे, समारुओ नोवसमं उवेइ
एविन्दियग्गी वि पगामभोइणो, न बंभयारिस्सहियाय कस्सई॥

जैसे बहुत ईंधन वाले जंगल में पवन से उत्तेजित दावाग्नि शान्त नहीं होती, वैसे ही मर्यादा से अधिक भोजन करने वाले किसी भी ब्रह्मचारी की इन्द्रियाग्नि भी शान्त नहीं होती। अधिक भोजन किसी के लिए भी हितकर नहीं होता।

—उत्तराध्ययन (३२/११)

न रूवलावण्णा विलास हासं,
न जंपियं इंगिय-पेहियं वा।
इत्थीण चित्तंसि निवेसइत्ता,
दट्ठुं ववस्से समणे तवस्सी॥

आत्म-शोधनार्थ श्रम करनेवाला तपस्वी श्रमण अपने चित्त में स्त्रियों का

कूइयं रुइयं गीयं, हासियं थणिय-कन्दियं।
बंभचेररओ थीणं, सोयगेज्झं विवज्जए॥

ब्रह्मचर्य-परायण भिक्षु को स्त्रियों के कूजन (अव्यक्त आवाज), रोदन गीत, हास्य, चित्कार और करुण-क्रन्दन—जिनके सुनने से विकार उत्पन्न होते हैं, सुनने नहीं चाहिए। उस ओर कान ही नहीं देने चाहिए।

—उत्तराध्ययन (१६/५)

हासं किड्डं रइं दप्पं, सहसाऽवत्तासियाणि य।
बंभचेररओ थीणं, नाणुचिंते कयाइ वि॥

ब्रह्मचर्य-परायण भिक्षु को पूर्वावस्था में अनुभूत स्त्रियों के हास्य, क्रीड़ा, रति, दर्प और उल्लास के लिए की गयी अकस्मात् छेड़छाड़ का अपने मन में कभी विचार तक नहीं लाना चाहिए।

—उत्तराध्ययन (१६/६)

पणीयं भत्तपाणं तु, खिप्पं मय विवड्ढणं।
बंभचेररओ भिक्खू, निच्चसो परिवज्जए॥

ब्रह्मचर्य-परायण भिक्षु को ऐसे प्रणीत भोजन और पान जिनमें चिकनाई के रसदार पदार्थ अत्यधिक हों और शीघ्र उद्दीपक हों, उसे निरंतर त्याग ही करना चाहिए।

—उत्तराध्ययन (१६/७)

धम्मलद्धं मियं काले, जत्तत्थं पणिहाणवं।
नाइमत्तं तु भुंजेज्जा, बंभचेररओ सया॥

ब्रह्मचर्य-परायण साधक को धर्मपूर्वक प्राप्त, परिमित, शास्त्रनिर्दिष्ट उचित समय पर संयम के निर्वाह के लिए ही ऐसा भोजन ग्रहण करना चाहिए, जो संतों द्वारा निर्दिष्ट मर्यादा से न न्यून हों और न अधिक, ऐसे भोजन से ही उसकी ध्यान-समाधि सुरक्षित रह सकेगी।

—उत्तराध्ययन (१६/८)

विभूसं परिवेज्जा, सरीर परिमंडणं।
बंभचेर रओ भिक्खू, सिंगारत्थं न धारए॥

ब्रह्मचर्यरत भिक्षु को शृंगार के लिए शरीर की शोभा और सजावट का कोई भी काम नहीं करना चाहिए।

—उत्तराध्ययन (१६/६)

देवदाणव गन्धव्वा, जक्खरक्खस किन्नरा।
बंभयारिं नमंसन्ति, दुक्करं जे करेन्ति तं॥

दुष्कर ब्रह्मचर्य की साधना के लिए सतत् सावधान तथा मनसा-वाचा-कायेन ब्रह्मचारियो को देव, दानव गंधर्व, यक्ष, राक्षस, किन्नर—सभी नमस्कार करते हैं।

—उत्तराध्ययन (१६/१६)

विरई अबंभ चेरस्स, काम भोग रसन्नुणा।
उग्गं महव्वयं बंभं, धरियव्वं सुदुक्करं॥

जो मनुष्य काम और भोगो के रस को जानता है, उनका अनुभवी है, उसके लिए अब्रह्मचर्य त्यागकर ब्रह्मचर्य का महाव्रत स्वीकार करना अति दुष्कर है।

—उत्तराध्ययन (१६/२८)

जहादवग्गी पउरिंधणे वणे, समारुओ नोवसमं उवेइ
एविन्दियग्गी वि पगामभोइणो, न बंभयारिस्सहियाय कस्सई॥

जैसे बहुत ईंधन वाले जंगल में पवन से उत्तेजित दावाग्नि शान्त नहीं होती, वैसे ही मर्यादा से अधिक भोजन करने वाले किसी भी ब्रह्मचारी की इन्द्रियाग्नि भी शान्त नही होती। अधिक भोजन किसी के लिए भी हितकर नही होता।

—उत्तराध्ययन (३२/११)

न रूवलावण्णा विलास हासं,
न जंपियं इंगिय-पेहियं वा।
इत्थीण चित्तंसि निवेसइत्ता,
दट्ठुं ववस्से समणे तवस्सी॥

आत्म-शोधनार्थ श्रम करनेवाला तपस्वी श्रमण अपने चित्त में स्त्रियो का

ध्यान रखकर, उनके रूप, लावण्य, विलास, हास्य, जल्पन, सांकेतिक हावभाव, अंग-चालन अथवा कटाक्ष को देखने का कभी प्रयत्न न करें।

—उत्तराध्ययन (३२/१४)

अद्दंसणं चेवं अपत्थणं च, अचिंतणं चेव अकित्तणं च।
इत्थीजणस्साऽऽरियज्झाणजुग्गं, हियं सया बंभवए रयाणं॥

स्त्रियों की ओर न तो राग-वृत्ति से देखना चाहिए, न उनकी अभिलाषा या उनका विचार करना चाहिए और न उनका कीर्तन ही। ये सर्व ब्रह्मचर्य पालन के लिए तत्पर मानवों के लिए हमेशा हितरूप हैं और आर्य ध्यान साधने की योग्य भूमिका स्वरूप हैं।

—उत्तराध्ययन (३२/१५)

कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं,
सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स।
जं काइयं माणसियं च किंचि,
तस्सन्तगं गच्छइ वीयरागो॥

स्वर्ग में भी जो कुछ शारीरिक एवं मानसिक दुःख हैं तथा इस प्रत्यक्षदृष्ट विश्व में जो भी शारीरिक और मानसिक दुःख हैं, वे सब कामभोगों के लालच से ही उत्पन्न हुए हैं। जो मनुष्य राग-द्वेष से परे है वीतरागी है, वही इन सब दुखों का अन्त कर सकता है।

—उत्तराध्ययन (३२/१९)

मादुसुदाभगिणी विय, दट्ठूणित्थित्तियं य पडिरूवं।
इत्थिकहादिणियत्ती, नि लोयपुज्जं हवे बंभं॥

वृद्धा, बालिका और युवती स्त्री के इन तीन प्रतिरूपों को देखकर, उन्हे माता, पुत्री और बहिनवत् मानना तथा स्त्री कथा से निवृत्त होना ब्रह्मचर्य है। यह ब्रह्मचर्य त्रिलोकपूज्य है।

—मूलाचार (१/१०)

बंभचेरं उत्तमतव-नियमणाण-दंसण-चरित्त-सम्मत्त, विणयमूलं।

ब्रह्मचर्य—उत्तमतप, नियम, ज्ञान, श्रद्धा, चारित्र, सम्यक्त्व और विनय का मूल हैं।

—प्रश्नव्याकरण सूत्र (२/४)

जो मण्णदि पर-महिलं जणणी-बहिणी-सुआइ सारिच्छं।
मण-वयणे कायेण वि बंभवई सो हवे थूलो॥

जो मन-वचन और काया से परायी स्त्री को माता, वहिन और पुत्री के समान समझता है, वह स्थूल ब्रह्मचर्य का धारी है।

—कार्तिकेयानुप्रेक्षा (२३८)

महव्वदे मेहुणाओ वेरमणं।

मैथुनविरमण (ब्रह्मचर्य) महाव्रत है।

—श्रमण-प्रतिक्रमण-सूत्र (१६)

तम्हा उ वज्जए इत्थी, विसलित्तं व कण्टगं नच्चा।

ब्रह्मचारी स्त्री-संसर्ग को विषलिप्त कंटकवत् समझकर उससे दूर रहे।

—सूत्रकृतांग (१/४/१/११)

जउकुंभे जोइउव गूढे, आसुमितत्ते नासमुवयाइ।
ए वित्थियाहि अणगारा संवासेण नासमुवयंति।

जिस प्रकार लाख का घड़ा अग्नि से तप्त होने पर शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार स्त्री-सहवास से साधु या साधक भी शीघ्र नष्ट हो जाता है।

—सूत्रकृतांग (४/१/२७)

सुविसुद्ध-शील-जुत्तो, पावइ कित्तिं जसं च इहलोए।
सव्वजण वल्लहो च्चिय, सुह-गइ-भागी अपरलोए॥

अखण्ड ब्रह्मचारी इस लोक में यश-कीर्ति को प्राप्त करता है और सबका प्रिय होकर परलोक में मोक्ष का भागी होता है।

—कामघट-कथानक (१२६)

ब्राह्मण

रमइ अज्जवयणम्मि, तं वयं बूम माहणं।

आर्यजनों के वचनों में सदा अभिरुचि रखनेवाला ही ब्राह्मण है।

—उत्तराध्ययन (२५/२०)

जाय रूवं जहामट्ठं, निद्धन्तमल-पावगं।
राग-दोस-भयाईयं, तं वयं बूम माहणं॥

अग्नि में तपाये गये और कसौटी पर कसे हुए स्वर्ण की भाँति जो निर्मल, पापशून्य तथा राग-द्वेष एवं भय से रहित है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

—उत्तराध्ययन (२५/२१)

सुव्वयं पत्तानिव्वाणं, तं वयं बूम माहणं।

जो शुद्ध व्रती है और आत्मशांति पा चुका है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

—उत्तराध्ययन (२५/२२)

तसपाणे वियाणेत्ता, संगहेण य थावरे।
जो न हिंसइ तिविहेणं, तं वयं बूम माहणं।

ब्राह्मण वही कहला सकता है, जो स्थावर तथा जंगम सभी प्राणियों को भली-भाँति जानकर, मन, वचन और देह से उनकी हिंसा नहीं करता।

—उत्तराध्ययन (२५/२३)

कोहा वा जइचा हासा, लोहा वा जइ वा भया।
मुसं न वयई जो उ, तं वयं बूम माहणं॥

जो क्रोध से, हास्य से, लोभ या भय से अथवा मलिन संकल्प से कभी असत्य नहीं बोलता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

—उत्तराध्ययन (२५/२४)

जहा पोम्मं जले जायं, नोवलिप्पइ वारिणा॥
एवं अलित्तं कामेहिं, तं वयं बूम माहणं॥

जिस प्रकार कमल जल में से उत्पन्न होकर भी जल से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार जो संसार में रहकर भी काम-भोगों से सर्वथा अलिप्त रहता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

—उत्तराध्ययन (२५/२७)

जो न सज्जइ भोगेसु, तं वयं बूम माहणं।

ब्राह्मण वही है, जो त्यक्त काम-भोगों में पुनः नहीं फँसता।

—उत्तराध्ययन (२५/२६)

भव्यात्मा

छन्नं धम्मं पयडं च, पोरिसं परकलत्तवंचणयं ।
गंजणरहिओ जम्मो, राढ़ाइत्ताण संपडइ ॥

धर्म, गुप्त व प्रकट पराक्रम, परस्त्री-त्याग और निष्कलंक-जन्म—ये भव्यात्माओं को ही प्राप्त होते हैं । —वज्जालग्ग (८/१०)

भाग्य

गुणहिं न संपइ, कित्ति पर फल लिहिआ भुंजन्ति ।
केसरि न लहइ बोड्डिअ वि गय लक्खेहिं घेप्पन्ति ॥

गुणों से केवल कीर्ति मिलती है, सम्पत्ति नहीं । मनुष्य भाग्य में लिखित फलों को भोगते हैं । सिंह गुण-सम्पन्न होने पर भी एक कौड़ी में भी नहीं बिकता जबकि हाथी लाखों में खरीदा जाता है ।

—प्राकृत-व्याकरण (४/३३५)

उअ कणिआरु पफुल्लिअउ कंचणकंतिपयासु ।
गोरीवयण विणिज्जअउ, जं सेवइ वणवासु ॥

खिले हुए कर्णिकार नामक वृक्ष को देखो ! जो स्वर्ण के समान कान्ति से प्रकाशित है तथा गौरी के मुख की आभा को जीतनेवाला है ; आश्चर्य है फिर भी वह वनवास कर रहा है ।

—प्राकृत-व्याकरण (४/३९६)

भाव

निच्चुण्णो तंबोलो, पासेण विणा न होइ जह रंगो ।
तह दाणसीलतवभावणाओ, अहलाओ सव्व भावं विणा ॥

जिस प्रकार चूने कत्थे के विना तांबूल-पान और पास-रहित वस्त्र अच्छी तरह से रंगा नहीं जा सकता, उसी प्रकार भाव-रहित दान, शील, तप, भावना भी निष्फल हैं । —भाव-कुलक (२)

मणि-मंत-ओसहीणं, जंततंताण देवयाणं पि।
भावेण विणा सिद्धी, न हु दीसइ कस्स वि लोए॥

मणि, मन्त्र, औषधि, यन्त्र, तन्त्र और देवता की साधना जगत् में किसी को भी भाव के विना सफल नहीं हो सकती। भाव के योग से ही सभी वस्तुओं की सिद्धि होती है।

—भावकुलकम् (३)

भिक्षु

स एव भिक्खू, जो सुद्धं चरति बंभचेरं।

जो शुद्ध भाव से ब्रह्मचर्य पालन करता है, वही भिक्षु है।

—प्रश्नव्याकरण-सूत्र (२/४)

समदिट्ठि सया अमूढे, अत्थि हु नाणे तवे संजमे य।
तवसा धुणइ पुराणपावगं, मण-वय काय सुसंवुडे जे स भिक्खू॥

जो सम्यग्दर्शी है, कर्तव्य-विमूढ़रहित है, ज्ञान-तप और संयम के प्रति दृढ़ श्रद्धालु है, मन-वचन और देह को पाप-पथ पर जाने से रोकता है तथा तप द्वारा पूर्वकृत पाप-कर्मों को नाश कर देता है, वही भिक्षु है।

—दशवैकालिक (१०/७)

समसुह-दुक्खसहे अ जे स भिक्खू।

भिक्षु वही है, जो सुख-दुःख में समभाव रखता है।

—दशवैकालिक (१०/११)

विइत्तु जाई-मरणं महब्भयं। तवे रए सामणिए जे स भिक्खू।

वह भिक्षु है, जो जन्म-मरण को महाभयंकर जानकर नित्य ही श्रमण के कर्तव्य को दृढ़ करनेवाले तपश्चरण में तत्पर रहता है।

—दशवैकालिक (१०/१४)

अज्झप्परए सुसमाहि अप्पा, सुत्तत्थं च वियाणइ जे स भिक्खू।

जो नित्य अध्यात्म-चिंतन में रत रहता हुआ अपने आपको समाधिस्थ करता है और सूत्रों के अर्थ को पूर्ण रूप से जानता है, वही भिक्षु है।

—दशवैकालिक (१०/१५)

इड्ढिं च सक्कारण-पूयणं च, चए ठियप्पा अणिहे जे स भिक्खू।

जो ऋद्धि-सत्कार, पूजा-प्रतिष्ठा के मोह से रहित है और स्थितात्मा एवं निस्पृह है, वही भिक्षु है।

—दशवैकालिक (१०/१७)

न जाइमत्ते, न य रूवमत्ते न लाभमत्ते न सुएण मत्ते।
मयाणि सव्वाणि विवज्जइत्ता, धम्मज्झाणरए जे स भिक्खू।

जो जाति, रूप, लाभ और पांडित्य के अभिमानों का परित्याग कर केवल धर्म-ध्यान में रत रहता है, वही भिक्षु है।

—दशवैकालिक (१०/१६)

भूख

किं किं न कयं को न पुच्छियो,
कह कह न नामिअं सीसं।
दुब्भरउअरस्स कए किं न,
कयं किं न कायव्वं॥

इस पापी पेट के पूरा करने के लिए क्या-क्या नहीं किया? किसको नहीं पूछा? कहाँ-कहाँ मस्तक नहीं नमाया? ओर क्या नहीं किया? और क्या नहीं करूंगा? अर्थात् सब कुछ किया और करना भी पड़ेगा।

—कामघट-कथानक (५३)

जीवंति खग्गछिन्ना, अहिसुहपडिया वि केवि जीवंति।
जीवंति जलहिपडिआ, खुहाछिन्ना न जीवंति॥

तलवार से काटे गए प्राणी प्रायः जी सकते हैं, सर्प के मुँह में पड़े हुए भी कोई जीते हैं और कोई समुद्र में गिरे हुए प्राणी भी जी जाते हैं मगर भूख रूपी महाशस्त्र से काटे हुए प्राणी कभी जिंदे नहीं रह सकते।

—कामघट-कथानक (५५)

भोगी-अभोगी

अल्लो सुक्को य दो छूढा, गोलया मट्टियामया।
दो वि आवडिआ कूडे, जो अल्लो सो विलग्गइ॥
एवं लग्गंति दुम्मेहा, जे नरा कामलालसा।
विरत्ता उ न लग्गंति, जहा सुक्के अ गोलए॥

जिस प्रकार गीली और सूखी मिट्टी के दो गोले दीवार पर फेंकने पर एक चिपक जाता है तो दूसरा वापस नीचे गिर जाता है, इसी प्रकार जो मनुष्य विषयों की लालसावाले होते हैं, वे गीली मिट्टी के गोलेवत् विषयों में ही लिपट जाते हैं परन्तु सूखी मिट्टी के गोलेवत् अभोगी-विरक्त मनुष्य विषयों में लिपटते नहीं हैं।

—इन्द्रियपराजय-शतक (१९-२०)

विसए अवइक्खंता, पडंति संसारसायरे घोरे।
विसएसु निराविक्खा, तरंति संसारकंतारे॥

विषयों की अपेक्षा रखनेवाले भयंकर संसार-समुद्र में गिरते हैं और विषयों में निरपेक्ष मनुष्य संसार रूपी अटवी को पार कर जाते हैं।

—इन्द्रियपराजयशतक (२८)

उवलेवो होइ भोगेसु, अभोगी नोवलिप्पई।
भोगी भमइ संसारे, अभोगी विप्पमुच्चई॥

भोगों में कर्म का उपलेप होता है। अभोगी कर्मों से लिप्त नहीं होता है। भोगी संसार में भ्रमण करता है। अभोगी उससे विप्रमुक्त हो जाता है।

—उत्तराध्ययन (२५/४१)

मंगल

णमो अरिहंताणं। णमो सिद्धाणं। णमो आयरियाणं।
णमो उवज्झायाणं। णमो लोए सव्वसाहूणं
एसो पंचणमुक्कारो, सव्वपावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं॥

अरिहंतों को नमस्कार। सिद्धों को नमस्कार। आचार्यों को नमस्कार। उपाध्यायों को नमस्कार। विश्व में सर्व साधुओं को नमस्कार। ये पंच नमस्कार सर्व पापों के नाशक हैं तथा सर्व मंगलों में प्रथम मंगल रूप हैं।

—आवश्यक सूत्र (१/२)

अरिहंता मंगलं। सिद्धा मंगलं। साहू मंगलं।
केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं।

अरिहंत (अर्हत्) मंगल हैं। सिद्ध मंगल हैं। साधु मंगल हैं। केवलि-प्रणीत धर्म मंगल है।

—आवश्यक सूत्र (४/१)

सत्थादिमज्झ अवसाणएसु जिणतोत्त मंगलुच्चारो।
णासइ णिस्सेसाइं विग्घाइं रवि व्व तिमिराइं॥

शास्त्र के आदि, मध्य और अंत में किया गया जिन-स्तोत्र रूप मंगल का उच्चारण सम्पूर्ण विघ्नों को उसी प्रकार नष्ट कर देता है, जिस प्रकार सूर्य अंधकार को।

—तिलोयपण्णत्ति (१/३१)

मंगलफलं देहिंतो कय अब्भुदयणिस्सेयससुहा इत्तं।

मंगलादिक से प्राप्त होनेवाले अभ्युदय और मोक्ष सुख के आधीन मंगल का फल है।

—धवला (१/१, १, १/३६/१०)

मंगलमरिहंता-सिद्धा-साहू-सुअं च धम्मो अ।

अरिहंत, सिद्ध, साधु, श्रुत (ज्ञान) और धर्म ये सब सभी के लिए मंगल रूप हैं।

—वंदित्तु सूत्र (४८)

मंगलं हि कीरदे पारद्धकज्ज विग्घयर कम्मविणासणट्ठं।

प्रारम्भ किये हुए कार्य में विघ्नकारक कर्मों के विनाशार्थ मंगल किया जाता है।

—कषाय-पाहुड़ (१/१)

भोगी-अभोगी

अल्लो सुक्को य दो छूढा, गोलया मट्टियामया ।
दो वि आवडिआ कूडे, जो अल्लो सो विलग्गइ ॥
एवं लग्गंति दुम्मेहा, जे नरा कामलालसा ।
विरत्ता उ न लग्गंति, जहा सुक्के अ गोलए ॥

जिस प्रकार गीली और सूखी मिट्टी के दो गोले दीवार पर फेंकने पर एक चिपक जाता है तो दूसरा वापस नीचे गिर जाता है, इसी प्रकार जो मनुष्य विषयों की लालसावाले होते हैं, वे गीली मिट्टी के गोलेवत् विषयों में ही लिपट जाते हैं परन्तु सूखी मिट्टी के गोलेवत् अभोगी-विरक्त मनुष्य विषयों में लिपटते नहीं हैं ।

—इन्द्रियपराजय-शतक (१६-२०)

विसए अवइक्खंता, पडंति संसारसायरे घोरे ।
विसएसु निराविक्खा, तरंति संसारकंतारे ॥

विषयों की अपेक्षा रखनेवाले भयंकर संसार-समुद्र में गिरते हैं और विषयों में निरपेक्ष मनुष्य संसार रूपी अटवी को पार कर जाते हैं ।

—इन्द्रियपराजयशतक (२८)

उवलेवो होइ भोगेसु, अभोग नोवलिप्पई ।
भोगी भमइ संसारे, अभोगी विप्पमुच्चई ॥

भोगों में कर्म का उपलेप होता है । अभोगी कर्मों से लिप्त नहीं होता है । भोगी संसार में भ्रमण करता है । अभोगी उससे विप्रमुक्त हो जाता है ।

—उत्तराध्ययन (२५/४१)

मंगल

णमो अरिहंताणं । णमो सिद्धाणं । णमो आयरियाणं ।
णमो उवज्झायाणं । णमो लोए सव्वसाहूणं
एसो पंचणमुक्कारो, सव्वपावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ॥

अरिहंतों को नमस्कार। सिद्धों को नमस्कार। आचार्यों को नमस्कार। उपाध्यायों को नमस्कार। विश्व में सर्व साधुओं को नमस्कार। ये पंच नमस्कार सर्व पापों के नाशक हैं तथा सर्व मंगलों में प्रथम मंगल रूप हैं।

—आवश्यक सूत्र (१/२)

अरिहंता मंगलं। सिद्धा मंगलं। साहू मंगलं।
केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं।

अरिहंत (अर्हत्) मंगल हैं। सिद्ध मंगल हैं। साधु मंगल हैं। केवलि-प्रणीत धर्म मंगल है।

—आवश्यक सूत्र (४/१)

सत्थादिमज्झ अवसाणएसु जिणतोत्त मंगलुच्चारो।
णासइ णिस्सेसाइं विग्घाइं रवि व्व तिमिराइ॥

शास्त्र के आदि, मध्य और अंत में किया गया जिन-स्तोत्र रूप मंगल का उच्चारण सम्पूर्ण विघ्नों को उसी प्रकार नष्ट कर देता है, जिस प्रकार सूर्य अंधकार को।

—तिलोयपण्णत्ति (१/३१)

मंगलफलं देहिंतो कय अब्भुदयणिस्सेयससुहा इत्तं।

मंगलादिक से प्राप्त होनेवाले अभ्युदय और मोक्ष सुख के आधीन मंगल का फल है।

—धवला (१/१, १, १/३६/१०)

मंगलमरिहंता-सिद्धा-साहू-सुअं च धम्मो अ।

अरिहंत, सिद्ध, साधु, श्रुत (ज्ञान) और धर्म ये सब सभी के लिए मंगल रूप हैं।

—वंदित्तु सूत्र (४८)

मंगलं हि कीरदे पारद्धकज्ज विग्घयर कम्मविणासणट्ठं।

प्रारम्भ किये हुए कार्य में विघ्नकारक कर्मों के विनाशार्थ मंगल किया

—कषाय-पाहुड़ (१/१)

पावाणं जदकरणं, तदेव खलु मंगलं परमं ।

पापकर्म न करना ही वस्तुतः परम मंगल है ।

—बृहत्कल्पभाष्य (८१४)

मन

जह मक्कडओ खणमवि, मज्झत्थो अच्छिउं न सक्केइ ।
तह खणमवि मज्झत्थो, विसएहिं विणा न होइ मणो ॥

जैसे बंदर क्षणभर भी शान्त होकर नहीं बैठ सकता, वैसे ही मन भी संकल्प-विकल्प से क्षणभर के लिए भी शांत नहीं हो सकता ।

—भक्तपरिज्ञा (८४)

मणुस्सहिदयं पुणिणं, गहणं दुव्वियाणकं ।

मनुष्य का मन बड़ा गहरा है, इसे समझ पाना बड़ा कठिन है ।

—इसिभासियाइं (१/८)

मणसलिले थिरभूए, दीसइ अप्पा तहाविमले ।

मन रूपी जल जब स्थिर एवं विमल हो जाता है, तब उसमें आत्मा का दिव्य रूप झलकने लगता है ।

—तत्त्वसार (४१)

मद्यपान

मज्जेव णरो अवसो, कुणेइ कम्माणि णिंदणिज्जाइं ।
इहलोए परलोए, अणुहवइ अणंतयं दुक्खं ॥

मद्यपान से मनुष्य मदहोश होकर निन्दनीय कर्म करता है और फलस्वरूप इस लोक तथा परलोक में अन्ततः दुःखों का अनुभव करता है ।

—वसुनन्दि-श्रावकाचार (७०)

माणुसत्तम्मि आयाओ, जो धम्मं सोच्च सद्दहे।
तवस्सी वीरियं लद्धुं, संवुडे निद्धुणे रयं ॥

यथार्थ में मनुष्य उसे ही समझना चाहिये, जो धर्म वचन सुने, उनमें विश्वास करे और तदनुसार आचरण द्वारा तपस्वी बन संवर[1] का आचरण और अपने ऊपर चिपके हुए पाप-मल को झाड़कर फेंकने का पुरुषार्थ करें।

—उत्तराध्ययन (३/११)

सोही उज्जुयभूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई।
निव्वाणं परमं जाइ, घयसित्ते व्व पावए ॥

सरल मनुष्य शुद्धि प्राप्त कर सकता है। जो मानव शुद्ध है, उसके चित्त में धर्म स्थिर रह सकता है, जैसे जिसमें धर्म है, वह घृत से सिक्त अग्नि की भाँति परम निर्वाण/परम दीप्ति को प्राप्त होता है।

—उत्तराध्ययन (३/१२)

जे पावकम्मेहिं धणं मणुस्सा, समाययन्ति अमयं गहाय।
पहाय ते पासपयट्टिए नरे, वेराणु बद्धा नरयं उवेन्ति ॥

जो मनुष्य पाप-कर्मों द्वारा धन को अमृत के समान समझकर प्राप्त करते हैं, वे राग, द्वेष, तृष्णादि दोषों में फँसते हैं। अन्त में धन तो यहीं रह जाता कमाते है और उन्हें कूच कर जाना पड़ता है। ऐसे मनुष्य समाज में वैर बाँध कर अन्त में नरक गति प्राप्त करते हैं।

—उत्तराध्ययन (४/२)

मण्णंति जदो णिच्चं मणेण णिउणा जदो दु ये जीवो।
मण उक्कडा य जम्हा ते माणुसा भाणिया ॥

वे मनुष्य कहलाते हैं जो मन के द्वारा नित्य ही हेय-उपादेय, तत्त्व-अतत्त्व तथा धर्म-अधर्म का विचार करते हैं, कार्य करने में निपुण हैं और उत्कृष्ट मन के धारक हैं।

—पञ्चसंग्रह (१/६२)

---

१. संवर : आस्रवों को रोकना, अनासक्त आत्मा की शुद्ध प्रवृत्ति।

मनुष्य-जन्म

नो हूवणमन्ति राइओ, नो सुलभं पुणरावि जीवियं ॥

जैसे बीती रात्रियाँ कभी नहीं लौटती, वैसे ही मनुष्य-जीवन पुनः पाना बड़ा कठिन है ।

—सूत्रकृतांग (१/२/१/१०/१)

मणुवगईए वि तओ मणमुगईए महव्वदं सयलं ।
मणुवगदीए झाणं मणुवगदीए वि णिव्वाणं ॥

मनुष्य-गति में ही तप होता है, मनुष्य-गति में ही सब महाव्रत होते हैं, मनुष्य-गति में ही ध्यान होता है और मनुष्य-गति में ही मोक्ष की प्राप्ति है ।

—कार्तिकेयानुप्रेक्षा (२६६)

जीवा सोहिमणुप्पत्ता, आययन्ति मणुस्स यं ।

जब संसार में आत्माएँ किञ्चित् विशुद्ध हो जाती हैं तब मनुष्य-जन्म प्राप्त करती हैं ।

—उत्तराध्ययन (३/७)

माणुसत्तं भवे मूलं, लाभो देवगई भवे ।
मूलच्छेएण जीवाणं, नरग-तिरिक्खत्तणं धुवं ॥

मानव-जीवन मूल-धन है । देवगति उसमें लाभ रूप है । मूल-धन के नाश होने पर नरक, तिर्यञ्च-गति प्राप्ति रूप हानि होती है ।

—उत्तराध्ययन (७/१६)

दुल्लहे खलु माणुसे भवे ।

दीर्घकाल के पश्चात् भी प्राणियों को मनुष्य-जन्म मिलना बड़ा दुर्लभ है ।

—उत्तराध्ययन (१०/४)

मनोभाव (लेश्या)

लेस्सासोधी अज्झ वसाणविसोधीए होइ जीवस्स ।
अज्झवसाणविसोधि, मंदकसायस्स णायव्वा ॥

आत्म-परिणामों में विशुद्धि आने से लेश्या अर्थात् मनोभाव की विशुद्धि होती है और कषायों की मन्दता से परिणाम विशुद्ध होते हैं।

—भगवती-आराधना (१९११)

किण्हा नीला य काऊ, तेऊ पम्हा तहेव य।
सुक्कलेसा य छट्ठा य, नामाइं तु जहक्कमं॥

लेश्याएँ[1] छः हैं—कृष्ण, नील, कापोत, तेज, पद्म और शुक्ल।

—उत्तराध्यय (३४/३)

किण्हा नीला काऊ, तिण्णि वि एयाओ अहम्मलेसाओ।
एयाहि तिहि वि जीवो, दुग्गइं उववज्जई॥

कृष्ण, नील और कपोत—ये तीन अधर्म या अशुभ लेश्याएँ हैं। जिस जीव के चित्त में तर-तम भाव से जितने अंशों में इन तीनों लेश्याओं के अनुसार विचार-धारा चलती है, वे जीव उतने ही अंशों में प्रत्यक्ष, इस जन्म में तो दुर्गति, दुर्दशा, दुःखमय स्थिति प्राप्त करते ही हैं, भवांतर में भी दुर्गति ही पाते हैं।

—उत्तराध्ययन (३४/५६)

तेऊ पम्हा सुक्का, तिन्नि वि एयाओ धम्मलेसाओ।
एयाहि तिहि वि जीवो, सुग्गइं उववज्जई॥

तेज, पद्म और शुक्ल—ये तीनों धर्म या शुभ लेश्याएँ हैं। जिस जीव के मनोभाव में तरतमभाव से जितने अंशों में इन धर्म लेश्याओं के अनुसार विचार धारा होती हैं, वह जीव उतने ही अंशों में वर्तमान में तो निश्चय ही सद्गति, सद्दशा पाता हैं। जन्मान्तर में भी उसे सद्गति ही प्राप्त होती हैं।

—उत्तराध्ययन (३४/५७)

जोगपउत्ती लेस्सा, कसाय उदयाणुरंजिया होई।

कषाय के उदय से अनुरंजित मन-वाणी-देह की योग-प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं।

—गोम्मटसार-जीवकाण्ड (४९०)

१—लेश्या : मनोभाव, चित्त की वृत्ति, आत्मा का परिणाम, अध्यवसाय।

चंडो ण मुंचइ वेरं, भंडणसीलो य धम्मदयरहिओ।
दुट्ठो ण य एदि वसं, लक्खण मेयं तु किण्हस्स॥

स्वभाव की प्रचण्डता, वैर की मजबूत गाँठ, झगड़ालू वृत्ति, धर्म और दया से शून्यता, दुष्टता, समझाने से भी नहीं मानना—ये कृष्ण-लेश्या के लक्षण हैं।

—गोम्मटसार-जीवकाण्ड (५०९)

मंदो बुद्धि विहीणो, णिव्विणाणी या विसय लोलो य।
लक्खणमेयं भणियं, समासदो णीललेस्सस्स॥

मन्दता, बुद्धिहीनता, अज्ञान और विषय-लोलुपता—ये संक्षेप में नीललेश्या के लक्षण हैं।

—गोम्मटसार जीवकाण्ड (५११)

रूसइ णिंदइ अन्ने, दूसइ बहुसो य सोयमय बहुलो।
ण गणइ कज्जाकज्जं, लक्खणमेयं तु काउस्स॥

शीघ्र रुष्ट हो जाना, दूसरों की निन्दा-आलोचना करना, दोष लगाना, अतिशोकाकुल होना, अत्यधिक भयभीत होना—ये कापोतलेश्या के लक्षण हैं।

—गोम्मटसार जीवकाण्ड (५१३)

जाणइ कज्जाकज्जं, सेयमसेयं च सव्वसमपासी,
दयदाणरदोय य मिदू, लक्खणमेयं तु तेउस्स॥

कार्य-अकार्य का ज्ञान, श्रेय-अश्रेय का विवेक, सभी के प्रति समभाव, दया-दान में प्रवृत्ति—ये पीत या तेजो लेश्या की विशेषतायें हैं।

—गोम्मटसार-जीवकाण्ड (५१५)

चामी भद्दो चोक्खो, अज्जवकम्मो य खमदि बहुगं पि।
साहुगुरुपूजणरदो, लक्खणमेयं तु पम्मस्स॥

त्यागशीलता, परिणामो में भद्रता, व्यवहार में प्रामाणिकता, कार्य में ऋजुता, अपराधियों के प्रति क्षमाशीलता, साधु-गुरुजनों की पूजा-सेवा में तत्परता—ये सब पद्मलेश्या के लक्षण हैं।

—गोम्मटसार-जीवकाण्ड (५१६)

ण य कुणइ पक्खवायं, ण वि य णिदाणं समो य सव्वेसिं।
णत्थि य रागद्दोसा,, णेहो वि य सुक्कलेस्सस्स॥

पक्षपात-रहित होना, भोगों की आकांक्षा न करना, सबमें समदर्शी रहना और राग-द्वेष तथा प्रणय से दूर रहना ही शुक्ललेश्या के भाव हैं।

—गोम्मटसार-जीवकाण्ड (५१७)

मनोविजय

णिग्गहिए मणपसरे, अप्पा परमप्पा हवइ।

मन के विकल्पों पर प्रतिबन्ध लगाने पर आत्मा, परमात्मा बन जाता है।

—आराधना-सार (२०)

मणणवइए मरणे, मरंति सेणाइं इंदियमयाइं।

मन रूपी राजा की मृत्यु होने पर इन्द्रियाँ रूपी सेना तो स्वयं ही मर जाती है। —आराधना-सार (६०)

सुण्णीकयम्मि चित्ते, णूणं अप्पा पयासेइ।

मन को विषयों से खाली कर देने पर उसमें आत्मा का आलोक झलकने लगता है।

—आराधना-सार (७४)

मणं परिजाणइ से निग्गंथे।

जो स्वयं मन को भलीभांति परखना जानता है, वही सच्चा निर्ग्रन्थ साधक है। —आचाराङ्ग (२/३/१५/१)

मनस्वी

तुंगो च्चिय होइ मणो मणंसिणो अंतिमासु वि दसासु।
अत्थंतस्स वि रइणो किरणा उद्धं च्चिय फुरंति॥

मनस्वियों का मन अन्तिम दशा में भी उन्नत ही रहता है। अस्त होते समय भी सूर्य की किरणें ही चमकती हैं। —वज्जालग्ग (६/१२)

दुक्खपरीकेसकरं, छिंद ममत्तं सरीराओ ॥

शरीर के प्रति होने वाले दुःखद व क्लेशकर ममत्व का छेदन करो।

—मरण समाधि (४०२)

मांसाहार

मांसासणेण वड्ढइ, दप्पो दप्पेण मज्जमहिलसइ।
जूयं पि रमइ तो तं, पि वण्णिवए पाउणइ दोसे ॥

मांसाहार से दर्प बढ़ता है। दर्प से मानव में मद्यपान की अभिलाषा पैदा होती है और तब वह जुआ भी खेलता है। इस प्रकार एक मांसाहार से ही मानव उक्त वर्णित सर्व दोषों को प्राप्त कर लेता है।

—वसुनन्दि-श्रावकाचार (८६)

ण पउंजए मंसं।

मांस का सेवन कदापि नहीं करना चाहिये।

—वसुनन्दि-श्रावकाचार (८७)

माया

मायी विउव्वइ नो अमायी विउव्वइ।

जिसके अन्तर में माया का अंश है, वही नाना रूपों का प्रदर्शन करता है, अमायी नहीं करता।

—भगवती-सूत्र (१३/६)

सच्चाण सहस्साण वि, माया एक्कावि णासेदि।

एक माया—हजारों सत्यों को नष्ट कर डालती है।

—भगवती-आराधना (१/३/८/४)

जइ विय णिगणे किसे चरे, जइ विय भुंजिय मासमंतसो।
जे इह मायाई मिज्जइ, आगंता गब्भायणंतसो॥

साधना के क्षेत्र में जो प्रगतिशील साधक वस्तुमात्र का परित्याग कर नग्न रहता है, वर्षों तक तपस्या करके जिसने शरीर का रक्त-मांस सुखा दिया है, महीनो तक निराहार रहकर जिसने देह को कृश बना डाला है, इतनी साधना के बावजूद जिसने माया की गांठ नहीं तोड़ी तो उसे अनन्त बार गर्भ में आना होगा, जन्म-मरण करना होगा।

—सूत्रकृताङ्ग (१/२/१/६)

जाणिज्जइ चिन्तिज्जइ, जम्मजरामरणसंभवं दुक्खं।
न य विसएसुविरज्जई, अहो सुबद्धो कवडगंठी॥

जीव जन्म और मरण से होनेवाले दुःख को जानता है, उसका विचार भी करता है, किन्तु विषयो से विरक्त नहीं हो पाता। अहो! माया की गाँठ कितनी सुदृढ़ होती है!

—उपदेश-माला (२०४)

मित्र

तं मित्तं कायव्वं जं किर वसणम्मि देसकालम्मि।
आलिहियमित्तिबाउल्लयं व न परं मुहं ठाइ॥

मित्र उसे बनाना चाहिये जो भित्ति-चित्रवत् किसी भी सङ्कट और देश-काल में कभी विमुख न हो।

—वज्जालग्ग (६/४)

तं मित्तं कायव्वं जं मित्तं कालकंबलीसरिसं।
उयएण धोयमाणं सहावरंगं न मेल्लेइ॥

उसे ही मित्र बनाना उपयुक्त है जो काले कम्बल के समान जल से धोये जाने पर भी सहजरङ्ग को नहीं छोड़ता, उसका साथ नहीं छोड़ता है।

—वज्जालग्ग (६/५)

सगुणाण निग्गुणाण य गरुया पालंति जं जि पडिवन्नं।
पेच्छह वसहेण समं हरेण वोलाविओ अप्पा॥

महापुरुष सगुणों और निर्गुणों में जिसका जो कार्य स्वीकार कर लेते हैं; उसकी रक्षा करते हैं। देखो, शिव ने बैल के साथ अपना सारा जीवन व्यतीत कर दिया।

—वज्जालग्ग (६/६)

तद्दियहारंभवियावडाण मित्तेक्ककज्जरसियाणं।
रविरहतुरयाण व सुपुरिसाण न हु हिययवीसामो॥

सूर्य के रथ के घोड़ों के समान सत्पुरुषों को हार्दिक विश्राम नहीं ही मिलता है। सूर्य के रथ के घोड़े उस दिन का आरम्भ करने में संलग्न रहते हैं और सत्पुरुष उसी दिन आरम्भ किए हुए कार्य में व्यापृत रहते हैं। सूर्य के रथ के घोड़ों को एक मात्र सूर्य के काम में ही आनन्द मिलता है तो सत्पुरुषों को मित्र के एक मात्र कार्य को पूर्ण करने में ही आह्लाद मिलता है।

—वज्जालग्ग (१०/१३)

मिथ्यात्व (अविद्या)

रुंधियछिद्दसहस्से, जलजाणे जह जलं तु णासवदि।
मिच्छत्ताइअभावे, तह जीवे संवरो होइ॥

जिस प्रकार जलयान के हजारों छिद्रों को बन्द कर देने पर उसमें पानी नहीं आ सकता, उसी प्रकार मिथ्यात्व आदि के दूर हो जाने पर जीव में संवर हो जाता है। नवीन कर्मों का आगमन रुक जाता है।

—नयचक्र (१५५)

मिच्छत्तं वेदंतो जीवो, विवरीय दंसणो होइ।
ण य धम्मं रोचेदि हु, महुरं पि रसं जहा जरिदो॥

जो जीव मिथ्यात्व से ग्रस्त है, उसकी दृष्टि विपरीत हो जाती है। उसे धर्म भी रुचिकर नहीं लगता, जैसे ज्वरग्रस्त मनुष्य को मीठा रस भी अच्छा नहीं लगता।

—पञ्चसंग्रह (१/६)

तं मिच्छत्तं जमसद्दहणं, तच्चाण होदि अत्थाणं।

तत्त्वार्थ के प्रति श्रद्धा का अभाव ही मिथ्यात्व है।

—पञ्चसंग्रह (१/७)

जो जहवायं न कुणई, मिच्छादिट्ठी तओ हु को अन्ना।
वड्ढइ य मिच्छत्तं, परस्स संकं जणेमाणो॥

जो तत्त्व-विचार के अनुसार नहीं चलता, उससे बड़ा मिथ्यादृष्टि कौन हो सकता है? वह दूसरों को शंकावान् बनाकर अपने मिथ्यात्व को समृद्ध करता है।

—उत्तराध्ययन (३७/१३)

मिच्छत्तपरिणदप्पा, तिव्वकसाएण सुट्ठु आविट्ठो।
जीवं देहं एक्कं मण्णंतो।

मिथ्यादृष्टि जीव तीव्र कषाय से पूर्णरूपेण आविष्ट होकर आत्मा और शरीर को एक मानता है।

—कार्तिकेयानुप्रेक्षा (१९३)

हा! जह मोहियमइणा, सुग्गइमग्गं अजाणमाणेणं।
भीमे भवकंतारे, सुचिरं भमियं भयकरम्मि॥

हा! दुःख है कि सुगति का मार्ग न जानने के कारण मैं मूढ़मति भयानक और घोर भव-वन में चिरकाल तक परिभ्रमण करता रहा।

—मरणसमाधि (५९०)

जे वि अहिंसादिगुणा मरणे मिच्छत्तकडुगिदा होंति।
ते तस्स कडुगदोद्धियगदं च दुद्धं हवे अफला॥

यद्यपि अहिंसा आदि आत्मा के गुण हैं, परन्तु मरण-समय ये मिथ्यात्व (अविद्या) से युक्त हो जायें तो कड़वी तुम्बी में रखे हुए दूध के समान व्यर्थ होते हैं।

—भगवती आराधना (५७)

तह मिच्छत्तकडुगिदे जीवे तव णाण चरण विरियाणि।
णासंति वंतमिच्छत्तम्मि य सफलाणि जायंति॥

मिथ्यात्व के कारण विपरीत श्रद्धानी बने हुए इस जीव में तप, ज्ञान, चारित्र और वीर्य—ये गुण नष्ट होते हैं और मिथ्यात्वरहित तप आदि मुक्ति के उपाय हैं।

—भगवती-आराधना (७३४)

विद्यार्जन

सच्चं सया महादिट्ठी,
पयं पुणो वि सिक्खिसु
मुद्धे अत्थक्कविन्नाणं ॥

वाणी की सत्यता और निर्मल दृष्टि—ये कलाएँ अवसर न रहने पर भी पुनः सीखो।

—वज्जालग्ग (५५६/१)

विनय

जत्थेव धम्मायरियं पासेज्जा,
तत्थेव वंदिज्जा नमंसिज्जा।

धर्माचार्य का जहाँ कहीं पर दर्शन करें, वहीं पर उन्हें वन्दना और नमस्कार करना चाहिए।

—राजप्रश्नीय (४/७६)

विणओ मोक्खद्दारं विणयादो संजमो तवो णाणं।
णिगएणा राहिज्जइ आयरिओ सव्व संघो य ॥

विनय मोक्ष का द्वार है, विनय से संयम, तप और ज्ञान होता है और विनय से आचार्य तथा सर्व संघ की सेवा होती है।

—भगवती-आराधना (१२६)

रायणिएसु विणयं पउंजे।

बड़ों के साथ विनयपूर्ण व्यवहार करना चाहिए।

—दशवैकालिक (८/४१)

एवं धम्मस्स विणओ, मूलं परमो से मोक्खो।
जेण किन्ति सुयं सिग्घं, निस्सेसं चाभिगच्छइ॥

धर्म-वृक्ष का मूल है 'विनय' और उसका परम-अंतिम फल है मोक्ष। सचमुच विनय के द्वारा ही मनुष्य कीर्त्ति, विद्या, प्रशंसा और समस्त इष्ट तत्त्वों को प्राप्त करता है।

—दशवैकालिक (६/२/२)

आयारमट्ठा विणयं पउंजे।

आचार की प्राप्ति के लिए विनय का प्रयोग करना चाहिए।

—दशवैकालिक (६/३/२)

जस्सन्तिए धम्मपयाइं सिक्खे, तस्सन्तिए वेणइयं पउंजे।

जिससे धर्म पद का शिक्षण मिला है, उसके साथ विनयपूर्वक आचरण करना चाहिए।

—दशवैकालिक (६/१/१२)

विणओ मोक्खद्दारं, विणयादो संजमो तवो णाणं।

विनय मोक्ष का द्वार हैं। विनय से संयम, तप तथा ज्ञान प्राप्त होता है।

—मूलाचार (७/१०६)

दंसणणाणे विणओ, चारित्त तव ओवचारिओ विणओ।
पंचविहो खलु विणओ, पंचम गइणायगो भणिओ॥

विनय पाँच प्रकार का होता है—दर्शन-विनय, ज्ञान-विनय, चारित्र-विनय, तप-विनय और उपचार-विनय।

—मूलाचार (५/१८७)

अप्पसुदो वि य पुरिसो, खवेदि कम्माणि विणएण।

अल्पशास्त्र का अभ्यासी पुरुष भी विनय के द्वारा कर्मों का नाश करता है।

—मूलाचार (७/१०८)

हिय-मिय-अफरुसवाई, अणुवीइ भासि वाइओ विणओ।

हित, मित, नम्र और विचारपूर्वक बोलना वचन का विनय है।

—दशवैकालिक-निर्युक्ति (३२२)

कुल रूवजादि बुद्धिसु, तव-सुदसीलेसु गारवं किंचि।
जो णवि कुव्वदि समणो, मद्दवधम्मं हवे तस्स॥

जो श्रमण कुल, रूप, जाति, ज्ञान, तप, श्रुत और शील का तनिक भी गर्व नहीं करता, उसके मार्दव-धर्म होता है।

—बारह अणुवेक्खा (७२)

जह दूओ रायाणं, णमिउं कज्जं निवेइउं पच्छा।
वीसज्जिओ वि वंदिय, गच्छइ साहूवि एमेव॥

जैसे दूत राजा के समक्ष निवेदन करने से पहले भी और पीछे भी नमस्कार करता है, वैसे ही शिष्य को भी गुरुजनों के समक्ष जाते और आते समय नमस्कार करना चाहिये।

—आवश्यक-निर्युक्ति (१२३४)

धम्मस्समूलं विणयं वदंति, धम्मोय मूलं खलु सोग्गईए।

धर्म का मूल है 'विनय' और धर्म का मूल है—'सद्गति'।

—बृहत्कल्पभाष्य (४४४१)

विणएण ससंकुज्जलज सोहधवलियदियंत ओपुरिसो।
सव्वत्थ हवइ सुहओ तहेव आदिज्ज वयणो य॥

विनय से मनुष्य चन्द्रमा के समान उज्ज्वल यश-समूह से दिगन्त को धवलित करता है, सर्वत्र सभी का प्रिय हो जाता है तथा उसके वचन सर्वत्र आदरणीय होते हैं।

—वसुनन्दि-श्रावकाचार (३३२)

विणओ सासणे मूलं, विणीओ संजमो भवे।
विणयाओ विप्पमुक्कस्स, कओ धम्मो कओ तवो?

विनय जिनशासन का मूलाधार है, विनयसम्पन्न व्यक्ति ही संयमी हो सकता है। जो विनय से हीन है, उसका क्या धर्म और क्या तप?

—विशेषावश्यक-भाष्य (३४६८)

विणए ठविज्ज अप्पाणं, इच्छंतो हियमप्पणो।

आत्मा का कल्याण चाहनेवाला साधक स्वयं को विनय में स्थिर करें।

—उत्तराध्ययन (१/५)

अब्भुट्ठाणं व अंजलिकरणं, तहेवासणदायणं।
गुरु भत्तिभाव सुस्सूसा, विणओ एस वियाहिओ।

गुरु तथा वृद्धजनों के समक्ष आने पर खड़े होना, हाथ जोड़ना, उन्हें उच्च आसन देना, गुरुजनों की भावपूर्वक भक्ति तथा सेवा करना विनय है।

— उत्तराध्ययन (३०/३२)

विणयमूले धम्मे पण्णत्ते।

विनय धर्म का मूल कहा गया है।

—ज्ञाताधर्म-कथा (१/५)

बालुत्ति महीपालो णपया।

बालक राजा का भी प्रजा तिरस्कार नहीं करती है।

—सार्थपोसह सज्झाय-सूत्र (८)

जं आणवेइ राया पयइओ, तं सिरेण इच्छंति।
इय गुरुजण मुह भणियं, कयंजली उडेहिं सोयव्वं॥

राजा की आज्ञा को अनुचर-लोग बड़े श्रम से पूर्ण करने की इच्छा करते हैं, ठीक उसी तरह गुरुजनों के मुख से कही हुई बातों को दोनों हाथ जोड़कर सुनना चाहिये।

—सार्थपोसह सज्झाय-सूत्र (६)

दिण दिक्खियस्स दमगस्स, अभिमुहा अज्जचंदणा अज्ज।
णेच्छइ आसण गहणं, सो विणओ सव्व अज्जाणं॥

केवल एक दिन का दीक्षित साधु आर्या चन्दनबाला के सामने आया। पर जब तक वह खड़ा रहा, तब तक चन्दनबाला अपने आसन पर नहीं बैठी। यही विनय सभी साध्वियों का आदर्श है।

—सार्थपोसह सज्झायसूत्र (१२)

वरससय दिक्खियाए, अज्जाए अज्ज दिक्खिओ साहू।
अभिगमण वंदण णमं-सणेण विणएण सो पुज्जो॥

सौ वर्ष की दीक्षित साध्वी आज के दीक्षित साधु की अगवानी करे, वन्दन करे, नमस्कार करे, विनय के साथ आसन दे और यह समझे कि यह पूज्य है।

—सार्थपोसहसज्झाय सूत्र (१४)

साली भरेण तोएण, जलहरा फलभरेण तरु सिहरा।
विणएण य सप्पुरिसा, नमन्ति न हु कस्स वि भएण॥

गुच्छों के भार से धान्य के पौधे, पानी से मेघ, फलों के भार से वृक्षों के शिखर और विनय से सज्जन पुरुष झुक जाते हैं, किन्तु किसी के भय से नहीं झुकते हैं।

—साहसी अगड़दत्तो (७६)

विणएण विप्पहूणस्स हवदि सिक्खा णिरत्थिया सव्वा।
विणओ सिक्खाएफलं विणयफलं सव्वकल्लाणं॥

विनय से रहित व्यक्ति की सारी शिक्षा निरर्थक हो जाती है। विनय शिक्षा का फल है और विनय का फल सबका कल्याण है।

—जीवण ववहारो (१६/५५)

विणएण णरो, गंधेण चंदणं सोमयाइ रयणियरो।
महुररसेण अमयं, जणपियत्तं लहइ भुवणे॥

जैसे सुगन्ध के कारण चंदन, सौम्यता के कारण चन्द्रमा और मधुरता के कारण अमृत जगप्रिय हैं ऐसे ही विनय के कारण व्यक्ति लोगों में प्रिय बन जाता है।

—धर्मरत्नप्रकरण (१ अधिकार)

विनय-अविनय

विणयाहीया विज्जा, देंति फलं इह परे य लोगम्मि।
न फलंति विणयहीणा, सस्साणि व तोय हीणाइं॥

विनयपूर्वक प्राप्त की गयी विद्या इस लोक तथा परलोक में फलदायिनी होती है और विनय हीन विद्या फलप्रद नहीं होती, जैसे विना जल के धान्य नहीं उपजता।

—बृहत्कल्पभाष्य (५२०३)

विवत्ती अविणीयस्स, संपत्ती विणीयस्स य॥

अविनयी विपत्ति (दुःख) में गिरता है, जब कि विनयी सम्पत्ति (सुख) प्राप्त करता है।

—दशवैकालिक (९/२/२१)

विनीत

मोहो विण्णाण विवच्चासो।

विनीत की विद्याएँ सर्वत्र सफल होती हैं।

—निशीथचूर्णि (२६)

सत्तू वि मित्त भावं, जम्हा उवयाइ विणय सीलस्स।

शत्रु भी विनयशील व्यक्ति का मित्र बन जाता है।

—वसुनन्दि-श्रावकाचार (३३६)

आणानिद्देसकरे, गुरुणमुववायकारए।
इंगियागार संपन्ने, से विणीए त्ति वुच्चइ॥

जो गुरुजनों की आज्ञा का यथोचित पालन करता है, उनके निकट सम्पर्क में रहता है एवं उनके हर संकेत तथा चेष्टा के प्रति सजग रहता है—वह विनीत कहलाता है।

—उत्तराध्ययन (१/२)

तहेव सुविणीयप्पा, लोगंसि नरनारिओ।
दीसंति सुह मोहंता, इड्ढि पत्ता महायसा॥

लोक में जो पुरुष या स्त्री सुविनीत होते हैं, वे ऋद्धि और महान् यश को पाकर सुख का अनुभव करते हुए देखे जाते हैं।

—दशवैकालिक (९/२/९)

वरससय दिक्खियाए, अज्जाए अज्ज दिक्खिओ साहू।
अभिगमण वंदण णमं-सणेण विणएण सो पुज्जो॥

सौ वर्ष की दीक्षित साध्वी आज के दीक्षित साधु की अगवानी करे, वन्दन करे, नमस्कार करे, विनय के साथ आसन दे और यह समझे कि यह पूज्य है।

—सार्थपोसहसज्झाय सूत्र (१४)

साली भरेण तोएण, जलहरा फलभरेण तरु सिहरा।
विणएण य सप्पुरिसा, नमन्ति न हु कस्स वि भएण॥

गुच्छों के भार से धान्य के पौधे, पानी से मेघ, फलों के भार से वृक्षों के शिखर और विनय से सज्जन पुरुष झुक जाते हैं, किन्तु किसी के भय से नहीं झुकते हैं।

—साहसी अगड़दत्तो (७६)

विणएण विप्पहूणस्स हवदि सिक्खा णिरत्थिया सव्वा।
विणओ सिक्खाएफलं विणयफलं सव्वकल्लाणं॥

विनय से रहित व्यक्ति की सारी शिक्षा निरर्थक हो जाती है। विनय शिक्षा का फल है और विनय का फल सबका कल्याण है।

—जीवण ववहारो (१६/५५)

विणएण णरो, गंधेण चंदणं सोमयाइ रयणियरो।
महुररसेण अमयं, जणपियत्तं लहइ भुवणे॥

जैसे सुगन्ध के कारण चंदन, सौम्यता के कारण चन्द्रमा और मधुरता के कारण अमृत जगत्प्रिय हैं ऐसे ही विनय के कारण व्यक्ति लोगों में प्रिय बन जाता है।

—धर्मरत्नप्रकरण (१ अधिकार)

विनय-अविनय

विणयाहीया विज्जा, देंति फलं इह परे य लोगम्मि।
न फलंति विणयहीणा, सस्साणि व तोय हीणाइं॥

विनयपूर्वक प्राप्त की गयी विद्या इस लोक तथा परलोक में फलदायिनी होती है और विनय हीन विद्या फलप्रद नहीं होती, जैसे बिना जल के धान्य नहीं उपजता।

—बृहत्कल्पभाष्य (५२०३)

विवत्ती अविणीयस्स, संपत्ती विणीयस्स य ॥

अविनयी विपत्ति (दुःख) में गिरता है, जब कि विनयी सम्पत्ति (सुख) प्राप्त करता है।

—दशवैकालिक (६/२/२१)

विनीत

मोहो विण्णाण विब्भासो।

विनीत की विद्याएँ सर्वत्र सफल होती हैं।

—निशीथचूर्णि (२६)

सत्तू वि मित्त भावं, जम्हा उवयाइ विणय सीलस्स।

शत्रु भी विनयशील व्यक्ति का मित्र बन जाता है।

—वसुनन्दि-श्रावकाचार (३३६)

आणानिद्देसकरे, गुरुणमुववायकारए।
इंगियागार संपन्ने, से विणीए त्ति वुच्चइ ॥

जो गुरुजनों की आज्ञा का यथोचित पालन करता है, उनके निकट सम्पर्क में रहता है एवं उनके हर संकेत तथा चेष्टा के प्रति सजग रहता है—वह विनीत कहलाता है।

—उत्तराध्ययन (१/२)

तहेव सुविणीयप्पा, लोगंसि नरनारिओ।
दीसंति सुह मोहंता, इड्ढि पत्ता महायसा ॥

लोक में जो पुरुष या स्त्री सुविनीत होते हैं, वे ऋद्धि और महान् यश को पाकर सुख का अनुभव करते हुए देखे जाते हैं।

—दशवैकालिक (९/२/६)

विपर्यास

जो ण पमाणणयेहिं, णिक्खेवेणं णिरिक्खदे अत्थं ।
तस्साजुत्तं जुत्तं, जुत्तमजुत्तं च पडिहादि ॥

जो प्रमाण, नय और निक्षेप के द्वारा अर्थ का बोध नहीं कराता, उसे अयुक्त युक्त और युक्त अयुक्त प्रतीत होता है ।

—तिलोयपण्णति (१/८२)

जो जेण पगारेणं, भावो णियओ तमन्नहा जो तु ।
मन्नति करेति वदति व, विप्परियासो भवे एसो ॥

जो भाव जिस प्रकार से नियत है, उसे अन्य रूप से मानना, कहना या करना विपर्यास या विपरीत बुद्धि है ।

—उत्तराध्ययन (३७/१२)

वियोग

जइ देव मह पसन्नो मा जम्मं देहि माणुसे लोए ।
अह जम्मं मा पेम्मं, अह पेम्मं मा विओयं च ॥

यदि देव मुझ पर प्रसन्न है, तो मनुष्य-लोक में जन्म न दें, यदि जन्म दें, तो प्रेम न हो और यदि प्रेम हो, तो वियोग न हो ।

—वज्जालग्ग (३६/३)

विरक्त

भावे विरत्तो मणुओ विसोगो, एएण दुक्खोपरंपरेण ।
ण लिप्पई भवमज्झे वि संतो, जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ॥

जो व्यक्ति भाव से विरक्त है और दुःखों की परम्परा के द्वारा जिसके चित्त में मोह व शोक उत्पन्न नहीं होता है, वह इस संसार में रहते हुए भी, उसी प्रकार अलिप्त रहता है, जिस प्रकार जल के मध्य कमलिनी का पत्ता ।

—उत्तराध्ययन (३२/९९)

संसारदेह-भोगेसु विरत्तभावो य वैराग्गं।

संसार, देह, भोगों से विरक्त होना वैराग्य है।

—द्रव्य-संग्रह (३५)

विराग रूवेहिं गच्छिज्जा, महया खुड्डए हि य।

महान् हों या क्षुद्र हों, अच्छे हों या बुरे हों, सभी विषयों से साधक को विरक्त रहना चाहिये।

—आचारांग (१/३/३)

जेण विरागो जायइ, तं तं सव्वायरेण करणिज्जं।
मुच्चइ हु ससंवेगी, अणंतवो होइ असंवेगी॥

जिससे विराग उत्पन्न होता है, उसका आदरपूर्वक आचरण करना चाहिये। विरक्त व्यक्ति संसार के बन्धन से छूट जाता है और आसक्त व्यक्ति का संसार अनन्त होता जाता है।

—मरण-समाधि (२६६)

विवेक

हरइ अणू वि पर-गुणो गुरुअम्मि वि णिअ-गुणे ण संतोसो।
सीलस्स विवेअस्स अ सारमिणं एत्तिअं चेअ।

दूसरे का छोटा गुण भी महान् व्यक्ति को प्रसन्न करता है, किन्तु उसे अपने बड़े गुण में भी संतोष नहीं होता है। शील और विवेक का यह इतना ही सार है।

—गउडवहो (७६)

वीतराग

अणुक्कसे अप्पलीणे, मुज्झेण मुणि जावए।

अहंकार-रहित एवं अनासक्त-भाव से मुनि को राग-द्वेष के प्रसंगों में ठीक बीच से तटस्थ यात्रा करनी चाहिये।

—सूत्रकृतांग (१/१/४/२)

जो ण वि वट्टइ रागे, ण वि दोसे दोण्ह मज्झयारंमि।
सो होइ उ मज्झत्थो, सेसा सव्वे अमज्झत्था ॥

जो न राग करता है, न द्वेष करता है, वही वस्तुतः मध्यस्थ है। शेष सब अमध्यस्थ है।

—आवश्यक-निर्युक्ति (८०४)

वीयरागयाएणं नेहाणुबंधणाणि।
तण्हाणु बंधणाणि य वेच्छिदइ।

वीतराग भाव की साधना से राग के बंधन और तृष्णा के बंधन कट जाते हैं।

—उत्तराध्ययन (२६/४५)

समो य जो तेसु सवीयरागो।

जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्दादि विषयों में सम रहता है, वह वीतराग है।

—उत्तराध्ययन (३२/६१)

जिब्भाए रसं गहणं वयंति, तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु, समो यजो तेसु स वीयराओ ॥

रस जिह्वा का विषय है। यह जो रस का प्रिय लगना है, उसे राग का हेतु कहा है और जो रस का अप्रिय लगना है उसे द्वेष का हेतु। जो दोनों में समभाव रखता है, वह वीतराग है।

—उत्तराध्ययन (३२/६१)

एविंदियत्था य मणस्स अत्था, दुक्खस्स हेउं मणुयस्स रागिणो।
ते चेव थोवं पि कयाइ दुक्खं न वीयरागस्स करेंति किंचि।

मन एवं इन्द्रियों के विषय, रागात्मा को ही दुःख के हेतु होते हैं। वीतराग को तो वे किंचित् मात्र भी दुःखी नहीं कर सकते।

—उत्तराध्ययन (३२/१००)

कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं, सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स।
जं काइयं माणसियं च किंचि, तस्संतगं गच्छइ वीयरागो ॥

समस्त लोक के, यहाँ तक कि देवताओं के भी, जो कुछ भी शारीरिक और मानसिक दुःख हैं, वे सब कामासक्ति से पैदा होते हैं। वीतरागी उन दुःखों का अन्त कर जाते हैं।

—उत्तराध्ययन (३२/१६)

वीर

एस वीरे पसंसिए, जे बद्धे पडिमोयए।

वही वीर प्रशंसित होता है, जो अपने को तथा दूसरे को दासता के बंधन से मुक्त कराता है।

—आचारांग (१/२/५)

सुच्चिय सूरो सो, इंदिय चोरेहिं सया, न लुंटिअं जस्स चरणधणं।

वही सच्चा शूरवीर है। जिसके चारित्र रूपी धन को इन्द्रिय रूपी चौरों ने लूटा नहीं है।

—इन्द्रिय-पराजय-शतक (१)

वीरता

वीरिएणं त जीवस्स, समुच्छलिएणं गोयमा।
जम्मंतरकए पावे पाणी मुहुत्तेण निद्दहे॥

हे गौतम! जिस समय इस जीव में वीरता का सञ्चार होता है तो यह जीव जन्म-जन्मान्तर में किये पापों को एक मुहूर्त-भर में धो डालता है।

—गच्छाचार-प्रकीर्णक (६)

वेश

किं परियत्तिय वेसं, विसं न मारेइ खज्जंतं।

क्या वेश बदलनेवाले व्यक्ति को खाया हुआ विष नहीं मारता?

—उपदेशमाला (२१)

अट्ठविहकम्मवियला, णिट्ठियकज्जा पणट्ठसंसारा।
दिट्ठसयलत्थसारा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु॥

अष्ट कर्मों से रहित, कृतकृत्य, जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्त तथा सकल तत्त्वार्थों के द्रष्टा सिद्ध मुझे सिद्धि प्रदान करें।

—तिलोयपण्णति (१/१)

कम्ममलविप्पमुक्को उड्ढं लोगस्स अंतमधिगंता।
सो सव्वणाणदरिसी, लहदि सुहमणिंदियमणंतं॥

कर्म मल से मुक्त आत्मा ऊर्ध्वलोक के अन्त को प्राप्त करके सर्वज्ञ सर्व-दर्शी अनन्त अनिन्द्रिय सुख का अनुभव करता है।

—पंचास्तिकाय (२८)

जत्थ य एगो सिद्धो, तत्थ अणंता भवक्खयविमुक्का।
अन्नोन्नसमोगाढा, पुट्ठा सव्वे वि लोगंते॥

लोक-शिखर पर जहाँ एक सिद्ध या मुक्तात्मा स्थित होती है, वहीं एक-दूसरे में प्रवेश पाकर संसार से मुक्त हो जानेवाली अनन्त सिद्धात्माएँ स्थित हो जाती हैं, जो लोकाकाश के ऊपरी अंतिम छोर को स्पर्श करते हैं।

—विशेषावश्यक-भाष्य (३१७६)

जावद्धम्मं दव्वं, तावं गंतूण लोयसिहरम्मि।
चेट्ठंति सव्वसिद्धा, पुह पुह गयसित्थमूसगब्भणिहा॥

लोक के शिखर पर जहाँ तक धर्म द्रव्य की सीमा है वहाँ तक जाकर सभी मुक्त जीव पृथक्-पृथक् स्थित हो जाते हैं। उनका आकार मोम रहित मूषक के आभ्यान्तर आकाश की भाँति अथवा घटाकाश की भाँति चरम शरीर वाला तथा अमूर्तिक होता है।

तिलोयपण्णत्ति (६/१६)

जहा दड्ढाणं बीयाणं, न जायंति पुणंकुरा।
कम्मबीयेसु दड्ढेसु, न जायंति भवांकुरा॥

जिस प्रकार बीज के दग्ध हो जाने पर फिर अंकुर उत्पन्न नहीं होते हैं,

उसी प्रकार कर्म रूपी बीजों के दग्ध हो जाने पर भव रूपी अंकुर फिर उत्पन्न नहीं होते। अर्थात् मुक्त जीव फिर जन्म धारण नही करते।

—दशाश्रुतस्कन्ध (५/१५)

अट्ठविहकम्मवियडा, सीदी भूदा णिरंजना णिच्चा।
अट्ठगुणा कयकिच्चा, लोयग्गणिवासिणो सिद्धा॥

सिद्ध अष्टकर्मों से रहित, सुखमय, निरंजन, नित्य, अष्ट गुण-सहित तथा कृतकृत्य होते हैं और सदैव लोक के अग्रभाग में निवास करते हैं।

—पंच संग्रह (१/३१)

चक्किकुरुफणिसुरेंदेसु, अहमिंदे जं सुहं तिकालभवं।
तत्तो अंणतगुणिदं, सिद्धाणं खणसुहं होदि॥

चक्रवर्तियों को उत्तर कुरु, दक्षिण कुरु आदि भोग भूमि वाले जीवों को तथा फणीन्द्र सुरेन्द्र एवं अहमिन्द्रो को त्रिकाल में जितना सुख मिलता है, उस सबसे भी अनन्त गुना सुख सिद्धों-मुक्त आत्माओं को एक क्षण में अनुभव होता है।

—त्रिलोकसार (५६०)

विमुक्का हु ते जणा, जे जणा पारगामिणो।

वस्तुतः वे ही मुक्त पुरुष हैं, जो विषय दलदल के पारगामी हैं।

—आचारांग (१/२/२)

मैत्री

मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झं न केणइ।

सब जीवों के प्रति मेरा मैत्रीभाव है, मेरा किसी भी जीव के साथ वैर-विरोध नहीं है।

—आवश्यक सूत्र (वंदित्तु,५०)

मित्तं पयतोयसमं सारिच्छं जे न होइ किं तेण।
अहियाएइ मिलंतं आवइ आवट्टए पढमं॥

जो मैत्री जल एवं दूध के समान नहीं है, उससे क्या लाभ? जल जब मिलता है तब दूध को अधिक बना देता है और औटाने पर वह पहले जलता है। अर्थात् आपत्ति में भी वही पहले काम आता है।

—वज्जालग्ग (६/३)

मेत्तिं भूएसु कप्पए।

सब जीवों के प्रति मैत्री का आचरण करे।

—उत्तराध्ययन (६/२)

मित्ती भावमुवगए यावि जीवे भावविसोहिं काऊण निब्भए भवइ।

मैत्री-भाव को प्राप्त हुआ जीव भावना को विशुद्ध बनाकर निर्भय हो जाता है। —उत्तराध्ययन (२६/१७)

मोक्ष

जं अप्पसहावादो मूलोत्तर पयडि संचियं मुच्चइ, तं मुक्खं।

आत्म-स्वभाव से मूल व उत्तर कर्म-प्रकृतियों के संचय का छूट जाना मोक्ष है।

—नयचक्र वृत्ति (१५६)

ण वि दुक्खं ण वि सुक्खं, ण वि पीडा णेव विज्जदे बाहा।
ण वि मरणं ण वि जणणं तत्थेव य होइ णिव्वाणं॥

जहाँ न दुःख है, न सुख, न पीड़ा है, न बाधा, न मरण है न जन्म, वही निर्वाण है।

—नियमसार (१७६)

ण वि इंदिय उवसग्गा, ण वि मोहो विम्हयो ण णिद्दाय।
ण य तिण्हा णेव छुहा, तत्थेव य होइ णिव्वाणं॥

जहाँ न इन्द्रियाँ हैं न उपसर्ग, न मोह हैं न विस्मय, न निद्रा है न तृष्णा और न भूख, वही निर्वाण है।

—नियमसार (१८०)

ण वि कम्मं णोकम्मं ण वि चिंता णेव अट्टरुद्दाणि।
ण वि धम्म सुक्कझाणे, तत्थेव य होइ णिव्वाणं॥

जहाँ न कर्म हैं न नोकर्म शरीर, न चिंता है न आर्त-रौद्र ध्यान है, एवं न धर्मध्यान हैं एवं न शुक्लध्यान—वही निर्वाण है।

—नियमसार (१८१)

णिव्वाणं ति अवाहंति, सिद्धी लोगग्गमेव य।
खेमं सिवं अणावाहं जं चरंति महेसिणो॥

जिसे महर्षि प्राप्त करते हैं वह स्थान निर्वाण है, अबाध है, सिद्धि है, लोकाग्र है, क्षेत्र, शिव और अनाबाध है।

—उत्तराध्ययन (२३/८३)

न य संसारम्मि सुहं, जाइजरा मरणदुक्ख गहियस्स।
जीवस्स अत्थि जम्हा, तम्हा मुक्खो उवादेओ॥

इस संसार में जन्म, जरा, और मरण के दुःख से ग्रस्त जीव को कोई सुख नहीं है। अतः मोक्ष ही उपादेय है।

—सावय-पण्णत्ति (३६०)

मोक्षमार्ग

सव्वारंभ-परिग्गहणिक्खेवो, सव्वभूत समयाय।
एक्कग्गमणसमाहाणयाय, अह एत्तिओ मोक्खो॥

सब तरह की हिंसा, एवं संग्रह का त्याग, प्राणी मात्र के प्रति समभाव और चित्त की एकाग्रता रूप समाधि-बस इतना मात्र मोक्ष है।

—बृहत्कल्प भाष्य (४५८५)

तं जइ इच्छसि गंतुं, तीरं भवसायरस्स घोरस्स।
तो तवसंजमभंडं, सुविहिय! गिण्हाहि तूरंतो॥

यदि तू घोर भवसागर के पार तट पर जाना चाहता है, तो हे सुविहित! शीघ्र ही तप-संयम रूपी नौका को ग्रहण कर।

—मरणसमाधि (२०२)

कम्मासवदाराइं, निरुंभियव्वाइं इंदियाइं च।
हंतव्वा य कसाया, तिविहं-तिविहेण मुक्खत्थं॥

मोक्ष की प्राप्ति के लिए कर्म के आगमन-द्वारों—आस्रवों का तथा इन्द्रियों का तीन करण (मनसा, वचसा, कर्मणा) और तीन योग (कृत, कारित, अनुमोदित) से निरोध करो और कषायों का अन्त करो।

—मरणसमाधि (६१६)

नाण किरियाहिं मोक्खो।

ज्ञान और आचार से ही मोक्ष मिलता है।

—विशेषावश्यक-भाष्य (३)

जीवादीसद्दहणं, सम्मत्तं तेसिमधिगमो नाणं।
रायादीपरिहरणं चरणं, एसो दु मोक्खपहो॥

जीवादि नव तत्त्वों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है तथा उनकी सामान्य-विशेष रूप से अवधारणा करना सम्यक् ज्ञान है। राग, द्वेष आदि दोषों का परिहार करना सम्यक् चारित्र है और ये तीनों मिलकर समुचित रूप से एक अखंड **मोक्षमार्ग है।**

—रयणसार (१५५)

चउरंगं दुल्लहं णच्चा, संजमं पडिवाज्जिया।
तवसाधुय कम्मंसे, सिद्धे हवइ सासए॥

मनुष्य-जन्म, धर्म-श्रवण, श्रद्धा व संयम इन चार बातों को उत्तरोत्तर, दुर्लभ जानकर वह संयम धारण करता है, तप से कर्मों का क्षय करता है और इस प्रकार शनैः शनैः शाश्वत गति को प्राप्त करने में सफल हो जाता है।

—उत्तराध्ययन (३/२०)

नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एयं मग्गमणुप्पत्ता, जीवा गच्छंति सोग्गइं॥

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप रूप चतुष्टय अध्यात्म-मार्ग का अनुसरण कर मुमुक्षु-साधक जीव सदेह होने पर भी सुगति को, वीतराग-दशा या मुक्त-अवस्था को प्राप्त करता है।

—उत्तराध्ययन (२८/३)

नाणेण जाणई भावे, दंसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाई, तवेण परिसुज्झई॥

ज्ञान से भावों और पदार्थों का सम्यग् बोध होता है, दर्शन से श्रद्धा होती हैं, चारित्र से कर्मों का निरोध होता है और तप से आत्म परिशुद्ध होती है।

—उत्तराध्ययन (२८/३५)

नाणस्स सव्वस्स पगासणाए, अण्णाणमोहस्स विवज्जणाए।
रागस्स दोसस्स य संखएणं, एगंत सोक्खं समुवेइ मोक्खं॥

संपूर्ण ज्ञान के प्रकाश से, अज्ञान एवं मोह के परिहार से तथा राग-द्वेष के पूर्णक्षय से आत्मा एकान्त सुख रूप मोक्ष प्राप्त करता है।

—उत्तराध्ययन (३२/२)

तस्सेस्स मग्गो गुरुविद्धसेवा, विवज्जणा बाल जणस्स दूरा।
सज्झाय एगन्त निवेसणा य, सुत्तत्थ संचिन्तणया धिई य॥

सद्गुरु और अनुभवी वृद्धों की सेवा करना, अज्ञानी-मूर्खों के संपर्क से दूर रहना, एकान्त मन से सत्-शास्त्र का अध्ययन, उनका चिंतन और चित्त में धृति रूप अटल शान्ति पाना-मोक्ष का मार्ग है।

—उत्तराध्ययन (३२/३)

मग्गो खलु सम्मत्तं, मग्गफलं होइ णिव्वाणं॥

मार्ग मोक्ष का उपाय हैं। उसका फल निर्वाण या मोक्ष है।

—मूलाचार (५/५)

णिज्जावगो य णाणं वादो झाणं चरित्त णाणाहि।
भवसागरं तु भविया तरंति तिहिसण्णि पायेण॥

जहाज चलानेवाला निर्यामक तो ज्ञान है, पवन की जगह ध्यान है और चारित्र जहाज है। इस ज्ञान, ध्यान, चारित्र तीनों के मेल से भव्य जीव संसार-समुद्र से पार हो जाते हैं।

—मूलाचार (८९८)

णाणं पयासगं, सोहवो तवो, संजमो य गुत्तिकरो।
तिण्हं पि समाजोगे, मोक्खो जिणसासणे भणिओ॥

ज्ञान प्रकाश फैलानेवाला है, तप विशुद्धि करता है और संयम पापों को अवरुद्ध करता है। तीनों के समयोग से ही मोक्ष होता है—यही जिनशासन की वाणी है।

—आवश्यकनिर्युक्ति (१०३)

णाण तवेण संजुत्तो लहइ णिव्वाणं।

ज्ञान व तप दोनों से संयुक्त होने से ही निर्वाण प्राप्त होता है।

—मोक्षपाहुड़ (५६)

विवेगो मोक्खो।

वस्तुतः विवेक ही मुक्ति है।

—आचारांग-चूर्णि (१/७/१)

गिहि-वावार परिट्ठिया हेयाहेउं मुणंति।

जो गृहस्थी के धन्धे में रहते हुए भी हेयाहेय को समझते हैं और जिन भगवान् का निरन्तर ध्यान करते हैं, वे शीघ्र ही निर्वाण को पाते हैं।

—योगसार-योगेन्दुदेव (१८)

दंसण णाण चारित्ताणि मोक्ख मग्गो।

दर्शन, ज्ञान, चारित्र ही मोक्ष का मार्ग है।

—पंचास्तिकाय (१६४)

जे जत्तिआ अ हेउं भवस्स, ते चेव तत्तिआ मुक्खे।

जो और जितने हेतु संसार के हैं, वे और उतने ही हेतु मोक्ष के हैं।

—ओघनिर्युक्ति (५३)

मोक्खमग्गं सम्मत्तसंयमं सुधम्मं।

मोक्ष-मार्ग सम्यक्त्व, संयम आदि सुधर्म रूप है।

—बोधपाहुड़ (१४)

तं जइ इच्छसि गंतुं, तीरं भवसायरस्स घोरस्स।
तो तवसंजमभंडं, सुविहिय! गिण्हाणि तुरंतो॥

यदि तू घोर भवसागर के पार तट पर जाना चाहता है, तो हे सुविहित! शीघ्र ही तप-संयम रूपी नौका को ग्रहण करो।

—मरण-समाधि (२०२)

मोह

सेणावइम्मि णिहए, जहा सेणा पणस्सई।
एवं कम्माणि णस्संति, मोहणिज्जे खयं गए॥

जैसे सेनापति के मारे जाने पर सेना नष्ट हो जाती है; वैसे ही एक मोहनीय कर्म के क्षय होने पर समस्त कर्म सहज ही नष्ट हो जाते हैं।

—दशाश्रुतस्कंध (५/१२)

एगं विगिंचमाणे पुढो विगिंचइ।

जो मोह को क्षय करता है, वह अन्य अनेक कर्म-विकल्पों को भी क्षय करता है।

—आचारांग (१/३/४)

कीरदि अज्झवसायं, अहं ममेदं ति मोहादो।

मैं और मेरे का विकल्प मोह के कारण ही पैदा होता है।

—प्रवचनसार (२/६१)

जहा य अंडप्पभवा बलागा, अंडं बलागप्पभवं जहा य।
एमेव मोहाययणं खु तण्हा, मोहं च तण्हाययणं वयन्ति॥

जैसे बगुली अंडे से पैदा होती है और अंडा बगुली से, वैसे ही मोह का उत्पत्ति स्थान तृष्णा है और तृष्णा का उत्पत्ति स्थान मोह।

—उत्तराध्ययन (३२/६)

रागो य दोसो वि य कम्म बीयं।
कम्मं च मोहप्पभवं वयन्ति॥

कर्म का बीज राग भी है और द्वेष भी, और कर्म मोह के कारण होता है।

—उत्तराध्ययन (३२/७)

दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो।
मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा॥
तण्हा हया जस्स न होइ लोहो।
लोहो हओ जस्स न किंचणाइं॥

जिसके हृदय में मोह नहीं, उसका दुःख नष्ट हो गया। जिसके हृदय में तृष्णा नहीं, उसका मोह भंग हो गया। जिसके चित्त में लोभ नहीं, उसकी तृष्णा समाप्त हो गयी और जो अपरिग्रही है उसका लोभ नष्ट हो जाता है।

—उत्तराध्ययन (३२/८)

जह कच्छुल्लो कच्छुं कंडयमाणो दुहं मुणइ सुक्खं।
मोहाउरा मणुस्सा, तह काम दुहं सुहं विंति॥

जैसे खुजली का रोगी खुजलाने के दुःख को भी सुख मानता है वैसे ही मोहातुर मनुष्य कामजन्य दुःख को सुख मानता है।

—उपदेशमाला (२१२)

यतना

जयणा उ धम्मजणणी, जयणा धम्मस्स पालणी चेव।
तव्वुड्ढीकरी जयणा, एगंत सुहावहा जयणा॥

यतनाचारिता धर्म की जननी है। यतनाचारिता धर्म की पालनहार है। यतनाचारिता धर्म को, तप को बढाती है और यतनाचारिता ही एकान्त सुखावह है।

—संबोधसत्तरि (६७)

चरदि जदं जदि णिच्चं कमलं व जले णिरुवलेवो।

यदि मनुष्य प्रत्येक कार्य यतना से करता है, तो वह जल में कमल की भाँति निर्लिप्त रहता है।

—प्रवचनसार (३/१८)

जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए।
जयं भुंजंतो भासंतो, पावं कम्मं न बंधइ॥

यतनापूर्वक चलने से, यतनापूर्वक बैठने से, यतनापूर्वक सोने से, यतनापूर्वक खाने से, यतनापूर्वक बोलने से पाप-कर्म का बन्ध नहीं होता।

—दशवैकालिक (४/८)

जा जयमाणस्स भवे, विराहणा सुत्तविहिसमग्गस्स।
सा होइ निज्जरफला, अज्झत्थ विसोहिजुत्तस्स॥

जो यत्नवान् साधक अन्तर् विशुद्धि से युक्त है और आगमविधि के अनुसार आचरण करता है, उसके द्वारा होनेवाली हिंसा भी कर्म-निर्जरा का कारण है।

—ओघनिर्युक्ति (७५९)

अणुवओगो दव्वं।

उपयोगशून्य साधना द्रव्य है, भाव नहीं।

—अनुयोगद्वारसूत्र (१३)

उवउत्तो जयमाणो, आया सामाइयं होइ।

यतनापूर्वक साधना में यत्नशील रहनेवाली आत्मा को सामायिक होती है।

— आवश्यकनिर्युक्ति-भाष्य (१४९)

खिप्पं न सक्केइ विवेगमेउं।

विवेक को कोई भी तत्काल नहीं प्राप्त कर सकता।

—उत्तराध्ययन (४/१०)

योगी

बन्धू सठासठेसु वि आलम्पित-उपसमो अनालम्फो।
सव्वञ्ञ-लाच-चलने अनुझायन्तो हवति योगी॥

शठों (मायावियों, धूर्तों) तथा अशठों में भी बान्धसदृश, उपशम (शान्त) भाव का आश्रय लेनेवाला और अनारम्भ (दोषरहित आचरण) वाला सर्वज्ञ के चरणों का ध्यान करता हुआ योगी होता है।

—कुमारपाल-चरित्र (८/१२)

झच्छर-डमरुक-भेरी-ढक्का-जीमूत-गफिर-घोसा वि।
वम्ह-नियोजतमप्पं जस्स न दोलयन्ति सो धञ्ञो॥

झच्छर (अडाउज), डमरुक, भेरी (दुन्दुभि) तथा ढक्का (नगाड़ा) के मेघ के सदृश गम्भीर घोष भी ब्रह्म में लीन जिस आत्मा को विचलित नहीं करते हैं, वही उत्कृष्ट योगी है।

—कुमारपाल-चरित्र (८/१३)

राग

रत्तो बंधदि कम्मं, मुच्चदि कम्मेहिं रागरहिदप्पा।

रागयुक्त ही कर्मबन्ध करता है। रागरहित आत्मा कर्मों से मुक्त होती है।

—प्रवचनसार (२/८७)

णिव्वुदिकामो रागं सव्वत्थ कुणदि मा किंचि।

मोक्षाभिलाषी को तनिक भी राग नहीं करना चाहिये।

—पंचास्तिकाय (१७२)

राग-द्वेष

कायसा वयसा मत्ते, वित्ते गिद्धे य इत्थिसु।
दुहओ मलं संचिणइ, सिसुणागु व्व मट्टियं॥

जो मनुष्य शरीर एवं वाणी से मत्त होता है तथा धन और स्त्रियों में गृद्ध होता है। वह राग और द्वेष—दोनों से कर्म-मल का संचय करता है, जिस प्रकार शिशुनाग (अलस या केंचुआ) मुख और शरीर दोनों से मिट्टी का संचय करता है।

—उत्तराध्ययन (५/१०)

रागो य दोसो वि य कम्मबीयं।

राग और द्वेष कर्म के बीज हैं, मूल कारण हैं।

—उत्तराध्ययन (३२/७)

सत्तू विसं पिसाओ, वेआलो हुअवहो पि पज्जलिओ।
तं न कुणइ जं कुविआ, कुणंति रागाइणो देहे॥

शत्रु, विष, पिशाच, वेताल, प्रज्ज्वलित अग्नि—ये सब एक साथ कोपायमान होने पर भी शरीर में उतना अपकार-अवगुण नहीं करते जितना अपकार कुपित राग-द्वेष रूप अन्तरंग शत्रु करते हैं।

—इन्द्रियपराजय-शतक (८६)

जो रागाईण वसे, वसंमि सो सयलदुक्खलक्खाणं।
जस्स वसे रागाई, तस्स वसे सयलसुक्खाइं॥

जो राग-द्वेषादि के वश में है, वह वस्तुतः लाखों दुःखों के वशीभूत है और जिसने राग-द्वेष को वश में कर लिया है, उसने वस्तुतः सब सुखों को वश में कर लिया है।

—इन्द्रियपराजय-शतक (८७)

जिब्भाए रसं गहणं वयंति,
तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु।

रस जिह्वा का विषय है। यह जो रस का प्रिय लगना है उसे राग का हेतु कहा है और यह जो रस का अप्रिय लगना है, उसे द्वेष का हेतु।

—उत्तराध्ययन (३२/६१)

न वि तं कुणइ अमित्तो, सुट्ठु वि य विराहिओ समत्थो वि।
जं दो वि अनिग्गहिया, करंति रागो य दोसो य॥

अत्यन्त तिरस्कृत समर्थ शत्रु भी उतनी हानि नहीं पहुँचाता, जितनी हानि अनिगृहीत राग तथा द्वेष पहुँचाते हैं।

—मरणसमाधि (१६८)

बहुभयंकरदोसाणं, सम्मत्तचारित्त गुणविणासाणं।
न हु वसमागंतव्वं, रागद्दोसाण पावाणं॥

सम्यक्त्व और चारित्र गुणों के विनाशक, अत्यधिक भयंकर रागद्वेष रूपी पापों के वश में कदापि नहीं होना चाहिये।

—मरणसमधि (२०३)

रागद्दोसपमत्तो, इंदियवसओ करेई कम्माइं।

राग-द्वेष से प्रमत्त बना जीव इन्द्रिआधीन होकर निरन्तर कर्म-बन्धन करता रहता है।

—मरणसमाधि (६१२)

दुक्खाण खाणी खलु रागदोसा।

यथार्थतः राग-द्वेष ही दुःखो का उद्गम-स्थल है।

—आत्मावबोधकुलक (१२)

ण सक्का ण सोउं सद्दा सोत्तविसयमागया।
राग-दोसा उ जे तत्थ ते भिक्खु परिवज्जए।

कर्ण-प्रदेश में आए हुए शब्द श्रवण न करना शक्य नहीं है, किन्तु उनके सुनने पर उनमें जो राग-द्वेष उत्पत्ति होती है, भिक्षु उसका परित्याग करे।

—आचारांग (२/३/१५/१३०)

ण सक्का रूवमदट्ठं चक्खूविसयमागतं।
राग-दोसा उ जे तत्थ ते भिक्खू परिवज्जए॥

नेत्रों के विषय बने हुए रूप को न देखना तो शक्य नहीं है, वे दिख ही जाते हैं, किन्तु उसके देखने पर जो राग-द्वेष उत्पन्न होता है, भिक्षु उनका परित्याग करे अर्थात् राग-द्वेष का भाव उत्पन्न न होने दे।

—आचाराङ्ग (२/३/१५/१३१)

ण सक्का गंधमग्घाउं, णासासियमागयं।
राग-दोसा उ जे तत्थ ते भिक्खु परिवज्जए॥

ऐसा नहीं हो सकता कि नासिका-प्रदेश के सान्निध्य में आए हुए गन्ध के परमाणु-पुद्गल सूंघे न जायँ, किन्तु उनको सूंघने पर उनमें जो राग-द्वेष समुत्पन्न होता है, भिक्षु उनका परित्याग करें।

—आचारांग (२/३/१५/१३२)

ण सक्का रसमणासातुं जीहाविसयमागतं।
राग-दोसा उ जे तत्थ ते भिक्खु परिवज्जए॥

ऐसा तो नहीं हो सकता कि रस जिह्वाप्रदेश में आए और वह उसको चखे नहीं, किन्तु उन रसों के प्रति जो राग-द्वेष उत्पन्न होता है, भिक्षु उसका परित्याग करे।

—आचारांग (२/३/१५/१३३)

ण सक्का ण संवेदेतुं फासं विषयमागतं।
राग-दोसा उ जे तत्थ ते भिक्खु परिवज्जए।

स्पर्शेन्द्रिय-विषय प्रदेश में आए स्पर्श का संवेदन न करना किसी तरह संभव नहीं है, अतः भिक्षु उन मनोज्ञ-अमनोज्ञ स्पर्शों को पाकर उनमें उत्पन्न होनेवाले राग-द्वेष का त्याग करे, यही अभीष्ट है।

—आचारांग (२/३/१५/१३४)

राजलक्ष्मी

गयकण्ण चंचलाए, अपरिच्चताइ रायलच्छीए।
जीवासकम्म कलिमल, भरिय भरातो पडंति अहे॥

अपरिचित तथा अपने कर्म रूप मैल के बोझ से नीचे की ओर ले जाने वाली हाथी के कर्ण की तरह चञ्चल राजलक्ष्मी भी जीवों को अधोगति प्रदान करती है।

—सार्थपोसह-सज्झाय-सूत्र (३२)

न महुमहणस्स वच्छे मज्झे कमलाण नेय खीरहरे।
ववसायसायरे सुपुरिसाण लच्छी फुडं वसइ॥

लक्ष्मी न तो विष्णु के वक्षस्थल पर रहती है, न कमलों के मध्य में और न क्षीरसिन्धु में। वह तो प्रकट रूप से सत्पुरुषों के व्यवसाय-सागर में निवास करती है।

—वज्जालग्ग (१०/१२)

रात्रि-भोजन

अत्थंगयंमि आइच्चे, पुरत्था य अणुग्गए।
आहारमाइयं सव्वं, मणसा वि न पत्थए॥

सूर्यास्त से लेकर पुनः सूर्य पूर्व में न निकल आए तब तक सब प्रकार के खाने-पीने की मन से भी इच्छा न करें ।

—दशवैकालिक (८/२८)

चउव्विहे वि आहारे, राइभोयणवज्जणा ।

अन्न, पान, खादिम और स्वादिम रूप चतुर्विध आहार का रात्रि में सेवन नहीं करना चाहिए ।

—उत्तराध्ययन (१९/३०)

राईभोयणविरओ जीवो भवइ अणासवो ।

रात्रि-भोजन से विरत जीव अनाश्रव होता है ।

—उत्तराध्ययन (३०/२)

जो णिसि भुत्तिं सो उपवासं करेदि छम्मासं ।

जो पुरुष रात्रि-भोजन को छोड़ता है वह एक वर्ष में छह महीने तो उपवास ही करता है ।

—कार्तिकेयानुप्रेक्षा (३८३)

लगन

जाव य ण देन्ति हिययं पुरिसा कज्जाइं ताव विहणंति ।
अह दिण्णं च्चिय हिययं गुरुं पि कज्जं परिसमत्तं ॥

जब तक साहसी पुरुष कार्यों की तरफ अपना हृदय अर्थात् ध्यान नहीं देते हैं, तभी तक कार्य पूरे नहीं होते हैं, किन्तु उनके द्वारा कार्यों के प्रति हृदय लगाने से बड़े कार्य भी पूर्ण कर लिये जाते है ।

—कुवलयमाला (अनुच्छेद ३३)

लोभ

किमिरागरत्तवत्थ समाणं लोभं अणुपविट्ठे ।
जीवे कालं करेइ णेरइएसु उववज्जति ॥

मजीठ के रंग के समान जीवन में कभी नहीं छूटनेवाला लोभ, आत्मा को नरकगति की ओर ले जाता है।

—स्थानांग (४/२)

इच्छालोभिते मुत्तिमग्गस्स पलिमंथू।

लोभ मोक्षमार्ग का बाधक है।

—स्थानांग (६/३)

जहा लाहो तहा लोहो।
लाहा लोहो पवड्ढई॥

जैसे-जैसे लाभ होता है, वैसे-वैसे लोभ भी निरंतर बढ़ता जाता है।

—उत्तराध्ययन (८/१७)

लोभ विजएण संतोसं जणयई।

लोभ पर विजय प्राप्त कर लेने से सन्तोष प्राप्त होता है।

—उत्तराध्ययन (२६/७०)

लोभी

लद्धो लोलो भणेज्ज अलियं।

लोभी व्यक्ति लोभवश होकर असत्य बोलता है।

—प्रश्नव्याकरण-सूत्र (२/२)

सुवण्णरूपस्स उपव्वया भवे, सियाहु कैलास समा असंखया।
नरस्स लुद्धस्स न तेहि किं चि, इच्छा हू आगाससमा अणंतिया॥

रजत और स्वर्ण के कैलाश-पर्वत के समान विशाल एवं असंख्य पर्वत भी यदि पास में हो तो भी लोभी मानव की तृप्ति के लिये वे कुछ नहीं हैं, क्योंकि इच्छा गगन के समान अनन्त है।

—उत्तराध्ययन (३/४८)

लोभपत्ते लोभी समा वइज्जा मोसं वयणाए॥

लोभी लोभ के प्रसंग में झूठ का आश्रय ग्रहण कर लेता है।

—आचारांग (२/३/१५/२)

अप्पणट्ठा परट्ठा वा, कोहा वा जइ वा भया।
हिंसगं न मुसं बूया, नो वि अन्नं वयावए॥

अपने लिए अथवा दूसरों के लिए क्रोध या भय से किसी भी प्रसंग पर दूसरों को पीड़ा पहुँचानेवाला असत्य वचन न तो स्वयं बोले और न दूसरों से ही बुलवाए।

—दशवैकालिक (६/११)

मुसावाओ य लोगम्मि, सव्वसाहूहिं गरिहिओ।
अविस्सासो य भूयाणं, तम्हा मोसं विवज्जए॥

संसार में मृषावाद सभी सत्पुरुषों द्वारा निन्दित, गर्हित माना गया है। असत्य भाषण सभी प्राणियों के लिए अविश्वसनीय है। इसलिए मृषावाद सर्वथा छोड़ देना चाहिये।

—दशवैकालिक (६/१२)

वितहं वि तहामुत्तिं, जं गिरं भासए नरो।
तम्हा सो पुट्ठो पावेणं, किं पुण जो मुसं भए॥

जो मानव मूलतः असत्य, किन्तु दिखावे रूप में सत्य प्रतीत होनेवाली भाषा बोलता है, वह भी जब पाप से अछूता नहीं रहता तब जो असत्य ही बोलता है, उसके पाप का तो कहना ही क्या? वह तो पापों की ही गठरी का भार ढोता है।

—दशवैकालिक (७/५)

अईअंमि अ कालंमि, पच्चुप्पण्णमणागए।
जमट्ठं तु न जाणिज्जा, एवमेअं ति णो वए॥

भूत, भविष्य और वर्तमान इन तीनों काल में जिस बात को स्वयं अच्छी तरह न जाने, उसके सन्दर्भ में 'यह ऐसा ही है'—ऐसी निर्णायक भाषा न बोलें।

—दशवैकालिक (७/८)

असच्चमोसं सच्चं च अणवज्जमकक्कसं।
समुप्पेहमसंदिद्धं गिरं भासिज्ज पण्णवं॥

बुद्धिमान् पुरुष व्यवहार-भाषा बोले, वह भी पाप-रहित अकर्कश कोमल हो, उसकी समीक्षा करके एवं सन्देह रहित बोले ।

—दशवैकालिक (७/३)

तहेव काणं काणे त्ति, पंडगं पंडगे त्ति वा।
वाहियं वा वि रोगिति, तेणं चोरे त्ति नो वए॥

काने को काना, नपुंसक को नपुंसक, रोगी को रोगी और चोर को चोर कहना यद्यपि सत्य है, तथापि ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि इससे इन व्यक्तियों को दुःख पहुँचता है ।

—दशवैकालिक (७/१२)

तहेव सावज्जऽणुमोयणी गिरा,
ओहारिणी जा य परोवघायणी।
से कोह लोह भय हस माणवो,
न हासमाणो वि गिरं वएज्जा॥

मनुष्य पापमय, निश्चयात्मक तथा दूसरों को दुःखदायी वाणी न बोले। क्रोध, लोभ, भय और हास्य में भी पापमय वाणी न बोले। हँसी-मजाक में भी पाप-वचन न बोले । —दशवैकालिक (७/५४)

मियं अदुट्ठं अणुवीए भासए।
सयाण मज्झे लहई पसंसणं॥

परिमिति और निर्दोष वक्तव्य करनेवाला, सत्पुरुषों में प्रशंसा प्राप्त करता है । —दशवैकालिक (७/५५)

वइज्ज बुद्धे हियमाणुलोमियं।

ऐसी वाणी का प्रयोग करें, जो हितकारी और सर्वप्रिय हो ।

—दशवैकालिक (७/५६)

दिट्ठं मियं असंदिद्धं, पडिपुन्नं विअजियं।
अयंपि रमणुव्विग्गं भासं निसिर अत्तवं॥

आत्मवान् साधक दृष्य अर्थात् अनुभूत, परिमित, असंदिग्ध, परिपूर्ण, व्यक्त, परिचित, अवाचाल और अभय भाषा बोले ।

—दशवैकालिक (८/४८)

मुहुत्तदुक्खा हु हवंति कंटया, अओभया ते वितओ सुउद्धरा ।
वाया दुरुत्ताणि दुरुद्धराणि, वेराणुबंधीणि महब्भयाणि ॥

कांटे मुहुर्तभर दुःखदायी होते हैं और वे भी पैर से सहजतया निकाले जा सकते है, किन्तु दुर्वचन रूपी कांटे निकालने बहुत कठिन हैं, वे तो उल्टे वैर-परम्परा को बढ़ावा देनेवाले और भयोत्पादक होते हैं ।

—दशवैकालिक (९/३/७)

समावयन्ता वयणाभिधाया कण्णं गया दुम्मणियं जयन्ति ।

विरोधियो की ओर से पड़नेवाली दुर्वचनो की चोटें कानो में पहुँचकर बड़ी मर्मान्तक पीड़ा पहुँचाती हैं और उसे सुनते ही मन दुर्मन हो जाता है ।

—दशवैकालिक (९/३/८)

हिदमिदवयणं भासदि, संतोसकरं तु सव्वजीवाणं ।

साधक हमेशा दूसरो को सन्तोषकारक, हितकारी और मित वचन बोलता है ।

—कार्तिकेयानुप्रेक्षा (३३४)

गुणसुट्ठियस्स वयणं, घयपरिसित्तुव्व पावओ भाइ ।
गुणहीणस्स न सोहइ, नेह विहूणो जह पईवो ॥

गुणवान् मनुष्य की वाणी घृतसिञ्चित अग्नि के समान तेजस्विनी होती है, जबकि गुणहीन मनुष्य की वाणी स्नेह रूपी तैल से रहित दीपक के समान तेज और प्रकाश शून्य होती है ।

—बृहत्कल्पभाष्य (२४५)

निरा हि संखारजुयावि संसती ।
अपेसला होइ असाहुवादिणी ।

यदि सुसंस्कृत भाषा भी असभ्यतापूर्वक बोली जाती है तो वह भी जुगुप्सित हो जाती है ।

—बृहत्कल्पभाष्य (४११८)

पुव्वि बुद्धीए पासेत्ता, तत्तो वक्कमुदाहरे ।
अचक्खुओ व नेयारं, बुद्धिमन्नेसए गिरा ॥

बुद्धिमान् पुरुष व्यवहार-भाषा बोले, वह भी पाप-रहित अकर्कश कोमल हो, उसकी समीक्षा करके एवं सन्देह रहित बोले।

—दशवैकालिक (७/३)

तहेव काणं काणे त्ति, पंडगं पंडगे त्ति वा।
वाहियं वा वि रोगित्ति, तेणं चोरे त्ति नो वए॥

काने को काना, नपुंसक को नपुंसक, रोगी को रोगी और चोर को चोर कहना यद्यपि सत्य है, तथापि ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि इससे इन व्यक्तियों को दुःख पहुँचता है।

—दशवैकालिक (७/१२)

तहेव सावज्जऽणुमोयणी गिरा,
ओहारिणी जा य परोवघायणी।
से कोह लोह भय हस माणवो,
न हासमाणो वि गिरं वएज्जा॥

मनुष्य पापमय, निश्चयात्मक तथा दूसरों को दुःखदायी वाणी न बोले। क्रोध, लोभ, भय और हास्य में भी पापमय वाणी न बोले। हँसी-मजाक में भी पाप-वचन न बोले।

—दशवैकालिक (७/५४)

मियं अदुट्ठं अणुवीए भासए।
सयाण मज्झे लहई पसंसणं॥

परिमित और निर्दोष वक्तव्य करनेवाला, सत्पुरुषों में प्रशंसा प्राप्त करता है।

—दशवैकालिक (७/५५)

वइज्ज बुद्धे हियमाणुलोमियं।

ऐसी वाणी का प्रयोग करें, जो हितकारी और सर्वप्रिय हो।

—दशवैकालिक (७/५६)

दिट्ठं मियं असंदिद्धं, पडिपुन्नं विअजियं।
अयंपि रमणुव्विग्गं भासं निसिर अत्तवं॥

आत्मवान् साधक दृष्य अर्थात् अनुभूत, परिमित, असंदिग्ध, परिपूर्ण, व्यक्त, परिचित, अवाचाल और अभय भाषा बोले।

—दशवैकालिक (८/४८)

मुहुत्तदुक्खा हु हवंति कंटया, अओमया ते वितओ सुउद्धरा।
वाया दुरुत्ताणि दुरुद्धराणि, वेराणुबंधीणि महब्भयाणि॥

कांटे मुहुर्तभर दुःखदायी होते हैं और वे भी पैर से सहजतया निकाले जा सकते हैं, किन्तु दुर्वचन रूपी कांटे निकालने बहुत कठिन हैं, वे तो उल्टे वैर-परम्परा को बढ़ावा देनेवाले और भयोत्पादक होते हैं।

—दशवैकालिक (९/३/७)

समावयन्ता वयणाभिघाया कण्णं गया दुम्मणियं जयन्ति।

विरोधियो की ओर से पड़नेवाली दुर्वचनों की चोटें कानों में पहुँचकर बड़ी मर्मान्तक पीड़ा पहुँचाती हैं और उसे सुनते ही मन दुर्मन हो जाता है।

—दशवैकालिक (९/३/८)

हिदमिदवयणं भासदि, संतोसकरं तु सव्वजीवाणं।

साधक हमेशा दूसरो को सन्तोषकारक, हितकारी और मित वचन बोलता है।

—कार्तिकेयानुप्रेक्षा (३३४)

गुणसुट्ठियस्स वयणं, घयपरिसित्तुव्व पावओ भाइ।
गुणहीणस्स न सोहइ, नेह विहूणो जह पईवो॥

गुणवान् मनुष्य की वाणी घृतसिञ्चित अग्नि के समान तेजस्विनी होती है, जबकि गुणहीन मनुष्य की वाणी स्नेह रूपी तैल से रहित दीपक के समान तेज और प्रकाश शून्य होती है।

—बृहत्कल्पभाष्य (२४५)

गिरा हि संखारजुयावि संसती।
अपेसला होइ असाहुवादिणी।

यदि सुसंस्कृत भाषा भी असभ्यतापूर्वक बोली जाती है तो वह भी जुगुप्सित हो जाती है।

—बृहत्कल्पभाष्य (४११८)

पुव्विं बुद्धीए पासेत्ता, तत्तो वक्कमुदाहरे।
अचक्खुओ व नेयारं, बुद्धिमन्नेसए गिरा॥

जिस प्रकार अन्धा मार्गदर्शक की अपेक्षा रखता है, उसी प्रकार वाणी बुद्धि की अपेक्षा रखती है। अतः जो कुछ बोलें—बुद्धि से परख कर बोलें।

—व्यवहार-भाष्य-पीठिका (७६)

णेहरहितं तु फरुसं।

स्नेहशून्य वचन 'कठोर वचन' है।

—निशीथ-भाष्य (२६०८)

पेसुण्हासकक्कस - परणिंदाप्पप्पसंसा - विकहादी।
वज्जित्ता सपरहियं, भासासमिदी एवे कहणं॥

पैशून्य, हास्य, कर्कश-वचन, परनिन्दा, आत्मा-प्रशंसा, विकथा, आदि का त्याग करके स्व-पर हितकारी वचन बोलना ही भाषा-समिति है।

—मूलाचार (१/१४)

न लवेज्ज पुट्ठो सावज्जं, न निरट्ठं न मम्मयं।
अप्पणट्ठा परट्ठा वा, उभयस्सन्तरेण वा॥

अपने लिए अथवा दूसरों के लिए, अथवा दोनों में से किसी के लिए भी पूछने पर पाप-युक्त, निरर्थक एवं मर्म-भेदक वचन नहीं बोलना चाहिये।

—उत्तराध्ययन (१/२५)

वयगुत्ताए णं णिव्विकारत्तं जणयई।

वचन-गुप्ति से निर्विकार-स्थिति उत्पन्न होती है।

—उत्तराध्ययन (२६/५४)

अणुचिंतिय वियागरे।

पहले विचारो, फिर बोलो।

—सूत्रकृताङ्ग (१/६/२५)

सयं समेच्चा अदुवा वि सोच्चा,
भासेज्ज धम्मं हिययं पयाणं॥

स्वयं ही समझकर अथवा प्रबुद्ध व्यक्तियों से सुनकर, प्रजा हितकारी तथा धर्ममयी भाषा बोले।

—सूत्रकृताङ्ग (१/१३/१६)

निरुद्धगं वावि न दीहइज्जा।

संक्षिप्त में कहने योग्य बात को व्यर्थ ही बढ़ावा न दें।

—सूत्रकृताङ्ग (१/१४/२३)

नोइवेलं वएज्जा।

आवश्यकता से अधिक बोलना उचित नही हैं।

—सूत्रकृताङ्ग (१/१४/२५)

तुमं तुमंति अमणुन्नं, सव्वसो तं न वत्तए।

ऐसे वचन नही बोलना चाहिये, जिसमें तू-तू शब्द जैसी अभद्रता हो।

वयणं विण्णाणफलं, जइतं भणिएऽवि नत्थि किं तेण।

वचन की फलश्रुति अर्थज्ञान है। अतः जिस वचन के बोलने से अर्थ का ज्ञान न हो तो उस 'वचन' से क्या लाभ?

—विशेषावश्यक भाष्य (१५,१३)

परुसं कडुयं वयणं वेरं कलहं च भय कुणइ।
उत्तासणं च हीलणमप्पियवयणं समासेणं॥

मर्म-छेदी, परुष, उद्वेगकारी, कटु, वैरोत्पादक, कलहकारी, भयोत्पादक, और अवज्ञाकारी वचन अप्रिय वचन है।

—भगवती आराधना (८३२)

नो वयणं फरुसं वइज्जा।

परुष (कठोर) वाणी न बोलें।

—आचाराङ्ग (२/१/६ `

नो अंतराभासं भासिज्जा।

दो की बातचीत के बीच मे न बोले।

—आचाराङ्ग (२/

इमाइं छ अवयणाइं वदित्तए—
अलियवयणे, हीलियवयणे खिंसितवयणे,

फरुसवयणे, गारत्थिवयणे,
विउसवितं वा पुणो उदीरित्तए।

असत्य-वचन, तिरस्कारित वचन, झिड़कते हुए वचन, कटु वचन, अविचार पूर्ण वचन और शान्त हुए कलह को पुनः भड़काने वाले वचन—ये छः तरह के वचन कदापि न बोलें।

—स्थानांग (६/३)

वयसा वि एगे बुइया कुप्पंति माणवा।

कुछ मनुष्य थोड़े से प्रतिकूल वचन से भी कुपित हो जाते हैं।

—आचारांग (१/५/४)

सुच्चेसु वा वयणं वयंति।

सत्य वचनों में अनवद्य वचन श्रेष्ठ है।

—सूत्रकृतांग (६/१/२३)

मा कडुयं भणह जणे महुरं, पडिमणह कडुयभणिया वि।
जइ गेण्हिऊण इच्छह लोए सुहयत्तण-पडायं॥

यदि संसार में अच्छेपन की ध्वजा लेकर चलना चाहते हो तो लोगों को कडुआ मत बोलो और उनके द्वारा कडुआ बोले जाने पर भी मधुर वचन बोलो।

—कुवलयमाला (अनुच्छेद ८५)

जल-चंदण-ससि-मुत्ता-चंदमणी तह णरस्स णिव्वाणं।
ण करंति कुणइ जह अत्थज्जुयं हिय-मधुर-मिद-वयणं॥

जल, चन्दन, चन्द्रमा, मुक्ताफल, चन्द्रमणि आदि मनुष्य को उस प्रकार सुखी नहीं करते हैं, जिस प्रकार अर्थ युक्त, हितकारी मधुर, और संयत वचन सुखी करते हैं।

—अर्हत् प्रवचन (१२/१२)

हासेण वि मा भणणऊ, णयरं जं मम्मवेहणं वयणं।

मजाक के द्वारा भी मर्म वेधक और व्यर्थ के वचन मत बोलो।

—कुवलयमाला (अनुच्छेद ८५)

धम्मेण होइ लिंगं ण लिंगमत्तेण धम्मसंपत्ती।
जाणेहि भाव धम्मं किं ते लिंगेण कायव्वो॥

धर्म से लिंग होता है पर लिंगमात्र से धर्म की प्राप्ति नहीं होती। हे भव्य! तू भाव-रूप धर्म को जान! केवल लिंग से तुझे क्या प्रयोजन?

—लिंगपाहुड़ (२)

भावोहि पढमलिंगं, ण दव्व लिंगं च जाण परमत्थं।

वस्तुतः भाव ही प्रथम या मुख्य लिंग हैं। द्रव्य लिंग परमार्थ नहीं हैं।

—भावपाहुड़ (२)

धम्मं रक्खइ वेसो, संकइ वेसेण दिक्खिओमि अहं।
उम्मग्गेण पडंतं, रक्खइ राया जणवओ य॥

जिस प्रकार राजा कुमार्गगामी मनुष्य को दण्डादि व्यवस्था से ठीक रास्ते पर लाता है, उसी प्रकार वेश धर्म को व्यवस्थित रखता है और यह भी इससे खयाल रहता है कि मैं दीक्षाधारी हूँ।

—सार्थपोसह सज्झाय सूत्र (२१)

वेशधारी

सीआवेइ विहारं, सुहसीलगुणेहिं जो अवुद्धिओ।
सो नवरि लिङ्गधारी, संजमजोएण निस्सारो॥

जो अज्ञानी आरामतलबी में पड़कर विहार करने में दुःख मानता है वह संयम से रहित केवल वेषधारी है।

—गच्छाचार प्रकीर्णक (२३)

कुलगामनगररज्जं पयहिअ जो तेसु कुणइ हु ममत्तं।
सो नवरि लिंगधारी, संजमजोएण निस्सारो॥

कुल, ग्राम, नगर, अथवा किसी राज्य में जाकर तथा वहाँ रहकर जो उस पर ममत्व भाव रखता है वह संयमसार से रहित केवल वेषधारी है।

—गच्छाचार प्रकीर्णक (२४)

कारुय-किराय-चंडाल-डोंव पारसियाण मुच्छिट्ठं।
सो भक्खेइ जो सह वसइ एयरत्ति पि वेस्साए॥

जो कई भी मनुष्य एक रात भी वेश्या के साथ निवास करता है, वह वस्तुतः लुहार, चमार, भील, चण्डाल, भंगी और पारसी आदि नीच लोगों का जूठा खाता है, क्योंकि वेश्या इन सभी लोगों के साथ समागम करती है।

—वसुनन्दि श्रावकाचार (८८)

रत्तं णाऊण णरं सव्वस्सं हरइ वंचण सएहिं।
काऊण मुयइ पच्छा पुरिसं चम्मट्ठि परिसेसं॥

वेश्या, मनुष्य को अपने ऊपर आसक्त जानकर सैकड़ों प्रिय वचनों से उसका सर्वस्व हर लेती है और उसे अस्थि-चर्म परिशेष करके छोड़ देती है।

—वसुनन्दि श्रावकाचार (८९)

माणी कुलजो सूरो वि कुणइ दासत्तणं पि णीचाणं।
वेस्सा कएण बहुगं अवमाणं सहइ कामंधो॥

मानी, कुलीन और शूरवीर पुरुष भी वेश्या में आसक्त होने से नीच पुरुषों की दासता को करता है, और इस प्रकार वह कामान्ध होकर वेश्या के द्वारा किये गये अपमानों को सहन करता है।

—वसुनन्दि श्रावकाचार (९१)

जे मज्जमंस दोसा वेस्सा गमणम्मि होंति ते सव्वे॥

जो दोष मद्य-मांस के सेवन में होते हैं, वे सब दोष वेश्यागमन में भी होते हैं।

—वसुनन्दि श्रावकाचार (९२)

सव्वंगरागरत्तं दंसइ कणवीरकुसुम सारिच्छं।
गब्भे कहवि न रत्तं वेसाहिययं तहच्चेव॥

वेश्या का हृदय कनेर के पुष्प के समान होता है। कनेर के पुष्प का सम्पूर्ण भाग रक्त (लाल या रंगा) होता है, पर भीतर रंग नहीं रहता है।

वेश्या का शरीर रक्त (अनुरक्त) होता है, हृदय नहीं (वह शरीर से प्रणय का अभिनय करती है, वस्तुतः मन से अनुरक्त नहीं होती ।)

—वज्जालग्ग (५७८/२)

वैयावृत्य (सेवा)

वैयावच्चेणं तित्थयरनामगोत्तं कम्मनिबंधइ ।

वैयावृत्य से आत्मा तीर्थंकर पद को प्राप्त करता है ।

—उत्तराध्ययन (२६/४४)

सेज्जागासणिसेज्जा-उवधीपडिलेहणा उवग्गहिदे ।
आहारो सहवायण, विकिंचणुव्वत्तणादीसु ॥
उद्धाण तेण सावयरायणदीरोधगासिवे ऊमे ।
वेज्जावच्चं उत्तं, संगहणा रक्खणोवेदं ॥

वृद्ध गुरु व ग्लान गुरु या अन्य साधुओं के लिए सोने व बैठने का स्थान ठीक करना, उनके उपकरणों का शोधन करना, निर्दोष आहार व औषध आदि देकर उनका उपकार करना, उनकी इच्छानुसार उन्हें शास्त्र पढ़कर सुनाना, अशक्त हों तो उनका मैल उठाना, उन्हें करवट दिलाना, सहारा देकर बैठाना आदि । थके हुए साधु के हाथ-पाँव आदि दबाना, नदी से रुके हुए अथवा रोग से पीड़ित साधुओं के उपद्रव यथा सम्भव मंत्र विद्या व औषध आदि के द्वारा दूर करना, दुर्भिक्ष पीड़ित को सुभिक्ष देश में ले जाना आदि सभी कार्य वैयावृत्य कहलाते है ।

—भगवती आराधना (३०५/३०६)

गुण परिणामो सड्ढा, वच्छलं, भत्तीपत्तलंभो य ।
संधाण तव पूया अव्वोच्छित्ती समाधी य ॥

वैयावृत्य तप में अनेक सद्‌गुणों का वास है अथवा इससे अनेक सद्‌गुणों की प्राप्ति होती है । यथा-गुणग्राह्यता, श्रद्धा, भक्ति, वात्सल्य सद्‌पात्र की प्राप्ति, विच्छिन्न सम्यक्त्व आदि गुणों का पुनः संधान, तप, पूजा, तीर्थ की अव्युच्छित्ति, समाधि आदि ।

कारुय-किराय-चंडाल-डोंव पारसियाण मुच्छिट्ठं।
सो भक्खेइ जो सह वसइ एयरत्तिं पि वेस्सार॥

जो कई भी मनुष्य एक रात भी वेश्या के साथ निवास करता है, वह वस्तुतः लुहार, चमार, भील, चण्डाल, भंगी और पारसी आदि नीच लोगो का जूठा खाता है, क्योंकि वेश्या इन सभी लोगो के साथ समागम करती है।

—वसुनन्दि श्रावकाचार (८८)

रत्तं णाऊण णरं सव्वस्सं हरइ वंचण सएहिं।
काऊण मुयइ पच्छा पुरिसं चम्मट्ठि परिसेसं॥

वेश्या, मनुष्य को अपने ऊपर आसक्त जानकर सैकड़ो प्रिय वचनो से उसका सर्वस्व हर लेती है और उसे अस्थि-चर्म परिशेष करके छोड़ देती है।

—वसुनन्दि श्रावकाचार (८९)

माणी कुलजो सूरो वि कुणइ दासत्तणं पि णीचाणं।
वेस्सा कएण बहुगं अवमाणं सहइ कामंधो॥

मानी, कुलीन और शूरवीर पुरुष भी वेश्या में आसक्त होने से नीच पुरुषो की दासता को करता है, और इस प्रकार वह कामान्ध होकर वेश्या के द्वारा किये गये अपमानो को सहन करता है।

—वसुनन्दि श्रावकाचार (९१)

जे मज्जमंस दोसा वेस्सा गमणम्मि होंति ते सव्वे॥

जो दोष मद्य-मांस के सेवन में होते हैं, वे सब दोष वेश्यागमन में भी होते हैं।

—वसुनन्दि श्रावकाचार (९२)

सव्वंगरागरत्तं दंसइ कणवीरकुसुम सारिच्छं।
गब्भे कहवि न रत्तं वेसाहियय तहच्चेव॥

वेश्या का हृदय कनेर के पुष्प के समान होता है। कनेर के पुष्प का सम्पूर्ण भाग रक्त (लाल या रंगा) होता है, पर भीतर रंग नहीं रहता है।

वेश्या का शरीर रक्त (अनुरक्त) होता है, हृदय नहीं (वह शरीर से प्रणय का अभिनय करती है, वस्तुतः मन से अनुरक्त नहीं होती ।)

—वज्जालग्ग (५७८/२)

वैयावृत्य (सेवा)

वैयावच्चेणं तित्थयरनामगोत्तं कम्मनिबंधइ ।

वैयावृत्य से आत्मा तीर्थंकर पद को प्राप्त करता है ।

—उत्तराध्ययन (२६/४४)

सेज्जागासणिसेज्जा-उवधीपडिलेहणा उवग्गहिदे ।
आहारो सहवायण, विकिंचणुव्वत्तणादीसु ॥
उद्धाण तेण सावयरायणदीरोधगासिवे ऊमे ।
वेज्जावच्चं उत्तं, संगहणा रक्खणोवेदं ॥

वृद्ध गुरु व ग्लान गुरु या अन्य साधुओं के लिए सोने व बैठने का स्थान ठीक करना, उनके उपकरणों का शोधन करना, निर्दोष आहार व औषध आदि देकर उनका उपकार करना, उनकी इच्छानुसार उन्हें शास्त्र पढ़कर सुनाना, अशक्त हों तो उनका मैल उठाना, उन्हें करवट दिलाना, सहारा देकर बैठाना आदि । थके हुए साधु के हाथ-पाँव आदि दबाना, नदी से रुके हुए अथवा रोग से पीड़ित साधुओं के उपद्रव यथा सम्भव मंत्र विद्या व औषध आदि के द्वारा दूर करना, दुर्भिक्ष पीड़ित को सुभिक्ष देश में ले जाना आदि सभी कार्य वैयावृत्य कहलाते हैं ।

—भगवती आराधना (३०५/३०६)

गुण परिणामो सड्ढा, वच्छलं, भत्तीपत्तलंभो य ।
संधाण तव पूया अव्वोच्छित्ती समाधी य ॥

वैयावृत्य तप में अनेक सद्‌गुणों का वास है अथवा इससे अनेक सद्‌गुणों की प्राप्ति होती है । यथा-गुणग्राह्यता, श्रद्धा, भक्ति, वात्सल्य सद्‌पात्र की प्राप्ति, विच्छिन्न सम्यक्त्व आदि गुणों का पुनः संधान, तप, पूजा, तीर्थ की अव्युच्छित्ति, समाधि आदि ।

जे आयरियउवज्झायाणं, सुस्सूसावयणंकरा।
तेसिं सिक्खा पवड्ढंति, जलसित्ता इव पायवा॥

जो अपने आचार्य और उपाध्याय की सेवा-शुश्रूषा और आज्ञा पालन करते हैं उनकी शिक्षाएँ-विद्याएं उसी प्रकार बढ़ती है, जिस प्रकार जल से सींचे हुए वृक्ष।

—दशवैकालिक (९/२/१२)

अद्धाणतेणसावद-रायणदीरोधणासिवे ओमे।
वेज्जावच्चं उत्तं, संगह सारक्खणोवेदं॥

जो मार्ग में चलने से थक गये हैं, चोर, हिंस्रपशु, राजा द्वारा व्यथित, नदी की रुकावट, मरा-प्लेग आदि रोग तथा दुर्भिक्ष से पीड़ित है, उनकी सार-सम्हाल तथा रक्षा करना वैयावृत्य है।

—मूलाचार (५/२१८)

व्यसन

अक्खेहि णरो रहियो, ण मुणइ सेसिंदएहिं वेइए।
जूयंधो ण य केण वि, जाणइ संपुण्ण करणो वि॥

अंधा व्यक्ति, आँख को छोड़ अन्य सभी इन्द्रियों से जानता है लेकिन जूए में अंधा बना व्यक्ति सब इन्द्रियों के जीवित होते हुए भी किसी इन्द्रिय से कुछ नहीं जान पाता।

—वसुनन्दि श्रावकाचार (६६)

इत्थी जूयं मज्जं मिगव्व वयणे तहा फरुसया य।
दंडफरुसत्तमत्थस्स दूसणं सत्त वसणाइं॥

परस्त्री का सहवास, द्युत-क्रीड़ा, मद्य, शिकार, वचन-परुषता, कठोर दण्ड तथा अर्थ-दूषण (चोरी आदि)—ये सात कुव्यसन है।

—बृहत्कल्पभाष्य (९४०)

एगप्पा अजिए सत्तू, कसाया इन्दियाणि य।

अविजित एक अपना आत्मा ही शत्रु है। अविजित कषाय और इन्द्रियाँ ही शत्रु हैं।

—उत्तराध्ययन (२०/३७)

सीसोऽवि वेरिओ सोउ, जो गुरुं न विबोहए।
पमायमइराघत्थं, सामायारी विराहियं।

यदि गुरु किसी समय प्रमाद के वशीभूत हो जाए और गच्छ के नियमोप-नियमरूप समाचारी का यथाविधि पालन न करे तब वह शिष्य जो अपने गुरु को सावधान नहीं करता वह भी अपने गुरु का शत्रु माना जाता है।

—गच्छाचार प्रकीर्णक (१८)

शरण

जाइजरामरणरोगभयदो रक्खेदि अप्पणो अप्पा।
जम्हा आदा सरणं, बंधोदयसत्तकम्म वदिरित्तो॥

जन्म, मरा, मरण, रोग और भय आदि से आत्मा ही, स्वयं ही अपनी रक्षा करता है, इसलिए वस्तुतः जो कर्मों की बन्ध, उदय और सत्ता अवस्था से पृथक् है, वह आत्मा ही इस संसार में शरण है।

—बारस अणुवेक्खा (११)

दंसणणाण-चरित्तं सरणं सेवेह परम-सद्धाए।
सण्णं किं पि ण सरणं संसारे संसरंताणं॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ही शरण है। परम श्रद्धा के साथ इनका आचरण करना चाहिए। संसार में भ्रमण करते हुए जीवों को उनके सिवाय अन्य कुछ भी शरण नहीं है।

—कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा (३०)

अरहंते सरणं पवज्जामि।
सिद्धे सरणं पवज्जामि।
साहू सरणं पवज्जामि।
केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि।

अर्हंतों की शरण लेता हूँ। सिद्धों की शरण लेता हूँ। साधुओं की शरण लेता हूँ। केवलि-प्रणीत धर्म की शरण लेता हूँ।

—थोस्सामि दण्डक (३)

णाणं सरणं मे, दंसणं च सरणं च चरिय सरणं च।
तव संजमं च सरणं, भगवं सरणो महावीरो॥

ज्ञान मेरा शरण है, दर्शन मेरा शरण है, चारित्र मेरा शरण है, तप और संयम मेरा शरण है तथा भगवान महावीर मेरे शरण हैं।

—मूलाचार (२/६०)

शरीर

सरीरं सादियं सनिधणं।

शरीर का आदि भी है और अन्त भी।

—प्रश्नव्याकरण सूत्र (१/२)

शिक्षा

अह पंचहिं ठाणेहिं, जेहिं सिक्खा न लब्भई।
थम्भा कोहा पमाएणं, रोगेणाऽलस्सएण य॥

इन पांचों स्थानों या कारणों से शिक्षा प्राप्त नहीं होती—१. अभिमान, २. क्रोध, ३. प्रमाद, ४. रोग और ५. आलस्य।

—उत्तराध्ययन (११/३)

वसे गुरुकुले निच्चं, जोगवं उवहाणवं।
पियंकरे पियंवाई, से सिक्खं लद्धुमरिहई॥

जो सदा गुरुकुल में वास करता है, जो समाधि युक्त होता है, जो उपधान तप करता है, जो प्रिय करता है, जो प्रिय बोलता है, वह शिक्षा प्राप्त कर सकता है।

—उत्तराध्ययन (११/१४)

शिक्षाशील

अह अट्ठहिं ठाणेहिं, सिक्खासीले त्ति वुच्चई।
अहिस्सरे सया दंते, न य मम्ममुदाहरे॥
नासीले न विसीले, न सिया अइलोलुए।
अकोहणे सच्चरए, न सिक्खासीले त्ति वुच्चई॥

इन आठ स्थितियों या कारणों से मनुष्य को शिक्षाशील कहा जाता है : १. हँसी-मजाक नहीं करना, २. सदा इन्द्रिय और मन का दमन करना, ३. किसी का रहस्योद्घाटन न करना, ४. अशील (सर्वथा आचारहीन) न होना, ५. निशील (दोषों से कलंकित) न होना, ६. अति रसलोलुप न होना, ७. अक्रोधी रहना तथा ८. सत्यरत होना।

—उत्तराध्ययन (११/४,५)

शिष्य

आयरियस्स वि सीसो सरिसो,
सव्वे हि वि गुणेहिं॥

यदि शिष्य गुणसम्पन्न है, तो वह अपने आचार्य के सदृश माना जाता है।

—उत्तराध्ययन निर्युक्ति (५८)

शील

सीलं उत्तमवित्तं, सीलं जीवाण मंगलं परमं।
सीलं दोहग्गहरं, सीलं सुक्खाण कुलभवणं॥

शील ही उत्तम धन है, शील ही परम मंगल रूप है, शील ही दुःख दारिद्र्य हर्ता है और शील ही सकल सुखों का धाम है।

—शीलकुलकम् (२)

सीलं धम्म निहाणं, सीलं पावाणखंडणं भणियं।
सीलं जंण जतूए, अकित्तिमं मंडणं परमं॥

शील धर्म-निधान है, शील पाप खण्डनकारी है, शील जगत् में मनुष्य का अकृत्रिम श्रृंगार है।

—शीलकुलकम् (३)

नरयदुवार निरुंभण-कवाडसंपुडसहोअरच्छायं।
सुरलोअधवल मंदिर-आरुहणे पवरनिस्सेणि॥

शील नरक-द्वार को बन्द करने में कवाड़ जोड़ की तरह जबरदस्त है और देवलोक के उज्ज्वल विमानों पर आरूढ़ होने के लिए उत्तम निसैनी के समान है।

—शीलकुलकम् (४)

सव्वेसिं पि वयाणं भग्गाणं अत्थि कोइ पडिआरे।
पक्कछ उस्स व कन्ना, ना होइ सीलं पुणो भग्गं॥

अन्य सब व्रत भंग होने पर उनका कोई न कोई उपाय हो सकता है, किन्तु पके हुए घट की टूटी हुई ठीकरी को पुनः जोड़ने के समान भञ्जित शील को पुनः जीवन से जोड़ना दुःशक्य है।

—शीलकुलकम् (१८)

सीलेण विणा विसया, णाणंविणासंति।

शील के बिना इन्द्रियोंके विषय ज्ञान को नष्ट कर देते हैं।

—शीलपाहुड़ (२)

जीवदयादम सच्चं अचोरियं बंभचेरसंतोसे।
सम्मद्दंसण णाणं तओ य सीलस्स परिवारो॥

जीव-दया, इन्द्रिय-दमन, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, सम्यग् दर्शन, ज्ञान, तप—ये सभी शील के परिवार हैं।

—शीलपाहुड़ (१६)

सीलं मोक्खस्स सोवाणं।

शील मोक्ष का सोपान है।

—शीलपाहुड़ (२०)

सीलं वरं कुलाओ कुलेण किं होइ विगयसीलेण।
कमलाइ कद्दमे संभवंति न हु हुंति मलिणाइं॥

कुल से शील श्रेष्ठ है। शीलच्युत कुल से क्या लाभ? कमल पंक में जन्म लेता है, परन्तु मलिन नहीं होता।

—वज्जालग्ग (८/६)

सीलं कुलआहरणं, सीलं रूवं च उत्तमं होइ।
सीलं चियपंडितं सीलं चिय निरुवमं धम्मं॥

शील कुलवान् का आभूषण है शील ही उत्तम रूप है। शील में ही सच्चा पांडित्य है और शील में ही निरुपम धर्म है।

—सम्बोधसत्तरि (५७)

सीलं उत्तमवित्तं, सीलं जीवाण मंगल परमं।
सीलं दोहग्गहरं, सीलं सुक्खाण कुल भवणं।

शील उत्तम धन है, शील प्राणियों का परम मंगल है, शील दुःखनाशक है शील सुखों का खजाना है।

—कामघट कथानक (१२५)

शौचधर्म

समसंतोसजलेणं, जो धोवदि तिव्व लोहमल-पुंज।
भोयण-गिद्धि-विहीणो, तस्स सउच्चं हवे विमलं॥

जो समता व सन्तोषरूपी जल से तीव्र लोभ रूपी मल-समूह को धोता है और जिसमें भोजन की लिप्सा नहीं है, उसके विमलशौचधर्म होता है।

—कार्तिकेयानुप्रेक्षा (३९७)

अदक्खु, व दक्खुवाहियं सद्दहसु ।

ओ देखने वालो ! तुम देखने वालो की बात पर विश्वास और श्रद्धा करके चलो ।

—सूत्रकृताङ्ग (२/३/११)

जं सक्कइ तं कीरइ, जं च ण सक्कइ तं च सद्दहणं ।
केवलिजिणेहिं भणियं, सद्दहमाणस्स सम्मत्तं ॥

यदि समर्थ हो तो संयम, तप आदि का पालन करो और यदि समर्थ न हो तो केवल तत्त्वों की श्रद्धा ही करो, क्योकि श्रद्धावान् को सम्यक्त्व होता है, ऐसा केवली भगवान् ने कहा है ।

—दर्शनपाहुड़ (२२)

जाए सद्धाए निक्खंते
तमेव अणुपालेज्जा,
विजहित्ता विसोत्तियं ॥

जिस श्रद्धा के साथ निष्क्रमण किया है, उसी श्रद्धा के साथ शंकाओ या कुण्ठाओं से दूर रहकर, उसका पालन करो ।

—आचाराङ्ग (१/१/३)

सद्धा परमदुल्लहा ।

श्रद्धा होना परम दुर्लभ है ।

—उत्तराध्ययन (३/६)

लद्धूण वि उत्तमं सुइं ।
सद्दहणां पुणरावि दुल्लहा ॥

उत्तम वचनो का श्रवण करके भी उस पर श्रद्धा होना अति कठिन है ।

—उत्तराध्ययन (१०/१६)

सद्धा खमं णे विणइत्तु रागं ।

धर्म-श्रद्धा हमें राग से छुटकारा दे सकती है ।

—उत्तराध्ययन (१४/२८)

जस्सेवमप्पा उ हवेज्ज निच्छिओ, चइज्ज देहं न हु धम्मसासणं।
तं तारिसं नो पइलेन्ति इन्दिया, उविंतवाया व सुदंसणं गिरिं॥

जिस साधक की आत्मा इस प्रकार दृढ़ निश्चयी हो कि यह शरीर भले ही चला जाय, परन्तु मैं अपना धर्म-शासन छोड़ नहीं सकता, उसे इन्द्रिय-विषय कभी भी विचलित नहीं कर सकते, जैसे सुमेरु पर्वत को भीषण ववंडर।

—दशवैकालिक चूलिका (१/१७)

जं सक्कइ तं कीरइ, जं न सक्कइ तयम्मि सद्दहणा।
सद्दहमाणो जीवो, वच्चइ अयरामरं ठाणं॥

जिसका आचरण हो सके, उसका आचरण करना चाहिए एवं जिसका आचरण न हो सके, उस पर श्रद्धा रखनी चाहिये। धर्म पर श्रद्धा रखता हुआ जीव जरा एवं मरणरहित मुक्ति का अधिकारी होता है।

—धर्मसंग्रह (२/२१)

श्रमण एवं श्रमणधर्म

एमेए समणा मुत्ता, जे लोए संति साहुणो।
विहंगमा व पुप्फेसु, दाणभत्ते सणे रया॥

लोक में जो मुक्त (अपरिग्रही), श्रमण-साधु हैं वे दान-दाता गृहस्थ से उसी प्रकार दानस्वरूप भिक्षा आदि लें जिस प्रकार भ्रमर पुष्पों से रस लेता है।

--दशवैकालिक (१/३)

वयं च वित्तिं लब्भामो, नय कोइ उवहम्मई।

साधक जीवनोपयोगी आवश्यकताओं की इस प्रकार पूर्ति करें कि किसी को कुछ कष्ट न हो।

—दसवैकालिक (१/५)

नाणेण य झाणेण य, तपोबलेन य बला निरुंभत्ति।
इंदियविसयकसाया, धरिया तुरगा व रज्जूहिं॥

ज्ञान, ध्यान और तपोबल से इन्द्रिय विषयों और कषायों को बलपूर्वक रोकना चाहिए, जैसे कि लगाम के द्वारा घोड़ों को बलपूर्वक रोका जाता है।

—मरण समाधि (६२१)

समे य जे सव्वपाणभूतेसु से हु समणे।

जो समस्त प्राणियों के समभाव रखता है वस्तुतः वही श्रमण है।

—प्रश्नव्याकरण सूत्र (१/३)

उवसमसारं खु सामण्णं।

श्रमणत्व का सार है—उपशम !

—वृहत्कल्पभाष्य (१/३५)

आहारमिच्छे मियमेसणिज्जं, सहायमिच्छे निउणत्थबुद्धिं।
निकेयमिच्छेज्ज विवेग जोग्गं, समाहिकामे समणे तवस्सी॥

समाधि की इच्छा रखने वाले तपस्वी श्रमण परिमित और शुद्ध, संयम-पोषक आहार ग्रहण करे, प्रवीण-बुद्धि के तत्व-ज्ञानी साथी की खोज करे और ध्यान करने योग्य एकान्त स्थान में निवास करें।

—उत्तराध्ययन (३२/४)

बिलमिव पण्णगभूएणं अप्पाणेणं तमाहारं आहारेइ।

जिस प्रकार सांप बिल में प्रवेश करता, उसी प्रकार आहार को ग्रहण करना चाहिये।

—अन्तकृद्दशाङ्ग (६/१४)

झाणाभयणं मुक्ख जइ धम्मं।

ध्यान और अध्ययन करना साधुओं का मुख्य धर्म है।

—रयणसार (११)

रक्खिज्ज कोहं विणएज्ज माणं।
मायं न सेवे पयहेज्ज लोहं॥

साधक अपने को क्रोध से बचाए, अहंकार को दूर करे, माया का सेवन न करे और लोभ को त्याग दे।

—उत्तराध्ययन (४/१२)

न वा लभेज्जा निउणं सहायं,
गुणाहियं वा गुणओ समं वा।
एक्को वि पावाइ विवज्जयन्तो,
विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो॥

यदि अपने से अधिक, गुणो वाला अथवा अपने समान गुणो वाला निपुण साथी न मिलें, तो पापों का वर्जन करता हुआ तथा काम-भोगो में अनासक्त रहता हुआ अकेला ही विचरण करे।

—उत्तराध्ययन (३२/५)

महयं पलिगोव जाणिया, जा वि य वंदणपूयणा इहं।
साधक-संतो के लिए वंदन तथा पूजन एक बहुत वड़ा दलदल है।

—सूत्रकृतांग (१/२/२/११)

पोक्खरपत्तं व निरूवलेवे, आगासं चेव निरवलंबे।

साधक को कमलपत्र के समान निर्लिप्त और गगन के समान निरवलम्ब होना चाहिये।

—प्रश्नव्याकरणसूत्र (२/५)

कहं नु कुज्जा सामण्णं, जो कामे न निवारए।
पए-पए विसीयंतो, संकप्पस्स वसं गओ॥

वह साधक साधना कैसे कर पाएगा, कैसे श्रामण्य का पालन करेगा, जो काम-विषय-राग का निवारण नहीं करता, जो संकल्प-विकल्प के वशीभूत होकर पग-पग पर विवादग्रस्त है।

—दशवैकालिक (२/१)

चरे पयाइं परिसंकमाणो, जं किंचि पासं इह मण्णमाणो।
लाभंतरे जीविय वहइत्ता, पच्छा परिन्नाय मलावधंसी॥

साधक पग-पग पर दोषो की संभावना को ध्यान में रखता हुआ चले, छोटे से छोटे दोष को भी पाश-जाल समझकर सावधान रहे। नये-नये गुणों

के लाभ के लिए जीवन को सुरक्षित रखे। और जब लाभ न होता दीखे तो परिज्ञान पूर्वक धर्म-साधना के साथ शरीर को छोड़ दे।

—उत्तराध्ययन (४/७)

आहच्च चंडालियं कट्टु, न निण्हविज्ज कयाइ वि।
कडं 'कडे' त्ति भासेज्जा, अकडं 'नो कडे' त्ति य॥

आवेशवश यदि साधक कोई चाण्डालिक—गलत व्यवहार कर भी ले तो उसे कभी भी न छिपाए। किया हो तो 'किया' कहे और न किया हो तो 'नहीं किया' कहे।

—उत्तराध्ययन (१/११)

निरुवलेवा गगणमिव,
निरावलंबा अणिलो इव।

साधक आकाश के समान निरवलेप और पवन के समान निरावलंब होते हैं।

—औपपातिक सूत्र (२७)

अहमवि नाणदंसणचरित्त, चरित्तविणए तहेव अज्झप्पे।
जे पवरा होंति मुणी, ते पवरा पुंडरीया उ॥

जो मुनी अध्यात्मभाव रूप, ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं विनय में श्रेष्ठ है, वे ही विश्व के सर्वश्रेष्ठ पुंडरीक कमल है।

—सूत्रकृतांग-निर्युक्ति (१५६)

खंतो अ मद्दवऽज्जव विमुत्तया तह अदीणय तितिक्खा।
आवस्सगपरिसुद्धी अ होंति भिक्खुस्स लिंगाइं॥

क्षमा, मृदुता, सरलता, निर्लोभता, अदीनता तितिक्षा और आवश्यक क्रियाओं की परिशुद्धी—ये सब भिक्षु के चिह्न हैं।

—दशवैकालिक-निर्युक्ति (३४९)

जो सो मणप्पसादो, जायइ सो निज्जरं कुणति।

साधना में मानसिक निर्मलता अनिवार्य है, वही कर्म-निर्जरा का कारण है।

—व्यवहारभाष्य-पीठिका (६/१९०)

संकेज्ज याऽसंकित भाव भिक्खु
विभज्जवायं च वियागरेज्जा।
भासादुगं धम्मसमुट्ठितेहिं,
वियागरेज्जा समया सुपन्ने।

सूत्र और अर्थ के विषय में शंका-रहित साधु भी गर्व रहित होकर स्याद्-वादमय वचन का व्यवहार करे। धर्माचरण में प्रवृत्त साधुओं के साथ विचरण करते हुए सत्यभाषा तथा अनुभय (जो न सत्य हो और न असत्य) भाषा का व्यवहार करे। धनी या निर्धन का भेद न करके समभाव पूर्वक धर्मकथा कहे।

—सूत्रकृताङ्ग (१/१४/२२)

कामी कामे न कामए, लद्धे चावि अलद्ध कण्हुई।

साधक सुखाभिलाषी होकर काम-भोगों की इच्छा न करे, प्राप्त भोगों को भी अप्राप्त जैसा कर दे। —सूत्रकृतांग (१/२/३/६)

श्रावकधर्म

संमत्तदंसणाई, पइदियहं जइजणा सुणेई य।
सामायारिं परमं जो, खलु तं सावगं विंति॥

जो सम्यग्दृष्टि व्यक्ति प्रतिदिन यति-(साधु) जन से आचार विषयक उपदेश, परम समाचारी श्रवण करता है, उसे श्रावक कहते हैं।

—सावयपण्णत्ति (२)

पंचुंबरसहियाइं सत्त वि विसणाई जो विवज्जेइ।
सम्मत्तविसुद्धमई, सो दंसणसावओ भणिओ॥

जिसकी मति सम्यग्दर्शन से विशुद्ध हो गयी है, वह व्यक्ति पाँच उदुम्बर फल[1] के साथ-साथ सात व्यसनों[2] का त्याग करने से 'दार्शनिक श्रावक' कहा गया है। —वसुनन्दि श्रावकाचार (५७)

१. पांच उदुम्बरफल—उंबर, कठूमर, गूलर, पीपल, एवं वड़।
२. सप्तव्यसन—वेश्यागमन, जुआ, मांसाहार, मद्यपान, शिकार, परस्त्री गमन और चोरी।

सामाइयं उ कए, समणो इव सावओ हवइ जम्हा।
एएण कारणेण, बहुसो सामाइयं कुज्जा ॥

सामायिक के समय श्रावक श्रमण के तुल्य हो जाता है। इसलिए श्रावक को सामायिक दिन में अनेक बार करनी चाहिये।

—विशेषावश्यक भाष्य (२६९०)

दाणं पूया मुक्खं सावयधम्मे।

श्रावकधर्म में दान और पूजा मुख्य है।

—रयणसार (११)

पंचेव अणुव्वयाइं गुणव्वयाइं च हुंति तिन्नेव।
सिक्खावयाइं चउरो, सावगधम्मो दुवालसहा ॥

श्रावक धर्म पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत यों बारह प्रकार है।

—श्रावक-धर्मप्रज्ञप्ति (६)

धम्मरयणस्स जोगो, अक्खुद्दो रुववं पगइसोम्मो।
लोयप्पियो अक्कूरो, भीरु असढो सुदक्खिन्नो।
लज्जालुओ दयालु, मज्झत्थो सोम्मदिट्ठी गुणरागी।
सक्कह सपक्खजुत्तो, सुदीहदंसी विसेसन्नु।
वुड्ढाणुरागो विणीओ, कयन्नुओ परहिजत्थकारी य।
तह चेव लद्धलक्खो, एगवीसगुणो हवई सड्ढो ॥

धर्म को धारण करने योग्य श्रावक में २१ गुण होने चाहिये। यथा :—१. अक्षुद्र, २. रूपवान, ३. प्रकृति सौम्य, ४. लोकप्रिय, ५. अक्रूर, ६. पापभीरु, ७. अशठ (छल नहीं करने वाला), ८. सदाक्षिण्य (धर्मकार्य में दूसरों की सहायता करने वाला), ९. लज्जावान, १०. दयालु, ११. रागद्वेष रहित (मध्यस्थभाव में रहने वाला), १२. सौम्यदृष्टि वाला, १३. गुणरागी १४. सत्य कथन में रुचि रखने वाला-धार्मिक परिवारयुक्त, १५. सुदीर्घदर्शी, १६. विशेषज्ञ १७. वृद्ध महापुरुषों के पीछे चलने वाला, १८. विनीत, १९ कृतज्ञ (किए उपकार को समझने वाला, २०. परहित करनेवाला, २१. लब्ध लक्ष्य (जिसे लक्ष्य की प्राप्ति प्रायः हो गई हो।

—प्रवचनसारोद्धार (१३५६-१३५८)

कयवयकम्मो तह सीलवं गुणवं च उज्जुववहारी।
गुरु सुस्सूसो पवयण-कुसलो खलु सावगो भावे॥

१. जो व्रतों का अनुष्ठान करने वाला है, शीलवान है, २. स्वाध्याय-तप-विनय आदि गुण युक्त है, ३. सरल व्यवहार करने वाला है, ४. सद्‌गुरु की सेवा करने वाला है, ५. प्रवचन-कुशल है, वह 'भाव श्रावक' है।

—धर्मरत्न प्रकरण (३३)

चत्तारि समणोवासगा—
अद्दागसमाणे, पडागसमाणे, खाणुसमाणे, खरकंटसमाणे।

श्रमणोपासक की चार कोटियाँ हैं—१. दर्पण के समान स्वच्छ-हृदय, २. पताका के समान अस्थिर-हृदय, ३. स्थाणु के समान मिथ्याग्रही, ४. तीक्ष्ण कंटक के समान कटुभाषी।

—स्थानांग (४/३)

श्रुतज्ञान

सव्वं पि अणेयंतं, परोक्खरूवेण जं पयासेदि।
तं सुयनाणं भण्णदि, संसय पहुदीहि परिचत्तं॥

जो परोक्ष रूप से समस्त वस्तुओं को अनेकान्त रूप दर्शाता है और संशय आदि से रहित है, वह श्रुतज्ञान है।

—कार्तिकेयानुप्रेक्षा (२६२)

स्व पर प्रत्यायकं सुतनाणं।

स्व और पर का बोध कराने वाला ज्ञान—श्रुतज्ञान है।

—नंदीसूत्रचूर्णि (४४)

अरहंतभासियत्थं, गणहरदेवेहिं गंथियं सम्मं।
पणमामि भत्तिजुत्तो, सुदणाणमहोदहिं सिरसा॥

जो अर्हत् के द्वारा अर्थरूप में उपदिष्ट है तथा गणधरों के द्वारा सूत्ररूप में

सम्यक् गुम्फित है, उस श्रुतज्ञान रूपी महासिन्धु को मैं भक्तिपूर्वक सिर नवाकर प्रणाम करता हूँ।

—लघुश्रुत भक्ति (४)

सव्वणाणुत्तरं सुयणाणं।

श्रुतज्ञान सब ज्ञानो में श्रेष्ठ है।

—उत्तराध्ययन चूर्णि (१)

संघ

आसासो वीसासो, सीयघर समोय होइ मा भाहि।
अम्मापितिसमाणो, संघो सरणं तु सव्वेसिं॥

संघ भयभीत मनुष्यो के लिए आश्वासन, निश्छल व्यवहार के कारण विश्वासभूत, सर्वत्र समता के कारण शीतगृह समान, अविसमदर्शी होने के कारण माता-पिता तुल्य तथा सबके लिए शरणभूत होता है।

—व्यवहारभाष्य (३२६)

दंसणणाण चरित्ते, संघायंतो हवे संघो।

जो दर्शन, ज्ञान और चारित्र का संग्रहण करता है, इस रत्नत्रय की समन्विति करता है वह संघ है।

—भगवती-आराधना (७१४)

गुण-भवण-गहण! सुयरयण-भरिय! दंसण विसुद्ध रत्थागा।
संघनगर! भद्दं ते, अखण्ड-चारित्त-पागारा॥

पिण्ड विशुद्धि, समिति, भावना, तप आदि भव्य-भवनो से संघनगर व्याप्त है। श्रुत-शास्त्र रत्नो से भरा हुआ है, विशुद्ध सम्यक्त्व ही स्वच्छ वीथियाँ हैं, निरतिचार मूलगुण रूप चारित्र ही जिसके चारो ओर प्रकोटा है, इन विशेषताओं से युक्त हे संघनगर! तेरा भद्र हो।

—नन्दीसूत्र (४)

अप्पडिचक्कस्स जओ होउ, सया संघ चक्कस्स।

संघ चक्र संसार—भव तथा कर्मों का सर्वथा उच्छेद करने वाला है।

नन्दीसूत्र (५)

कम्मरय-जलोहविणिग्गयस्स, सुयरयण-दीहनालस्स।
पंच-महव्वय थिरकन्नियस्स, गुणकेसरालस्स॥
सावग-जण-महुअरिपरिवुडस्स, जिणसूरतेयवुद्धस्स।
संघपउमस्स भद्दं, समणगण - सहस्स - पत्तस्स॥

जो संघ रूपी पद्म, कर्मरज, कर्दम तथा जल-प्रवाह दोनो से बाहर निकला हुआ है—अलिप्त है। जिसका आधार ही श्रुत-रत्नमय लम्बी नाल है, पाँच महाव्रत ही जिसकी दृढ़ कर्णिकाएँ हैं, उत्तरगुण ही जिसके पराग हैं, श्रावक जन-भ्रमरों से जो सेवित तथा घिरा हुआ है। तीर्थंकर सूर्य के केवलज्ञान तेज से विकास पाए हुए और श्रमण गण रूप हजार पंखुड़ी वाले उस संघपद्म का सदा कल्याण हो।

—नन्दीसूत्र (७, ८)

परतित्थियगह-पहनासगस्स, तवतेय दित्त लेसस्स।
नाणुज्जोयस्स जए, भद्दं दम संघ सूरस्स॥

एकान्तवाद, दुर्नय का आश्रय लेने वाले परवादी रूप ग्रहों की प्रभा को नष्ट करने वाला, तप-तेज से जो सदा देदीप्यमान है, सम्यग्ज्ञान का ही सदा प्रकाश करने वाला है, इन विशेषताओं से युक्त उपशम प्रधान संघ सूर्य का विश्व में कल्याण हो।

—नन्दीसूत्र (१०)

भद्दं धिई-वेला-परिगयस्स, सज्झाय-जोग-मगरस्स।
अक्खोहस्स भगवओ संघ-समुद्दस्स रुंद्दस्स॥

मूल गुण और उत्तर गुणों के विषय में बढ़ते हुए आत्मिक परिणाम रूप जल-वृद्धि वेला से व्याप्त है, जिसमें स्वाध्याय और शुभ योग रूप कर्म विदारण करने में महाशक्ति वाले मकर हैं; जो परीषह-उपसर्ग होने पर भी निःप्रकम्प है तथा समग्र ऐश्वर्य से सम्पन्न एवं अतिविस्तृत है, ऐसे संघ-समुद्र का भद्र हो।

— नन्दीसूत्र (११)

संघो गुण संघादो।

गुणों का समूह ही 'संघ' है।

—रयणसार (१५३)

संयम

मणसंजमो णाम अकुसलमणनिरोहो, कुसलमण उदीरणं वा।

अकुशल मन का निरोध और कुशल मन का प्रवर्तन—मन का संयम है।

—दशवैकालिक चूर्णि (१)

वरं मे अप्पा दंतो, संजमेण तवेण य।
माऽहं परेहिं दम्मंतो, बंधणेहिं वहेहि य॥

उचित यही है कि मैं स्वयं ही संयम और तप के द्वारा अपने पर विजय प्राप्त करूँ। वन्धन और वध के द्वारा दूसरों से मैं प्रताड़ित किया जाऊँ, यह ठीक नहीं है।

—उत्तराध्ययन (१/१६)

जो सहस्सं सहस्साणं, मासे मासे गवं दए।
तस्स वि संजमो सेयो, अदिन्तस्स वि किंचणं॥

प्रतिमास हजार-हजार गायें दान देने की अपेक्षा, कुछ भी न देने वाले संयमी का आचरण श्रेष्ठ है।

—उत्तराध्ययन (६/४०)

नाणेण य झाणेण य, तवोबलेण य बला निरुंभंति।
इंदियविसयकसाया, धरिया तुरगा व रज्जूहिं॥

ज्ञान, ध्यान और तपोबल से इन्द्रिय-विषयों और कषायों को बलपूर्वक रोकना चाहिए, जैसे कि लगाम के द्वारा घोड़ों को बलपूर्वक रोका जाता है।

—मरण-समाधि (६२१)

अभयकरो जीवाणं, सीयघरो संजमो भवइ सीओ।

प्राणिमात्र को अभय करने के कारण संयम शीतगृहवत् शान्तिप्रद है।

—आचाराङ्ग निर्युक्ति (२०६)

वय समिदि कसायाणं, दंडाणं तह इंदियाण पंचण्हं।
धारण-पालण णिग्गह चाय जओ संजमो भणिओ।।

व्रत-धारण, समिति-पालन, कषाय-निग्रह, मन-वचन-शरीर की प्रवृत्ति रूप दण्डों का त्याग, पंचेन्द्रिय-विजय,—इन सबको संयम कहा जाता है।

—पञ्च संग्रह (१/१२७)

चउव्विहे संजमे—
मणसंजमे, वइ संजमे, कायसंजमे, उवगरण संजमे।

संयम के चार रूप हैं—मन का संयम, वचन का संयम, देह का संयम और उपगरण का संयम।

—स्थानांग (४/२)

संयमासंयम

एगओ विरईं कुज्जा, एगओ य पवत्तणं।
असंजमे नियत्तिं च, संजमे य पवत्तणं॥

एक ओर से निवृत्ति और एक ओर प्रवृत्ति करनी चाहिये—असंयम से निवृत्ति और संयम में प्रवृत्ति।

—उत्तराध्ययन (३१/२)

जत्तियाइं असंजमट्ठाणाइं, तत्तियाइं संजमट्ठाणाइं॥

संसार के जितने असंयम के स्थान है, उतने ही संयम के स्थान है।

—आचारांग चूर्णि (१/४/२)

गरहा संजमे, नो अगरहासंजमे।

आत्म-आलोचन संयम है, अगर्हा संयम नहीं है।

—भगवती सूत्र (१/६)

संवर

संजम-विराय-दंसण-जोगभावो य संवरओ।

संयम, विराग, दर्शन और योग का अभाव—ये संवर के हेतु हैं।

—जयधवला (१/६/५४)

रुंधियछिद्दसहस्से, जलजाणे जह जलं तु णासवदि।
मिच्छत्ताइअभावे, तह जीवे संवरो होइ॥

जैसे जलयान के हजारों छेद बन्द कर देने पर उसमें पानी नहीं घुसता, वैसे ही मिथ्यात्व आदि के दूर हो जाने पर जीव में संवर होता है।

—नयचक्र (१५५)

मिच्छत्तासवदारं रुंभइ सम्मत्तदिढकवाडेण।
हिंसादिदुवाराणि वि, दिढवयफलिहहिं रुंभंति॥

मुमुक्षुजीव सम्यक्त्व रूपी दृढ़ कपाटों से मिथ्यात्वरूपी आस्रव द्वार को रोकता है तथा दृढ़ व्रतरूपी कपाटों से हिंसा आदि द्वारों को रोकता है।

—जयधवला (१/१०/५५)

तवसा चेव ण मोक्खो, संवरहीणस्स होइ जिणवयणे।
ण हु सोत्ते पविसंते, किसिणं परिसुस्सदि तलायं॥

यह जिन वचन है कि संवर विहीन मुनि को केवल तप करने से ही मोक्ष नहीं मिलता : जैसे कि पानी के आने का स्रोत खुला रहने पर तालाब का पूरा पानी नहीं सूखता। —मूलाचार (१८५४)

कम्मासवदाराइं, निरुंभियव्वाइं इंदियाइं च।
हंतव्वा य कसाया, तिविहं तिविहेण मुक्खत्थं॥

मोक्ष की प्राप्ति के लिए कर्म के आगमन-द्वारों-आश्रवों का तथा इन्द्रियों का तीन करण—मनसा, वाचा, कर्मणा—और तीन योग—कृत, कारित, अनुमति—से निरोध करो और कषायों का अन्त करो।

—मरण समाधि (६१६)

सज्जन

सुयणो सुद्धसहावो मइलिज्जंतो वि दुज्जणजणेण।
छारेण दप्पणो विय अहियथरं निम्मलो होइ॥

विशुद्ध स्वभावी सज्जन दुर्जन द्वारा लांछित या मलिन किये जाने पर भी, वैसे ही अधिक निर्मल हो जाता है, जैसे छार से दर्पण।

—वज्जालग्ग (४/२)

सुयणो न कुप्पइ च्चिय अह कुप्पइ मंगुलं न चिंतेइ।
अह चिंतेइ न जंपइ अह जंपइ लज्जिरो होइ॥

सज्जन क्रोध ही नहीं करता है, यदि करता है तो अमंगल नहीं सोचता, यदि सोचता है तो कहता नहीं और यदि कहता है तो लज्जित हो जाता है।

—वज्जालग्ग (४/३)

दढरोसकलुसियस्स वि सुयणस्स मुहाउ विप्पियं कत्तो।
राहुमुहम्मि वि ससिणो किरणा अमयं च्चिय मुयंति॥

दृढ़ रोष से कलुषित होने पर भी सज्जन के मुँह से अप्रिय वाणी कहाँ से निकल सकती है? चन्द्रमा की किरणें राहु के मुँह में भी अमृत ही टपकाती है।

—वज्जालग्ग (४/४)

सव्वस्स एह पयई पियम्मि उप्पाइए पियं काउं।
सुयणस्स एह पयई अकए वि पिए पियं काउं॥

प्रिय करने पर प्रिय करना—यह सभी की प्रकृति है, परन्तु प्रिय न करने पर भी प्रिय करना—यह सज्जनों की प्रकृति है।

—वज्जालग्ग (४/८)

दोहिं चिय पज्जत्तं बहुएहि वि किं गुणेहि सुयणस्स।
विज्जुप्फुरियं रोसो मित्ती पाहाणरेह व्व॥

सज्जन के बहुत से गुणों से क्या प्रयोजन? उसके ये दो गुण ही पर्याप्त हैं—बिजली की कौंध के समान क्षणभंगुर क्रोध और पाषाण रेखा के समान चिरस्थायिनी मैत्री।

—वज्जालग्ग (४/११)

रे रे कलिकाल महागइंद गलगज्जियस्स को कालो।
अज्ज वि सुपुरिसकेसरिकिसोर चलणंकिया पुहवी॥

अरे कलिकाल रूपी महागजेन्द्र! तुम्हारी गर्जना का यह कौन-सा अवसर है? आज भी यह पृथ्वी सत्पुरुष रूपी सिंह-कुमार के चरणों से अङ्कित है।

—वज्जालग्ग (४/१२)

दीणं अब्भुद्धरिउं पत्ते सरणागए पियं काउं।
अवरद्धे सु वि खमिउं सुयणो च्चिय नवरि जाणेइ॥

दीनों का उद्धार करना, शरणागत का प्रिय-मङ्गल करना और अपराधियों को भी क्षमा कर देना—ये केवल सज्जन ही जानता है।

—वज्जालग्ग (४/१३)

सेला चलंति पलए मज्जायं सायरा वि मेल्लंति।
सुयणा तहिं पि काले पडिवन्नं नेय सिढिलंति॥

प्रलय-काल में पर्वत भी चलायमान हो जाते हैं, सागर भी अपनी सीमायें छोड़ देते हैं; किन्तु सज्जन मनुष्य उस काल में भी अपने वचन को भङ्ग नहीं करते।

— वज्जालग्ग (४/१६)

सरिहिं न सरेहिं न सरवरेहिं न वि उज्जाणवणेहिं।
देस रवण्णा होंति वढ! निवसन्तेहिं सुअणेहिं॥

अरे मूर्ख! न नदियों से, न झीलों से, न तालाबों से और न उद्यान-वनों से देश रमणीय होते हैं, अपितु सज्जनों के रहने से रमणीय होते हैं।

—प्राकृत-व्याकरण (४/४२२)

सिरि चडिआ खंतिफलइं पुणु डालइं मोडंति।
तो वि महद्दुम सउणाहं अवराहिउ न करंति॥

पक्षी गण महावृक्षों के शिखर भाग पर बैठते हैं, उन फलों को खाते हैं तथा शाखाओं को तोड़ते-मरोड़ते हैं फिर भी वे महावृक्ष सज्जन की तरह उन पक्षियों को अपराधी नहीं मानते हैं।

—प्राकृत-व्याकरण (४/४४५)

सम्माणेसु परियणं पणइयणं पेसवेसु मा विमुहं।
अणुमण्णह मित्तयणं सुपुरिसमग्गो फुडो एसो॥

परिजनों का सम्मान करो, प्रेमीजनों के प्रति उपेक्षा मत करो और मित्र-जनों का अनुमोदन करो, यही सज्जनों का सही मार्ग है।

—कुवलयमाला (अनुच्छेद ८५)

सत्य

सच्चं······पभासकं भवइ सव्व भावाणं ॥

सत्य—समस्त भावों-विषयों को प्रकाशित करता है।

—प्रश्नव्याकरण सूत्र (२/२)

सच्चं············लोगम्मि सारभूयं,
···गंभीरतरं, महासमुद्दाओ।
सच्चं······सोमतरं चंद मंडलाओ,
दित्ततरं सूर मंडलाओ।

संसार में 'सत्य' ही सारभूत है। सत्य महासागर से भी अधिक गम्भीर है। सत्य चन्द्रमण्डल से भी अधिक सौम्य है और सूर्य मंडल से भी अधिक तेजस्वी है।

—प्रश्नव्याकरण सूत्र (२/२)

तं सच्चं भगवं।

सत्य ही भगवान् है।

—प्रश्नव्याकरण सूत्र (२/२)

सच्चं च हियं च मियं च गाहणं च।

ऐसा सत्य बोलना चाहिये, जो हित, मित और ग्राह्य हो।

—प्रश्नव्याकरण सूत्र (२/२)

सच्चं पिय संजमस्स उवरोह कारकं किंचि वि न वत्तव्वं।

सत्य भी यदि संयम का घातक हो तो नहीं बोलना चाहिये।

—प्रश्नव्याकरण सूत्र (२/२)

परसंतावयकारण-वयणं मोत्तूण सपरहिदवयणं।
जो वददि भिक्खु तुरियो, तस्स दु धम्मो हवे सच्चं॥

जो भिक्षु दूसरों को संताप पहुँचाने वाले वचनों का त्याग करके स्व-पर-हितकारी वचन बोलता है, उसके सत्य-धर्म होता है।

—बारह अणुवेक्खा (७४)

सच्चंसि धिइं कुव्वह।
एत्थोवरए मेहावी सव्वं पाव कम्मं झोसेति॥

सत्य को धारण कर, उससे विचलित न हो। सत्य में रत रहने वाला मेधावी सर्व पाप कर्म का शोषण कर डालता है।

—आचाराङ्ग (१/३/२)

पुरिसा ! सच्चमेव समभिजाणाहि।

पुरुष ! तू सत्य का ही अनुशीलन कर।

—आचाराङ्ग (१/३/३)

सच्चस्स आणाए उवट्ठिए से मेहावी मारं तरंति।
सहिए धम्ममादाय, सेयं समणुपस्सति॥

जो सत्य की आज्ञा में उपस्थित है, वह मेधावी मृत्यु के प्रवाह को तैर जाता है। सत्य का साधक धर्म को स्वीकार कर श्रेय का साक्षात् कर लेता है।

—आचाराङ्ग (१/३/३)

अप्पणा सच्चमे सेज्जा।

अपनी स्वयं की आत्मा के द्वारा सत्य का अनुसन्धान करो।

—उत्तराध्ययन (६/२)

भासियव्वं हियं सच्चं।

सदा हितकारी सत्य-वचन बोलना चाहिये।

—उत्तराध्ययन (१६/२७)

सच्चेण देवदावो णवंति परिसस्स ठंति व वसम्मि।
सच्चेण य गहगहिदं मोएइ करेंति रक्खंच॥

सत्य के प्रभाव से देवता भी मनुष्य को वन्दन करते हैं और उसके वश में होते हैं। वे उसका रक्षण करते हैं और पिशाच उससे दूर ही रहते हैं।

—भगवती आराधना (८३९)

सच्चम्मि वसदि तवो, सच्चम्मि संजमो तह वसे सेसावि गुणा।
सच्चं णिवंधणं हि य, गुणाणमुद्धीव मच्छाणं॥

सत्य में तप, संयम और शेष समस्त गुणों का वास होता है। जैसे समुद्र मत्स्यों का कारण—उत्पत्ति स्थान है, वैसे ही सत्य समस्त गुणों का कारण है।

—भगवती आराधना (८४२)

जे तेउ वाइणो एवं, न ते संसार पारगा।

जो असत्य की प्ररूपणा करते हैं, वे संसार-सागर को पार नहीं कर सकते।

—सूत्रकृताङ्ग (१/१/१/२१)

सादियं न मुसं बूया।

मन में कपट रखकर असत्य भाषण न करो।

—सूत्रकृताङ्ग (१/८/१९)

सच्चेसु वा अणवज्जं वयंति।

सत्य वचनों में भी अनवद्य सत्य श्रेष्ठ है।

—सूत्रकृताङ्ग (१/८/२३)

से दिट्ठिमं दिट्ठि न लूसएज्जा।

सम्यग् दृष्टि साधक को सत्य दृष्टि का अपलाप नहीं करना चाहिये।

—सूत्रकृताङ्ग (१/१४/२५)

सच्चा वि सा न वत्तव्वा,
जओ पावस्स आगमो।

वह सत्य भी नहीं बोलना चाहिये, जिससे किसी तरह का पापागम होता है।

—दशवैकालिक (७/११)

सत्यवान्

विस्ससणिज्जो माया व, होइ पुज्जो गुरुव्व लोअस्स।
सयणुव्व सच्चवाई, पुरिसो सव्वस्स होइ पिओ॥

सत्यपरक व्यक्ति माता की तरह विश्वसनीय, गुरु की तरह पूज्य और स्वजन की तरह सबको प्रिय होता है।

—भक्त-परिज्ञा (९९)

ण डहदि अग्गी सच्चेणं णरं जलं च तं ण वुड्डेइ।

सत्यवादी को अग्नि जलाती नहीं, पानी उसको डूबाने में असमर्थ होता है।

—भगवती-आराधना (८३८)

सत्संग

एगागिस्स हि चिताइं, विचिताइं खणे खणे।
उप्पज्जंति वियंते य, वसेव सज्जणे जणे॥

एकाकी रहने वाले साधक के मन में प्रतिक्षण नाना प्रकार के विकल्प उत्पन्न एवँ विलीन होते रहते हैं। अतः सज्जनों की संगति में रहना ही श्रेष्ठ है।

—बृहत्कल्प भाष्य (५७/१९)

जो जारिसीय मेत्ती केरइ सो होइ तारिसो चेव।
वासिज्ज इच्छुरिया सा रिया वि कणयादि संगेण॥

जैसे छुरी सुवर्णादिक की जिलहई देने से वह स्वर्णादि स्वरूप की दीखती है, वैसे मनुष्य भी जिसकी मित्रता करेगा वैसा ही अर्थात् दुष्ट के सहवास से दुष्ट और सज्जन के सहवास से सज्जन होगा।

—भगवती-अराधना (३४३)

जहदिय णिययं दोसंपि दुज्जणो सुयणवइयर गुणेण।
जह मेरू मल्लियंतो काओ णिययच्छविं जहदि॥

दुर्जन मनुष्य सज्जनों की संगति से पूर्व दोषों को छोड़कर गुणों से युक्त होता है। जैसे—कौवा मेरू का आश्रय लेने से अपनी स्वभाविक मलीन कान्ति को छोड़कर स्वर्ण कान्ति का आश्रय लेता है।

—भगवती-आराधना (३५०)

कलुसी कदंपि उदयं अच्छं जह होइ कदय जोएण।
कलुसो वि तहा मोहो उवसमदि हु वुड्ढ सेवाए॥

जैसे मलीन जल भी कतक फल के संयोग से स्वच्छ होता है वैसे ही कलुष मोह भी शील वृद्धों के संसर्ग से शान्त होता है।

—भगवती-आराधना (१०७३)

तरुणस्स वि वेरग्गं पण्हाविज्जदि णरस्स वुड्ढे हिं।
पण्हाविज्जइ पाऽच्छी वि हु वच्छस्स फरूसेण॥

जिस तरह बछड़े के स्पर्श से गौ के स्तनों में दुग्ध उत्पन्न होता है उसी तरह ज्ञानवृद्ध, वयोवृद्ध और तपो वृद्ध के सहवास से तरुण के मन में भी वैराग्य उत्पन्न होता है।

—भगवती-आराधना (१०३)

उत्तमजणसंसग्गी, सीलदरिद्दंपि कुणइ सीलड्ढं।
जह मेरुगिरी विलग्गं, तणंपि कणगत्तण मुवेई॥

जैसे मेरू पर्वत पर पैदा हुई घास भी स्वर्णपन को प्राप्त करती है वैसे ही उत्तम जन की संगति सदाचार रहित पुरुष को भी सदाचारी बना देती है।

—संबोध-सत्तरि (६४)

सज्जण-संगेण वि दुज्जणस्स ण हु कलुसिमा समोसरई।
ससि-मण्डल मज्झ-परिट्ठिओ, वि कसणोच्चिय कुरंगो॥

सज्जन की संगति से भी निश्चय ही दुर्जन की कालिमा/दुष्टता दूर नहीं होती है क्योंकि चन्द्रमण्डल के बीच में रहने वाला मृग भी काला ही है।

—लीलावई-कहा (१६)

कुसुममगंधमिव जहा देवय सेसत्ति कीरदे सीसे।
तह सुयणमज्झवासी वि दुज्जणो पूइओ होइ॥

जिस प्रकार गंध रहित पुष्प भी देवता का प्रसाद है ऐसा मानकर सिर पर रख लिया जाता है उसी प्रकार सज्जन लोगों के बीच रहने वाला दुर्जन भी पूजनीय हो जाता है।

—अर्हत्प्रवचन (१०/८)

दुज्जण संसग्गीए पजहदि णियगं गुणं खु सुजणो वि।
सीयलभावं उदयं जह पजहदि अग्गिजोएण॥

दुर्जन की संगत से सज्जन भी निश्चय ही अपने गुण को छोड़ देता है। जैसे जल अग्नि के संयोग से अपने शीतल स्वभाव को छोड़ देता है।

—अर्हत्प्रवचन (१०/११)

सद्गुण

कंखे गुणे जाव सरीर-भेओ।

शरीर-भेद अर्थात् मृत्यु के अन्तिम क्षणों तक सद्गुणों की आराधना करनी चाहिये। —उत्तराध्ययन (४/१३)

आगासे गंग सोउव्व, पडिसोओ व्व दुत्तरो।
बाहाहिं सागरो चेव, तरियव्वो गुणोयही॥

जैसे आकाश-गंगा का स्रोत एवं प्रतिस्रोत दुस्तर है। जिस प्रकार सागर को भुजाओं से तैरना दुष्कर है, वैसे ही गुणोदधि को तैरना दुष्कर है।

—उत्तराध्ययन (१६/३७)

सद्व्यवहार

खुड्डेहिं सह संसग्गिं, हासं कीडं च वज्जए।

क्षुद्र लोगों के साथ संपर्क, हंसी मजाक, क्रीड़ा आदि नहीं करना चाहिए।

—उत्तराध्ययन (१/६)

सरिसो होइ बालाणं।

बुरे के साथ बुरा होना, बचपना है। —उत्तराध्ययन (२/२४)

छंदं से पडिलेहए।

व्यक्ति के अन्तर्मन को परखना चाहिये।

—दशवैकालिक (५/१/३७)

वीयं तं न समायरे।

एक बार भूल होने पर दुवारा उसकी आवृत्ति न करें।

—दशवैकालिक (८/४७)

अपुच्छिओ न भासेज्जा, भासमाणस्स अन्तरा।

बिना पूछे व्यर्थ ही किसी के बीच में नहीं बोलना चाहिये।

—दशवैकालिक (८/४७)

अलं विवाएण णे कतमुहेहिं।

विद्वान् के साथ विवाद नहीं करना चाहिए।

—निशीथ-भाष्य (२६१३)

सव्वपाणा न हीलियव्वा, नींदियव्वा।

विश्व के किसी भी प्राणी की न अवहेलना करनी चाहिए और न ही निन्दा।

—प्रश्नव्याकरण सूत्र (२/१)

णातिवेलं हसे मुणी।

मर्यादा से अधिक नहीं हंसना चाहिए।

—सूत्रकृताङ्ग (१/६/२६)

ववहारेच्चिअ छायं णिएह लोअस्स किं व हिअएण।
तेउग्गमो मणीण वि जो बाहिं सोण भंगम्मि॥

व्यवहार से ही मनुष्य के स्वाभाविक रंग रूप को देखो, उसके हृदय से क्या? मणियों के भी प्रकाश का उद्भव जो बाहर की ओर से होता है वह उनके टूटने पर भीतर से नहीं होता है।

—गउडवहो (६६३)

देविंद्चक्कवट्टि-त्तणाइ रज्जाइ उत्तमा भोगा।
पत्ता अणंतखुत्तो, न य हं तित्तिं गओ तेहिं॥

देवपन, इन्द्रपन, चक्रवर्तीपन और राज्य आदि के उत्तम भोगों को मैंने अनंत बार पाया है, परन्तु अभी तक मैंने इनसे लेश मात्र भी तृप्ति नहीं पाई है।

—इन्द्रियपराजय-शतक (१६)

सव्वग्गंथविमुक्को, सीईभूओ पसंतचित्तो अ।
जं पावइ मुत्तिसुहं, न चक्कवट्टी वि तं लहइ॥

सर्व ग्रन्थियो से रहित, विपय के विकारो से उपशान्त तथा समता से प्रशान्त चित्तवाले व्यक्ति भी संतोष से जो सुख प्राप्त करता है, वह सुख चक्रवर्ती भी नही पा सकता।

—इन्द्रियपराजयशतक (४५)

समसंतोस-जलेण य, जो धोवदि तिण्णलोहमलपुंजं।
भोयणगिद्धिविहीणो, तस्स सउच्चं हवे विमलं॥

जो मनुष्य समताभाव और सन्तोष रूपी जल से तृष्णा और लोभ रूपी मल के पुंज को प्रक्षालित करता है और भोजन में गृद्ध नही होता, उसके निर्मल शौचधर्म होता है।

—कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा (३६७)

असंतुट्ठाणं इह परत्थ य भयंति।

सन्तोष-शून्य व्यक्ति को यहाँ-वहाँ सर्वत्र भय रहता है।

—आचारांग-चूर्णि (१/२/२)

जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढई।
दो मासकणयं कज्जं, कोडीए वि न निट्ठियं॥

ज्यो-ज्यो लाभ वढ़ता है, त्यो-त्यो लोभ भी वढ़ना है। देखो! जिस कपिल ब्राह्मण को पहले केवल दो माशा स्वर्ण की अभिलाषा थी, राजा का आश्वासन पाकर वह लोभ वाद में करोड़ो से भी पूरा न हो सका।

—उत्तराध्ययन (८/१७)

लद्धा सुरनररिद्धी, विसया वि सया निसेविआणेण।
पुण संतोसेण विणा, किं कत्थ वि निव्वुई जाया॥

इस जीव ने दैविक और मानुषिक दोनों ऋद्धियाँ प्राप्त कीं एवं विषयभोग का भी बारम्बार सेवन किया, तथापि संतोष के विना उसे किसी भी स्थान में सामान्य-सी शान्ति नहीं मिली।

—आत्मावबोधकुलक (१४)

सन्तोषी

संतोसिणो ण पकरेंति पावं।

सन्तोषी व्यक्ति कभी कोई पाप नहीं करते।

—सूत्रकृतांग (१/१२/१५)

सएणं लाभेणं तुस्सइ, परस्स लाभं णो आसासए।
दोच्चा सुहसेज्जा।

जिसे जितना लाभ प्राप्त हुआ है, उसी में संतुष्ट रहनेवाला और दूसरों के लाभ की इच्छा नहीं रखनेवाला व्यक्ति सूखपूर्वक सोता है।

—स्थानांग (४/३)

समगुणी

हंसा रच्चंति सरे, भमरा रच्चंति केतकीकुसुमे।
चंदणवणे भुयंगा, सरिसा सरिसेहिं रच्चंति॥

हंस सरोवर में प्रीति करते है, भौंरे केतकी के फूलों में राग करते हैं, सर्प चन्दन के वन में आनन्द मानते हैं और समान गुण धर्मवाले समान गुण धर्मवालों में प्रेम करते हैं।

—कामघट-कथानक (५६)

निंद पसंसासु समो, समो य माणावमाण कारीसु।
समसयण पर (रि) यण मणो सामाइय संगओ जीवो।

निंदा और प्रशंसा, मान और अपमान, स्वजन और परजन सभी में जिसका मन समान है, उसी जीव को सामायिक होती है, समभाव की साधना होती है।

—संबोधसत्तरि (२५)

जो समो सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु य।
तस्स सामाइयं होइ, इई केवलिभासियं॥

जो मुनि त्रस व स्थावर सभी भूतो अर्थात् देहधारियो में समता-भाव युक्त होता है, उसको सामायिक होती है, ऐसा केवली भगवान ने कहा है।

—विशेषावश्यक-भाष्य (२६६०)

सावज्ज जोगं परिक्खणट्ठा, सामाइयं केवलियं पसत्थं।
गिहत्थधम्मा परमंति नच्चा, कुज्जाबुहो आयहियं परत्था।

सावद्य-योग से अर्थात् पाप-कार्यों से अपनी रक्षा करने के लिए पूर्ण-कालिक सामायिक या समता ही प्रशस्त है (परन्तु वह प्रायः साधुओ को ही सम्भव है)। गृहस्थो के लिए भी वह परम धर्म है, ऐसा जानकर स्व-पर के हितार्थ बुधजन सामायिक अवश्य करें।

—विशेषावश्यक-भाष्य (२६८१)

सामाइयं उ कए, समणो इव सावओ हवइ जम्हा।
एएण कारणेण बहुसो सामाइयं कुज्जा॥

सामायिक के समय श्रावक श्रमण के तुल्य हो जाता है। इसलिए सामायिक दिन में अनेक बार करनी चाहिए।

—विशेषावश्यक-भाष्य (२६९०)

सत्रु-मित्र-मणि-पहाण-सुवण्ण-मट्टियासु।
राग-देसा भावो समदाणाम।

शत्रु-मित्र, मणि-पाषाण, स्वर्ण-मृतिका में राग-द्वेष के अभाव को समता कहते हैं।

—धवला (८/३, ४१/१)

किं काहदि वणवासो, कायकलेसो विचित्त उववासो।
अज्झयणमोणपहुदी, समदारहियस्स समणस्स॥

जो समता से रहित श्रमण है, उसका वनवास, कायक्लेश, विचित्र उपवास और अध्ययन सब व्यर्थ हैं।

—नियमसार (१२४)

जो समो सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु अ।
तस्स सामाइयं होइ, इह केवलि भासिअं॥

जो त्रस और स्थावर सभी जीवों के प्रति समत्वयुक्त है, उसी की सच्ची सामायिक होती है, ऐसा परमज्ञानी केवली ने परिभाषित किया है।

—नियमसार (१२६)

समभावो सामायियं।

समभाव ही सामायिक है।

—निशीश-चूर्णि (२८४६)

सव्वत्थेसु समंचरे।

मनुष्य को सर्वत्र समभावी रहना चाहिये।

—इसिभासियाइं (१/८)

सामाइयमाहु तस्स जं, जो अप्पाण भए ण दंसए।

सामायिक अर्थात् समभाव उसी को रह सकता है, जो स्वयं को प्रत्येक भय से मुक्त रखता हो।

—सूत्रकृतांग (१/२/२/१७)

तण कणए समभावा।

तृण और कनक में समान बुद्धि रखनी चाहिए।

—बोध-पाहुड़ (४७)

जस्स समाणिओ अप्पा, संजमे णिअमे तवे।
तस्स सामाइयं होइ, इह केवलि भासिअं।

जिसकी आत्मा संयम, नियम और तप में तल्लीन है, उसी की सच्ची सामायिक होती है, ऐसा केवली भगवान् ने कहा है।

—अनुयोगद्वार-सूत्र (१२७)

अलद्धुयं नो परिदेवइज्जा, लद्धुं न विकत्थयई स पुज्जो।

जो अलाभ होने पर खिन्न नहीं होता और लाभ होने पर अपनी बड़ाई नहीं हांकता, वही पूज्य है।

—दशवैकालिक (९/३/४)

जो रागदोसेहिं समो स पुज्जो।

जो राग-द्वेष के प्रसंगो में सम रहता है, वही व्यक्ति पूज्य है।

—दशवैकालिक (९/३/११)

चारित्तं समभावो।

समभाव ही चारित्र है।

—पंचास्तिकाय (१०७)

लाहालाहे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा।
समो निंदा पसंसासु, समोमाणावमाणओ॥

साधक को लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण, निन्दा-प्रशंसा और मान-अपमान में समत्व रखना चाहिए।

—उत्तराध्ययन (१९/९१)

जे इंदियाणं विसया मणुन्ना, न तेसु भावं निसिरे कयाइ।
न याऽमणुन्नेसु मणं पि कुज्जा, समाहिकामे समणे तवस्सी॥

समाधि का इच्छुक तपस्वी श्रमण इन्द्रियों के मनोज्ञ विषयों में राग न करे और अमनोज्ञ विषयों में द्वेष भी न करे।

—उत्तराध्ययन (३२/२१)

लाभुत्ति न मज्जिज्जा, अलाभुत्ति न सोइज्जा।

प्राप्त होने पर गर्व न करे और प्राप्त न होने पर शोक न करे।

—आचारांग (१/२/५)

मोहक्खोहविहीणो, परिणामो अप्पणो हु समो।

मोह और क्षोभ से रहित आत्मा का विशुद्ध परिणमन ही समत्व है।

— प्रवचनसार (१/७)

समणो समसुहदुक्खो, भणिदो सुद्धोवओगोत्ति।

जो श्रमण सुख-दुःख में समान योग रखता है, वही शुद्धोपयोगी कहा गया है।

—प्रवचनसार (१/१४)

एवं ससंकप्पविकप्पणासुं, संजायई समयमुवट्ठियस्स।
अत्थे य संकप्पयओ तओ से, पहीयए कामगुणेसु तण्हा॥

अपने राग-द्वेषात्मक संकल्प-विकल्प ही सब दोषों के मूल हैं—जो इस प्रकार के चिन्तन में उद्यत होता है और इन्द्रिय-विषय दोषों के मूल नहीं हैं—ऐसा जो संकल्प करता है, उसके मन में समता जागृत होती है। उससे उसकी काम-गुणों की तृष्णा क्षीण होती है।

—उत्तराध्ययन (३२/१०७)

समाधि-मरण

संलेहणा य दुविहा, अब्भिंतरिया य बाहिरा चेव।
अब्भिंतरिया कसाए, बाहिरिया होइ य सरीरे॥

संल्लेखना अर्थात् पण्डिततमरण दो प्रकार का होता है—आभ्यन्तर तथा बाह्य। कषायों को कृश करना आभ्यन्तर संल्लेखना है और शरीर को कृश करना बाह्य।

—मरणसमाधि (१७६)

इक्कं पंडियमरणं, छिंदइ जाईसयाणि बहुयाणि।
तं मरणं मरियव्वं, जेण मओ सुम्मओ होइ॥

एक पण्डितमरण सैकड़ो जन्मों का नाश कर देता है। अतः इस तरह मरना चाहिये, जिससे मरण, सुमरण हो जाय।

—मरणसमाधि (२४५)

इक्कं पंडियमरणं, पडिवज्जइ सुपुरिसो असंभंतो।
खिप्पं सो मरणाणं, काहिइ अंतं तणंताणं॥

सत् पुरुष एकमात्र पण्डित-मरण का प्रतिपादन करते हैं, क्योंकि वह शीघ्र ही अनन्त मरणों का अन्त कर देता है।

—मरणसमाधि (२८०)

धीरेण वि मरियव्वं, काउरिसेण वि अवस्स मरियव्वं।
तम्हा अवस्समरणे, वरं खु धीरत्तणे मरिउं॥

क्या धीर और क्या कापुरुष, सबको ही अवश्य मरना है। जब मरण अवश्यम्भावी है, तो फिर धैर्य पूर्वक मरना ही उत्तम है।

—मरणसमाधि (३२१)

लाभंतरे जीविय वूहइत्ता, पच्चा परिण्णाय मलावधंसी॥

साधक को जब जीवन एवं देह से लाभ होता हुआ दिखाई न दे तो वह परिज्ञानपूर्वक शरीर का त्याग कर दे।

—उत्तराध्ययन (४/७)

णवि कारणं तणमओ, संथारो णवि य फासुया भूमी।
अप्पा खलु संथारो, होइ विसुद्धो मणो जस्स॥

न तो तृणमय संस्तर ही संल्लेखना-मरण का कारण है और न ही प्रासुक भूमि। जिसका मन शुद्ध है, ऐसा आत्मा ही वास्तव में संस्तारक है।

—महाप्रत्याख्यान-प्रकीर्णक (६६)

तुलिया विसेसमादाय, दयाधम्मस्स खन्तिए।
विप्पसीएज्ज मेहावी, तहा भूएण अप्पणा॥

बालमरण और पंडित मरण की परस्पर तुलना करके मेधावी साधक विशिष्ट सकाम मरण को स्वीकार करे और मरणकाल में दयाधर्म एवं क्षमा से पवित्र तथा अभिभूत आत्मा से प्रशन्न रहे।

—उत्तराध्ययन (५/३०)

तओ काले अभिप्पेए, सड्ढी तालिसमन्तिए।
विणएज्ज लोम-हरिसं भेयं देहस्स कंखए॥

जब मरण-काल आए, तो जिस श्रद्धा से प्रव्रज्या स्वीकार की थी, तदनु-सार ही भिक्षु गुरु के समीप पीड़ाजन्य लोम हर्ष को दूर करे तथा शान्तिभाव से शरीर के भेद अर्थात् पतन की प्रतीक्षा करे।

—उत्तराध्ययन (५/३१)

अह कालंमि संपत्ते, आघायाय समुस्सयं।
सकाम-मरणं मरई, तिण्हमन्नयरं मुणी॥

मृत्यु का समय आने पर मुनि भक्त-परिज्ञा, इंगिनी और प्रायोपगमन —इन तीनों में से किसी एक को स्वीकार कर समाधिपूर्वक सकाम-मरण से शरीर को छोड़ता है।

—उत्तराध्ययन (५/३२)

समाधिस्थ

समाहियस्सऽग्गिसिहा व तेयसा,
तवो य पन्ना य जसो वड्ढइ।

जो अग्निशिखा के समान प्रदीप्त तथा प्रकाशित समाधिस्थ है, उसके तप, प्रज्ञा और यश लगातार वृद्धि को प्राप्त होते हैं।

—आचारांग (२/४/१६)

सम्मान

नमिऊण जं विढप्पइ खलचलणं तिहुयणं पि किं तेण।
माणेण जं विढप्पइ तणं पि तं निव्वुइं कुणइ॥

मूर्खों के चरणों में प्रणत होकर यदि त्रिभुवन भी उपार्जित कर लिया जाय तो उससे क्या लाभ? सम्मान से यदि तृण भी उपार्जित हो तो वह सुख उत्पन्न करता है।

—वज्जालग्ग (४५/१००)

नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स णत्थि मोक्खो, णत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं॥

सम्यग्दर्शन के अभाव में ज्ञान नहीं पाया जा सकता, ज्ञान के अभाव में चारित्र के गुण प्राप्त नहीं होते और चारित्रगुण के अभाव में मोक्ष (कर्मक्षय) नहीं हो सकता। और मोक्ष के बिना निर्वाण (अनंत आनन्द) नहीं होता।

—उत्तराध्ययन (२८/३०)

निस्संकिय निक्कंखिय, निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठीअ।
उववूह थिरीकरणे, वच्छल्ल पभावणे अठ्ठ॥

सम्यग्दर्शन के ये आठ गुण या अंग हैं—निःशंकित्व, निःकांक्षित्व, निर्विचिकित्सत्व, अमूढदृष्टित्व, उपबृंहणत्व (उपगूहनत्व), स्थितिकरणत्व, वात्सल्यत्व एवं प्रभावना।

—उत्तराध्ययन (२८/३१)

दंसणसपन्नयाए णं भवमिच्छत्तछेयणं करेइ, परं न विज्झायइ। अणुत्तरेणं नाणदंसणेणं अप्पाणं संजोएमाणे सम्मं भावेमाणे विहरइ॥

दर्शन-सम्पन्नता से जीव संसार के हेतु मिथ्यात्व का छेदन करता है, उसके सम्यक्त्व का प्रकाश बुझता नहीं है। श्रेष्ठ ज्ञान-दर्शन से आत्मा को संयोजित कर उन्हें सम्यक् प्रकार से आत्मसात करता हुआ विचरण करता है।

—उत्तराध्ययन (२९/६१)

दंसण……सोवाणं पढमं मोक्खस्स।

सम्यग्दर्शन मोक्ष का प्रथम सोपान है।

—दर्शन-पाहुड (२१)

दंसणमूलो धम्मो।

'दर्शन' धर्म का मूल है।

—दर्शन-पाहुड (२)

दंसणभट्ठो भट्ठो, दंसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं।
सिज्झंति चरणरहिआ, दंसणरहिआ ण सिज्झंति॥

जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट है, वास्तव में वही भ्रष्ट है, क्योंकि सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट या पतित को निर्वाण-पद प्राप्त नहीं हो सकता। चारित्रहीन तो कदाचित् सिद्ध हो भी जाते हैं, परन्तु दर्शनहीन कभी भी सिद्ध नहीं होते।

—भक्त-परिज्ञा (६६)

दंसणमुक्को य होइ चलसवओ।

सम्यग्दर्शन से रहित व्यक्ति चलता-फिरता 'शव' है।

—भावपाहुड़ (१४३)

सम्मद्दंसणलंभो वरं खु तेलोक्कं लंभादो।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति तीन लोक के ऐश्वर्य से भी अच्छी है।

—भगवती-आराधना (७४२)

समत्तदंसी न करेइ पावं।

सम्यग्दर्शी कभी पाप नहीं करता।

—आचाराङ्ग (१/३/२)

दंसणसुद्धो सुद्धो, दंसणसुद्धो लहेइ णिव्वाणं।
दंसणविहीण पुरिसो, न लहइ तं इच्छियं लाहं॥

जो सम्यग्दर्शन से शुद्ध है, वही निर्वाण प्राप्त करता है। सम्यग्दर्शन-विहीन मानव इच्छित लाभ नहीं कर पाता है।

—मोक्षपाहुड़ (३९)

दंसइ मोक्खमग्गं।

मोक्षमार्ग का प्रदर्शक ही दर्शन है।

—बोध-पाहुड़ (१४)

दंसणायारो अट्ठविहो णिस्संकिय णिक्कंखिय,
णिव्विदिगिंछो अमूढदिट्ठी य।
उवगूहणं थिदिकरणं, वच्छल्लं पहावणा चेदि॥

दर्शनाचार के आठ भेद हैं—निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सित, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना।

—श्रमण-प्रतिक्रमण-सूत्र (६)

सम्यग्दृष्टि

सम्मद्दिट्ठी जीवो, जइवि हु पावं समायरइ किंचि।
अप्पो सि होइ बंधो, जेण न निद्धंधसं कुणइ॥

सम्यग्दृष्टि-युक्त जीव को अपने अधिकार के अनुसार कुछ पापारम्भ अवश्य करना पड़ता है, पर वह जो कुछ करता है उसमें उसके परिणाम कठोर या दया-हीन नहीं होते। इसलिए उसको कर्म का बन्ध औरों की अपेक्षा अल्प ही होता है।

—वन्दित्तु-सूत्र (३६)

जं कुणदि सम्मदिट्ठी, तं सव्वं णिज्जर णिमित्तं।

सम्यग्दृष्टि साधक जो कुछ भी करता है, वह उसके कर्मों की निर्जरा के निमित्त ही होता है।

—समयसार (१९३)

सम्मदिट्ठी जीवा, णिस्संका होंति णिब्भया तेण।

सम्यग्दृष्टि जीव निःशंक होते हैं और इसी कारण निर्भय भी होते हैं।

—समयसार (२२८)

जो दु ण करेदि कंखं, कम्मफलेसु तह सव्वधम्मेसु।
सो णिक्कंखो चेदा, सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो॥

जो सम्पूर्ण कर्मफलों में और वस्तु-धर्मों में किसी भी प्रकार की आकांक्षा नहीं रखता, उसी को निरकांक्ष सम्यग्दृष्टि समझना चाहिये।

—समयसार (२३०)

जो ण करेदि जुगुप्पं, चेदा सव्वेसिमेण धम्माणं।
सो खलु णिविदिगच्छो, सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो॥

जो समस्त धर्मों के प्रति ग्लानि नहीं करता, उसी को निर्विचिकित्सा गुण सम्पन्न सम्यग्दृष्टि समझना चाहिये।

—समयसार (२३१)

जो हवइ असम्मूढो, चेदा सद्दिट्ठी सव्वभावेसु।
सो खलु अमूढदिट्ठी, सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो॥

जो समग्र भावों के प्रति जागरूक है, विमूढ़ नहीं है, निर्भ्रान्त है, दृष्टि-सम्पन्न है, वह अमूढ़दृष्टि ही सम्यग्दृष्टि है।

—समयसार (२३२)

अप्पा अप्पम्मि रओ, सम्माइट्ठी हवेइ फुडु जीवो।

जो स्वयं, अपने आप में लीन है, वही वास्तव में सम्यग्दृष्टि है।

—भावपाहुड़ (३१)

हेयाहेयं च तहा, जो जाणइ सो हु सद्दिट्ठी।

जो हेय और उपादेय को जानता है, वही वस्तुतः सम्यग्दृष्टि है।

—सूत्रपाहुड़ (५)

सम्मदिट्ठी सया अमूढे।

जिसकी दृष्टि सम्यग् है वह कभी कर्तव्य-विमूढ़ नहीं होता।

—दशवैकालिक (१०/७)

सम्माइट्ठी कालं बोलइ वेरग्गणाणभावेण।
मिच्छाइट्ठी वांछा दुब्भावालस्सकलहेहिं॥

सम्यग्दृष्टि पुरुष समय को वैराग्य और ज्ञान से व्यतीत करते हैं, किन्तु मिथ्यादृष्टि पुरुष दुर्भाव, आलस्य और कलह से अपना समय व्यतीत करते हैं।

—रयणसार (५७)

अणोमदंसी णिसन्ने पावेहिं कम्मेहिं।

परम को देखनेवाला पुरुष पापकर्म का आदर नहीं करता।

—आचारांग (१/३/२)

दंसणवओ हि सफलाणि, हुंति तवनाणचरणाइं।

सम्यग्दृष्टि के ही तप, ज्ञान, तथा चारित्र पूर्ण सफल होते हैं।

—आचारांग-निर्युक्ति (२२१)

सम्यक्त्व

सम्मत्तमणुचरंता करंति दुक्खक्खयं धीरा।

सम्यक्त्व का आचरण करने वाले समस्त दुःखों का क्षय करते हैं।

—चारित्त पाहुड़ (२०)

जं मोणं तं सम्मं तमिह होइ मोणं ति।
निच्छयओ इयरस्स उ सम्मं सम्मत्तहेउ वि॥

परमार्थतः मौन ही सम्यक्त्व है और सम्यक्त्व ही मौन है। तत्त्वार्थ श्रद्धान् लक्षणवाला व्यवहार सम्यक्त्व इसका हेतु है।

—सावयपण्णत्ति (६१)

लब्भइ सुरसामित्तं लब्भइ पहुअत्तणं न संदेहो।
एगं नवरि न लब्भइ, दुल्लहरयणं व सम्मत्तं॥

देवों का स्वामीत्व और ऐश्वर्य-प्रभुता भी मिल सकती है, किन्तु जीव को संसार में अमूल्य रत्न तुल्य सम्यक्त्व-रत्न मिलना निःसन्देह दुर्लभ है।

—संबोधसत्तरि (२२)

रयणाण महारयणं सव्वं जोयाण उत्तमं जोयं।
रिद्धीण महारिद्धी, सम्मत्तं सव्वसिद्धि परं॥

सम्यक्त्व सब रत्नों में महारत्न है, सब योगों में उत्तम योग है, सब ऋद्धियों में महाऋद्धि है और सब सिद्धियों में श्रेष्ठ है।

—कार्तिकेयानुप्रेक्षा (३२५)

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं य।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं॥

भूतार्थनय से जाने गये जीव-अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव-संवर, निर्जरा, बन्ध-मोक्ष—ये नव तत्त्व ही सम्यक्त्व हैं ।

—समयसार (१३)

मा कासि तं पमादं सम्मत्ते सव्वदुःख णासयरे ।

सम्यक्त्व सर्व दुःखों का नाश करनेवाला है, अतः इसमें प्रमादी मत बनो ।

—भगवती-आराधना (७३५)

सम्मत्तविरहिया णं, सुट्ठु वि उग्गं तवं चरंता णं ।
ण लहंति बोहिलाहं, अवि वाससहस्सकोडीहिं ॥

सम्यक्त्व-विहीन व्यक्ति हजारों करोड़ वर्षों तक भली-भांति उग्र तप करने पर भी बोधि-लाभ प्राप्त नहीं करता ।

—दर्शनपाहुड़ (५)

सरलता

एगमविमायी मायं कट्टु आलोएज्जा ।
जाव पडिवज्जेजा अत्थि तस्स आराहणा ॥

जो प्रमादवश हुए कपटाचरण के प्रति आलोचना करके सरल हृदय हो जाता है, वह धर्म का आराधक है ।

—स्थानांग (८)

जह वालो जंपंतो, कज्जमकज्जं च उज्जुयं भणइ ।
तं तह आलोइज्जा, मायामयविप्पमुक्को उ ॥

जिस प्रकार बालक बोलता हुआ कार्य तथा अकार्य को सरलता से कह देता है, उसी प्रकार सरलता से अपने दोषों की आलोचना करनेवाला साधक माया एवं मद से मुक्त होता है ।

—महाप्रत्याख्यान-प्रकीर्णक (२२)

सोही उज्जुअभूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई ।

जो ऋजु होता है, वही शुद्ध हो सकता है और जो शुद्ध होता है, उसी में धर्म टिक सकता है।

—उत्तराध्ययन (३/१२)

भद्दएणेव होअव्वं, पावइ भद्दाणि भद्दओ।
सविसो हम्मए सप्पो, भेरुंडो तत्थ मुच्चइ॥

मनुष्य को भद्र होना चाहिये। भद्र को ही कल्याण प्राप्त होता है। विषधर सर्प कुटिल एवं भयङ्कर होने से ही मारा जाता है, निर्विष नहीं।

—उत्तराध्ययन-निर्युक्ति (३२६)

जो चिंतेइ ण वंकं, ण कुणदि वंकं ण जंपदे वंकं।
ण य गोवदि णियदोसं, अज्जव-धम्मो हवे तस्स॥

जो व्यक्ति कुटिल विचार नहीं करता, कुटिल कार्य नहीं करता, कुटिल वचन नहीं बोलता और अपने दोषों को नहीं छिपाता, उसके आर्जव धर्म होता है।

—कार्तिकेयानुप्रेक्षा (३९६)

साधु

नवणीय तुल्लहियया साहू।

साधुओं का हृदय मक्खन के समान कोमल होता है।

—व्यवहारभाष्य (७/१९५)

साहुणा सायरो इव गंभीरेण होयव्वं।

साधु सागर के समान गंभीर होता है।

—दशवैकालिक-चूर्णि (१)

साहवो कप्परुक्खा।

साधु कल्पवृक्ष है।

—नंदीसूत्र-चूर्णि (२/१६)

अद्दागसमो साहू।

साधु दर्पण के सदृश निर्मल होता है। —वृहत्कल्पभाष्य (८१२)

मेरु तिणं व सग्गो घरं गणं हत्थ छित्तं गयणयलं।
वाहलिया य समुद्दा साहसवंताण पुरिसाणं॥

साहसी पुरुषों के लिए मेरु तृण के समान, स्वर्ग घर के आँगन के समान, आकाश हाथ से छुए हुए के समान और समुद्र क्षुद्र नदीनालो के समान हो जाता है। —वज्जालग्ग (९/१५)

साहसमवलंवंतो पावइ हियइच्छियं न संदेहो।
जेणुत्तमंगमेत्तेण राहुणा कवलिओ चंदो॥

साहस का अवलम्बन करता हुआ मनुष्य मनोवांछित फल प्राप्त करता है—इसमें सन्देह नहीं। राहु के केवल मस्तक ही था (शरीर, हाथ, पाँव आदि नहीं थे), फिर भी चन्द्रमा को निगल गया।

—वज्जालग्ग (१०/१

तं किं पि साहसं साहसेण साहंति साहससहावा
जं भाविऊण दिव्वो परंमुहो धुणइ नियसीसं॥

साहस पूर्ण स्वभाववाले पुरुष-अपने साहस से कुछ ऐसा साहसमय कार्य सिद्ध कर लेते हैं कि जिसे देखकर प्रतिकूल भाग्य (पराजय के कारण) अपना सिर धुनने लगता है। —वज्जालग्ग (१०/२)

जावय ण देन्ति हिययं पुरिसा कज्जाइं ताव विहणंति।
अह दिण्णं च्चिय हिययं गुरुं पि कज्जं परिसमत्तं॥

जब तक साहसी पुरुष कार्यों की तरफ अपना हृदय/ध्यान नहीं देते हैं तभी तक कार्य पूरे नहीं होते हैं। किन्तु उनके द्वारा कार्यों के प्रति हृदय लगाने से ही वड़े कार्य भी पूर्ण कर लिये जाते है। —कुवलयमाला

सुख

सव्व गंथविमुक्को, सीईभूओ पसंतचित्तो अ।
जं पावइ मुत्तिसुहं, न चक्कवट्टी वि तं लहइ॥

सम्पूर्ण ग्रंथ-परिग्रह से मुक्त, शीतीभूत प्रसन्नचित्त साधक जैसा मुक्तिसुख पाता है, वैसा सुख चक्रवर्ती को भी नहीं मिलता।

—भक्त-परिज्ञा (१३४)

सेवक

भूमिसयणं जरचीरबंधणं बंभचेरयं भिक्खा।
मुणिचरियं दुग्गयसेवयाण धम्मो परं नत्थि॥

दरिद्र सेवक भूमि पर शयन करता है, जीर्ण चीर बांधता है, ब्रह्मचर्य का पालन करता है और भिक्षा मांगता है। यद्यपि इस प्रकार वह मुनियों का आचरण करता है, परन्तु मुनियो के समान उसे धर्म नही प्राप्त होता है।

—वज्जालग्ग (१६/२)

जइ नाम कह वि सोक्खं होइ तुलग्गेण सेवयजणस्स।
तं खवणयसग्गारोहणं व विग्गोवयसएहिं॥

यदि संयोग से सेवक-जनों को किसी प्रकार सुख भी मिलता है, तो वह क्षपणक (साधु) के स्वर्गारोहण के समान अनेक कष्ट झेलने पर।

— वज्जालग्ग (१६/३)

देहि त्ति कह नु भण्णइ सुपुरिसववहारबाहिरं वयणं।
सेविज्जइ विणएणं एसच्चिय पत्थणा लोए॥

'दे दो' यह बात किसी से क्यो कही जाय! यह तो सत्पुरुषो के व्यवहार से बाहर है। मैं विनयपूर्वक सेवा करता हूँ—संसार में यही मेरी प्रार्थना है अर्थात् सेवा करना ही मेरी याचना है, मुँह से कुछ मॉगना व्यर्थ है।

—वज्जालग्ग (१६/८)

स्पर्श

महुं मुहुं मोह-गुणे जयन्तं, अणग-रूवा समणं चरंतं।
फासा फुसन्ती असमंजसं च, न तेसु भिक्खु मणसा पउस्से॥

बार-बार मोह-गुणों पर विजय पाने को यत्नशील संयम में विचरण करते समय श्रमण को अनेक प्रकार के प्रतिकूल स्पर्श अर्थात् शब्दादि विषय परेशान करते हैं, किन्तु भिक्षु उन पर मन से भी द्वेष न करे।

—उत्तराध्ययन (४/११)

मंदा य फासा बहु-लोहणिज्जा।

अनुकूल स्पर्श बहुत लुभावने होते हैं। —उत्तराध्ययन (४/१२)

स्वाध्याय

नवि अत्थि न विअ होही, सज्झाय समं तवो कम्मं।

स्वाध्याय के समान दूसरा तप न अतीत में हुआ, न वर्तमान में कहीं है और न अनागत में कभी होगा।

—बृहत्कल्पभाष्य (११६९)

पूयादिसु णिरवेक्खो, जिणसत्थं जो पढेइ भत्तीए।
कम्ममलसोहणट्ठं, सुयलाहो सहयरो तस्स॥

पूजा-प्रतिष्ठा आदि की चाह से निरपेक्ष, जो योगी बहुमान एवं भक्ति भाव से अथवा कर्ममल का शोधन करने की भावना से शास्त्रों का पठन मनन आदि करता है, उसके लिए श्रुत या ज्ञान का लाभ अत्यन्त सुलभ ह जाता है।

--कार्तिकेयानुप्रेक्षा (४६२

सज्झाएणं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ।

स्वाध्याय के द्वारा आत्मा अपने ज्ञान पर आवृत्त आवरणों को हटाता ज्ञानावरणीय कर्म-बन्धन का क्षय करता है।

—उत्तराध्ययन (२९/१८

वयणमयं पडिकमणं, वयणमयं पच्चक्खाण णियमंच।
आलोयण वयणमयं, तं सव्वं जाण सज्झाउ॥

वचनमय प्रतिक्रमण, वचनमय प्रत्याख्यान, वचनमय नियम और वचनम आलोचना—ये सब स्वाध्याय ही हैं। —नियमसार (४२७

सज्झाएवा निउत्तेण, सव्वदुक्खविमोक्खणे।

नित्य स्वाध्याय करते रहने से सारे दुःखों से विमुक्ति मिलती है।

—उत्तराध्ययन (२६/१०)

सज्झायं च तओ कुज्जा, सव्वभाव विभावणं।

स्वाध्याय सब भावों का प्रकाशक है।

—उत्तराध्ययन (२६/३७)

स्वाभिमानी

झीणविहवो वि सुयणो सेवइ रन्नं न पत्थए अन्नं।
मरणे वि अइमहग्घं न विक्किणइ माणमाणिक्कं॥

स्वाभिमानी सुजन धनहीन होने पर वन में चला जाता है किन्तु अन्य से याचना नहीं करता। वह मर जाने पर भी स्वाभिमान-रूपी अमूल्य माणिक्य को नहीं बेचता।

—वज्जालग्ग (६/४)

ते धन्ना ताण नमो ते गरुया माणिणो थिरारंभा।
जे गरुयवसणपडिपेल्लिया वि अन्नं न पत्थंति॥

जो दारुण दुःख से पीड़ित होने पर भी अन्य से याचना नहीं करते, वे उद्योग में स्थिर रहने वाले, गौरवशाली और स्वाभिमानी धन्य हैं, उन्हें प्रणाम है।

—वज्जालग्ग (६/११)

हृदय-संवरण

सातम्मि हियय दुलहम्मि माणुसे अलियसंगमासाए।
हरिण व्व मूढ मयतण्हियाइ दूरं हरिज्जिहिसि॥

अरे मूढ़ मन! मानुष सुख दुर्लभ हो जाने पर तू उसी प्रकार मिथ्या संगमाशा के द्वारा दूर तक भरमाया जाएगा, जैसे हरिण मृगमरीचिका के द्वारा दौड़ाया जाता है।

—वज्जालग्ग (४७/२)

ग्रन्थानुक्रम

गोमट्टसार-कर्मकाण्ड (रचयिता—आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती)
गोम्मटसार-जीवकाण्ड (रचयिता आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती)
गौतमकुलकम्
चारित्र-पाहुड़ (रचयिता—आचार्य कुन्दकुन्द)
चैत्यवन्दनभाष्य
जयधवला
जीवण-ववहारो
ज्ञाताधर्मकथा (छट्ठा अंग आगम)
ज्ञानपञ्चमी-कथा
तत्त्वसार
तन्दुलवैचारिक (प्रकीर्णक-ग्रन्थ)
तपःकुलकम्
तिलोय-पण्णति (रचयिता—आचार्य यतिवृषभ)
त्रिलोक-सार (आचार्य नेमिचन्द्र)
थोस्सामि दण्डक
दर्शन-पाहुड़ (रचयिता—आचार्य कुन्दकुन्द)
दर्शनशुद्धि-तत्त्व
दशवैकालिक (रचयिता शय्यम्भवसूरि)
दशवैकालिक-चूर्णि
दशवैकालिक-चूलिका
दशवैकालिक-निर्युक्ति
दशवैकालिक-निर्युक्ति-भाष्य
दशाश्रुत-स्कन्ध (रचयिता—भद्रबाहु प्रथम)
दशाश्रुतस्कन्ध-चूर्णि
दानकुलक
द्रव्यसंग्रह (रचनाकार—आचार्य नेमिचन्द्र)
धर्मरत्न-प्रकरण
धर्मसंग्रह
धवला
ध्यानशतक
नन्दिसूत्र (रचयिता—देववाचक)
नंदीसूत्र-चूर्णि
नयचक्र (रचयिता—आचार्य देवसेन)
नयचक्रवृत्ति
नवतत्त्वप्रकरण (संग्रह-ग्रन्थ)
निशीथ-चूर्णि-भाष्य
नियमसार (रचयिता—आचार्य कुन्दकुन्द)
निशीथ-भाष्य
निशीथ सूत्र
पंच संग्रह (संग्रह-ग्रन्थ)
पंचास्तिकाय (रचनाकार आचार्य कुन्दकुन्द)
पउमचरियं (रचयिता—आचार्य विमलसूरि)
परमात्मप्रकाश (रचयिता—योगेन्दुदेव)
पाइअकहासंगहो
पासणाहचरियं
पिण्डनिर्युक्ति
पुण्यकुलक
प्रवचनसार (रचयिता—आचार्य कुन्दकुन्द)
प्रवचनसारोद्धार (रचयिता—नेमिचन्द्र सूरि)
प्रश्नव्याकरण (संग्रहकर्ता—देवर्द्धिगणि)
प्राकृत-व्याकरण (रचयिता—आचार्य हेमचन्द्र)
बारह अणुवेक्खा (रचयिता—आचार्य कुन्दकुन्द)

बृहत्कल्पभाष्य
बृहत्कल्पसूत्र
बोध-पाहुड़ (रचयिता—आचार्य कुन्दकुन्द)
भक्त-परिज्ञा
भक्तपरिज्ञाप्रकीर्णक
भगवती-आराधना (रचयिता—आचार्य शिवकोटि)
भगवती सूत्र (मूल आगम ग्रन्थ)
भावकुलक
भाव पाहुड़
मरणसमाधि (प्रकीर्णक)
महाप्रत्याख्यान (प्रकीर्णक)
मूलाचार (रचयिता—आचार्य वट्टकेर)
मोक्षपाहुड़ (उद्धृत ग्रन्थ)
योगसार-योगेन्दुदेव
रयणसार (रचयिता—आचार्य कुन्द-कुन्द)
राजप्रश्नीय
रायपएसणीयसुत्त (संग्रहकर्ता—देवर्द्धिगणि)
लघुश्रुतभक्ति
लिंगपाहुड़
लीलावइकहा
वज्जालग्ग (संग्रहग्रन्थ, कर्ता जलवल्लभ)
वन्दित्तु सूत्र
वसुनन्दि-श्रावकाचार (रचयिता—आचार्य वसुनन्दि)
विकारनिरोध-कुलक
विशेषावश्यक-भाष्य (रचयिता—जिनभद्रगणि)
व्यवहारभाष्य-पीठिका
व्यवहार सूत्र
व्याख्या-प्रज्ञप्ति (संग्रहकर्ता—देवर्द्धिगणि)
शीलकुलक
शील-पाहुड़
श्रमणप्रतिक्रमण सूत्र
श्रावक-धर्म-प्रज्ञप्ति
षट्खण्डागम (रचयिता—आचार्य भूतबलि)
संबोधसत्तरि (रचयिता—रत्नशेखरसूरि)
संविग्नसाधुयोग्यनियमकुलक
सन्मति-तर्क (आचार्य सिद्धसेन दिवाकर)
सन्मति-प्रकरण
समयसार (रचयिता—आचार्य कुन्द-कुन्द)
समवायांग (चतुर्थ आगम)
सर्वार्थसिद्धि
सार्थपोषहसज्झाय सूत्र
साहसी अगडदत्तो
सूत्रकृतांग (द्वितीय आगम ग्रन्थ)
सूत्रकृताङ्ग-निर्युक्ति
सूत्र-पाहुड़ (रचयिता—आचार्य कुन्दकुन्द)
स्थानांग (तृतीय आगम ग्रन्थ)
स्याद्वादमञ्जरी

गोमट्टसार-कर्मकाण्ड (रचयिता—आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती)
गोम्मटसार-जीवकाण्ड (रचयिता आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती)
गौतमकुलकम्
चारित्र-पाहुड़ (रचयिता—आचार्य कुन्दकुन्द)
चैत्यवन्दनभाष्य
जयधवला
जीवण-ववहारो
ज्ञाताधर्मकथा (छट्ठा अंग आगम)
ज्ञानपञ्चमी-कथा
तत्त्वसार
तन्दुलवैचारिक (प्रकीर्णक-ग्रन्थ)
तपःकुलकम्
तिलोय-पण्णति (रचयिता—आचार्य यतिवृषभ)
त्रिलोक-सार (आचार्य नेमिचन्द्र)
थोस्सामि दण्डक
दर्शन-पाहुड़ (रचयिता—आचार्य कुन्दकुन्द)
दर्शनशुद्धि-तत्त्व
दशवैकालिक (रचयिता शय्यम्भवसूरि)
दशवैकालिक-चूर्णि
दशवैकालिक-चूलिका
दशवैकालिक-निर्युक्ति
दशवैकालिक-निर्युक्ति-भाष्य
दशाश्रुत-स्कन्ध (रचयिता—भद्रबाहु प्रथम)
दशाश्रुतस्कन्ध-चूर्णि
दानकुलक
द्रव्यसंग्रह (रचनाकार—आचार्य नेमिचन्द्र)

धर्मरत्न-प्रकरण
धर्मसंग्रह
धवला
ध्यानशतक
नन्दिसूत्र (रचयिता—देववा
नंदीसूत्र-चूर्णि
नयचक्र (रचयिता—आचार्य
नयचक्रवृत्ति
नवतत्त्वप्रकरण (संग्रह-ग्रन्थ
निशीथ-चूर्णि-भाष्य
नियमसार (रचयिता—आ
निशीथ-भाष्य
निशीथ सूत्र
पंच संग्रह (संग्रह-ग्रन्थ)
पंचास्तिकाय (रचनाकार
पउमचरियं (रचयिता—
परमात्मप्रकाश (रचयिता-
पाइअकहासंगहो
पासणाहचरियं
पिण्डनिर्युक्ति
पुण्यकुलक
प्रवचनसार (रचयिता-
प्रवचनसारोद्धार (रचं
प्रश्नव्याकरण (संग्रह
प्राकृत-व्याकरण (र
बारह अणुवेक्खा (

प्राकृत-सूक्ति-कोश : मुनि चन्द्रप्रभसागर/पृष्ठ : २९६ + १६ = ३१२